CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीमद्भगवद्गीता

उपासनाज्ञानकाण्डात्मकम्

षट्कद्वयम्

व्याख्याकार

आचार्य मधुसूदनशास्त्री

१९७७

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वर्ग संख्या.................. प्राप्ति-संख्या....................

ग्रन्थ-कार्ड

श्री गणेश वर्णी दि० जैन (शोध) संस्थान

ग्रन्थागार

नरिया, वाराणसी-५

ग्रन्थ नाम श्रीमद् भगवद् गीत

लेखक आचार्य मधुसूदन शास्त्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुस्तकालय

गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान

के लिए

सप्रेम भेंट.

चन्द्रोदय मिश्र

१०.८.८३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीमद्भगवद्गीतासु

षट्कद्वयम्

उपासनाज्ञानकाण्डात्मकम्

व्याख्याकार:

आचार्य श्रीमधुसूदन शास्त्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकाशक :

अरुणोदय पब्लिकेशन

२/२२५ ए भदैनी वाराणसी

फोन— ५३३६२

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य : १५.००

मुद्रक :

मधुसूदन प्रेस

२/२२५ भदैनी, वाराणसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

3822

कुछ नवीन वीणा वाणी प्रस्तुत करते हैं

आनन्दकन्द सच्चिदानन्द करुणावरुणालय भक्त वत्सल भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र की असीम अनुकम्पा से अष्टादश अध्यायों वाली श्रीमद्भगवद्गीता की दो टीकाएं संस्कृत में मधुसूदनी एवं हिन्दी में बालक्रीड़ा समाप्त हो गई। इनमें संस्कृत टीका मधुसूदनी तो केवल प्रथम षट्क में ही लिखी जा सकी अन्य दो षट्कों नही लिखी जा सकी। विधि का विधान ही कुछ ऐसा हुआ।

मेरा ध्येय था समीक्षा लिखना उसको संस्कृत पें साधारण जनता नही समझ सकती थी। पण्डित लोग बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः की कोटि में आटीकन करते है अतः हिन्दी ही का अनुसरण किया। इसमें भी अभ्यास वश तत् तत् जगहों में जहां तहां संस्कृत में भी लेखन हो गया है उसका भी हिन्दी में अनुवाद कर दिया है।

संस्कृत में एवं हिन्दी में साधारण तो बहुत टीकाएं हैं। प्रौढ टीकाएं भी हैं। इस लिए भी मेरा ध्येय समीक्षा ही के लिखने में रहा है मुझे जहां तक मालूम है गीता की समीक्षा किसी ने भी नही लिखी है। अतः मैं समझता हूं कि यह सर्वप्रथम मेरा प्रयास है। मैं ऐसा क्यों समझता हूं इसका हेतु है कि मुझे जो टीकाएं मिली हैं उनमें किसी में भी समीक्षा नही है। संभव है होगी अन्य भाषाओं में भी समीक्षा क्योंकि (विस्तीर्णा पृथ्वी जनश्च विविधः किं किं न सम्भाव्यते, पृथ्वी विस्तीर्ण है विशाल है चारों तरफ फैली हुई है और जन भी विविध प्रकार के हैं क्या क्या नही हो सकता है किस किसकी सम्भावना नही की जा सकती है। किन्तु मेरे देखने सुनने में नही आई है। यह भी बात है और एक बात और भी है कि हिन्दी और संस्कृत से इतर भाषायें मेरी समझ से बाहर की है उनमें रहने पर भी मैं उनका उपयोग एवं प्रयोग नहीं कर सकता हूं। अस्तु। समीक्षा के एक दो उदाहरण देता हूं। जैसे—

न च एतद् विद्मः कतरन्नो गरीयः।
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस पद्य का संस्कृतटीकाकारों ने (शांकरभाष्य तो इस पर नही है) सभी ने यह अर्थ किया है कि हम लोग यह नही जानते हैं कि हम लोगों को भैक्ष एवं युद्ध में कौन सा श्रेष्ठ है। जो बिलकुल गड़बड़ है। यदि यही अर्थ ठीक होता तो हम उनको जीतेंगे या वे हमको जीतेंगे, इसका समन्वय कैसे होगा। यहां विषय यह है कि अर्जुन सगे सम्बन्धियों की युद्ध में मारे जाने की परिस्थिति को समझ कर कृपाकुल होकर रोने लगा अतएव विषाद में डूब गया। तब भगवान् ने कहा कि हे अर्जुन ! तुच्छ आदमियों की सी यह कमजोरी तुह्मारे में कहां से आई यह कमजोरी तो अकीर्ति कर है और अस्वर्ग्य है अतः यह तुह्मारे लिए युक्ति संगत नही है। क्योंकि तुम पार्थ हो जिसने ब्राह्मण के बालक की रक्षा के हेतु राक्षस के खाद्य के रूप में अपने पुत्र को भेजा था उस प्रवल हृदया पृथा के तुम प्रवल हृदय पुत्र हो। अतः हृदय की दुर्बलता ठीक नही है यह तो क्षुद्रता है। इस पर अर्जुन कहता है कि हे मधुसूदन ! आप ही की बात सही कि (वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः) ब्राह्मण तींनों वर्णोंका गुरु है। इसी बुद्धिसे माताजीने मुझे ब्राह्मणकी रक्षा करनेके लिए मुझे खाद्य बनाकर भेजा था। यहां पर भी तो द्रोणाचार्य ब्राह्मण हैं और धनुर्विद्याके गुरु भी है। इनके साथमें भीष्मपितामह भी गुरु है इनके साथ कैसे युद्ध करूं प्रत्युत इनको न मारकर भिक्षा मांगना ही श्रेयस्कर है। और आपने कहा कि अकीर्ति कर और अस्वर्ग्य यह मेरा आचरण है तो हे अरिसूदन ! यह भी तो निश्चय नही है कि हम जीतेंगे ही वे भी तो हमको जीत सकते हैं। क्योंकि युद्ध में जय पराजय किसी का भी निश्चित नही है। अतः हम नही जान पाते हैं कि हम लोगों में कौन श्रेष्ठ है। इस तरह कतरो नो गरीयान् यही पाठ यहां उचित है क्योंकि यदि भैक्ष और युद्ध में कौन सा श्रेष्ठ है यही अर्थ पूर्व वाक्य का हो तो उत्तर वाक्य का हम जीतेंगे या वे जीतेंगे इसके कहने का कौन प्रसंग है। अतः यहां उत्तर वाक्य के अनुसार "यदि हम जीतेंगे तो हम श्रेष्ठ हुए और यदि वे जीतेंगे तो वे श्रेष्ठ हुए" क्योंकि श्रेष्ठता जय पर निर्भर है अतः जीतने का निश्चय नही होने पर हम यह नही जान पाते हैं कि हम लोगों में कौन श्रेष्ठ है वस्तुतः यही अर्थ समन्वित होता है भैक्ष और युद्ध की श्रेष्ठता के जानने का कोई अवसर नही है इसलिए हमने संस्कृतटीकाकारों की व्याख्या गड़बड़ है ऐसा कहा। उन लोगों ने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कतरत् और गरीयः इन पदों की नपुंस्वकता को समन्वित करने के लिए भैक्ष और युद्ध अर्थ करने का व्यर्थ प्रयास किया जो वे मौके का है।

यही हाल हिन्दी टीकाकारों का भी है। हाँ गीता रहस्यकार तिलक जी का कुछ ध्यान गया परन्तु अन्त में वे भी गड़बड़ा गये। आप लिखते हैं कि हम जय प्राप्त करें या हमें वे लोग जीत लें" इन दोनों बातों में श्रेयस्कर कौन है यह भी समझ नही पड़ता। यहां गड़बड़ यह है कि सभी अपना जय चाहते हैं अतः हम जय प्राप्त करें यही श्रेयस्कर है वे हमें जीत लें यह श्रेयस्कर नही है ऐसा समझना ही उचित है प्रसङ्ग प्राप्त भी है। यह कौन चाहेगा कि शत्रु हमें जीत लें कोई भी नही चाहेगा सभी साधारण भी मनुष्य यही चाहेगा कि हमारा विजय हो हम जीतें। अतः क्या श्रेयस्कर नही है यह तो स्पष्ट ही है इसमें समझ नही पड़ता है यह कहना बहुत ही गड़बड़ है।

यह एक उदाहरण है दूसरा उदाहरण है कि—सांख्ययोगौ पृथग् बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः। सांख्य और योग पृथक् पृथक् हैं ऐसा बालक कहते हैं किन्तु पण्डित ऐसा नही कहते हैं। अतः

(एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति) जो सांख्य और योग को एक देखता है पृथक् पृथक् नही देखता है वह देखता है अर्थात् जो पृथक् पृथक् देखता है वह नही देखता है। यहां यह कहना है जैसे कि जीव और ईश्वर के एक होने पर भी ईश्वर में जीव का और जीव में ईश्वर का अन्तर्भाव नही होता हैं अतः दोनों पृथक् पृथक् हैं उसी तरह सांख्य और योग के एक होने पर भी सांख्य में योग का और योग में सांख्य का अन्तर्भाव नही हो सकता है अतः दोनों पृथक् पृथक् हैं। इसीलिए भगवान् ने कहा कि (लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ) हे अनघ अर्जुन ! मैंने पहले दो प्रकार की निष्ठायें बतलाई है एक ज्ञानियों के दूसरी कर्मियों के लिए। इसी तरह शांकरभाष्य में भी कहा है कि (द्वाविमावथ पन्थानौ) ये दो मार्ग है (इमौ द्वावेव पन्थानौ इमे द्वे निष्ठे) ये दो ही मार्ग हैं ये दो निष्ठाये हैं यह १३ वें अध्याय के १२ वें श्लोक में है। इसी तरह गीता के शांकरभाष्य के उपोद्घात में कहा है कि (स भगवान् मरीच्यादीन् प्रजापतीन् वेदोक्तं प्रवृत्तिलक्षणं ध ॅ ग्राहयामास। ततोन्यान् सनकादीन् निवृत्तिलक्षणं धर्मं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ग्राहयामास। (अतः) द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च) उस भगवान् ने मरीचि वगैरह प्रजापतियों को वेदोक्त प्रवृत्तिलक्षण धर्म का उपदेश दिया और उन से भिन्न सनकादिकों को निवृत्ति लक्षण धर्म का उपदेश दिया। अतः वेद में प्रवृत्तिरूप और निवृत्तिरूप दो प्रकार के धर्मो को कहा है। इसलिए "सांख्ययोगौ" इस पद्य का टीकाकारों का यह अर्थ लिखना कि सांख्य और योग ये दो पृथक् पृथक् हैं ऐसा बालक कहते हैं पण्ड़ित नही कहते वह गलत है। इसका ठीक अर्थ यह है कि सांख्य और योग ये दो पृथक् पृथक् है ऐसा क्या बालक ही कहते हैं पण्डित नही अपितु पण्डित भी कहते हैं। यहा नञ् में प्रश्न काकु हैं। अतः दोनों पृथक् पृथक् हैं। इसी अर्थ के अनुसार "एकं सांख्यश्च योगश्च' का "एके मुख्यान्यकेवलाः" इस अमरकोष के आधार पर सांख्य एक है माने अपनी जगह में मुख्य है मोक्ष के वास्ते ज्ञानियों के लिए प्रधान उपाय है। और योग एक है माने अपनी जगह में मुख्य है चित्तशुद्धि के वास्ते कर्मियों के लिए उपयोगी है। अतः सांख्य एक है माने अन्य है तथा केवल है स्वतन्त्र है। योग एक है माने अन्य है तथा केवल है स्वतन्त्र है। अतः सांख्य ओर योग एक है माने अभिन्न हैं ऐसा अर्थ इस पद्य का करना नितान्त अशुद्ध है। क्योंकि एक शब्द का अभिन्न अर्थ किसी भी कोष में नही मिलता है।

स्वयं गीताकार ने हमारे किये हुए अर्थ का समर्थन किया है १३ वें अध्याय के २४ वें श्लोक में (अन्ये सांख्येन योगेन, कर्मयोगेन चापरे) अन्य लोग सांख्य योग से अपर लोग कर्मयोग से ऐसा कहकर।

एक अवश्यक समीक्षा और भी है जैसे मधुसूदन सरस्वती जी ने "अशोच्यानन्व शोचस्त्वं" को उत्थानिका में लिखा है कि अर्जुन की क्षत्रिय होने के कारण अपने क्षत्रियोचित धर्म युद्ध में स्वाभाविकी प्रवृत्ति है। क्योंकि उसने युद्ध में विजय की प्राप्ति के लिए निर्जन जंगल में विना किसी सहायक के अकले रहकर भगवान् रुद्र की आराधना की और किरात का वेष धारण करके भगवान् के द्वारा परीक्षा लेने के लिए किये गये युद्ध में ताल ठोकर सामना किया और अपनी युद्ध प्रक्रिया से भगवान् को भी चकित एवं स्तम्भित किया। इस तरह उसकी युद्ध करने में स्वाभाविकप्रवृत्ति है। अतएव वह वड़े भारी संरभ के साथ तैयारी करके युद्ध में आ गया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इतना ही नही दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा होकर शस्त्रों के प्रयोग करनेकी प्रवृत्ति के लिए धनुष उठा भी लिया; तब यह कहना कि "हे गोविन्द ! मैं युद्ध नही करूंगा" बहुत ही अनुचित है विषम है विषसे मान बराबरी करने लायक है। हाँ युद्ध के लिए उपक्रम करने के पहले घर में रहने के समय में ही युद्ध न करने की बात कहना तो अनुचित एवं विषसदृश नही होता किन्तु यह तो ऐन मौके पर कहना है अतः इसका कारण है अर्जुन का दो प्रकार का मोह और शोक।

फिर उसके बाद आपने लिखा कि उनमें एक मोह सर्व प्राणि साधारण है जिसका स्वरूप है स्थूल पांच भौतिक शरीर सूक्ष्म सप्तदश अवयवों वाला लिंग शरीर एवं अविद्यारूप कारण शरीर इन तीनों का विवेक नही होने से नितान्त मिथ्या एक दम झूठे संसार को सत्य समझना तथा असङ्गो ह्ययं पुरुषः इति श्रुति के अनुसार संसार के सभी धर्मों के संसर्ग से शून्य, परप्रकाशानपेक्ष स्वप्रकाश, सत् चित् एवं आनन्द स्वरूप परमात्मा में संसार का तथा उसके धर्मों का आरोप करना ; ऐसा समझना और ऐसा करना प्राणियों के लिए साधारण है अतः अर्जुन का भी ऐसा समझना और आरोप करना स्वाभाविक है। क्योंकि सब प्राणियों में वह भी एक प्राणी है।

दूसरा मोह असाधारण है जो केवल अर्जुन में ही है। क्योंकि प्रकृत में युद्ध में प्रवृत्त अर्जुन ही अपने क्षत्रियोचित धर्म प्राप्त युद्ध को हिंसादि की बहुलता से कृपा के आवेश के कारण और पिता भ्राता आदि अभिभावकों के अभाव में स्त्रियों के व्यभिचारिणी होने एवं उनसे दूषित सन्तानों के होने से कुलधर्मों के विनाश की शंका से शोक के कारण अधर्म समझ रहा है।

इस पर हमारा निवेदन है कि आपका यह सब लिखना गड़बड़ है। पूज्य सरस्वती जी महाराज प्रकृत में जैसे अपने क्षत्रियोंचित धर्म को अधर्म अर्जुन ही समझता है उसी प्रकार युद्ध में मर जानेवाले अभिभावकों के अभाव में स्त्रियों के दूषित हो जाने और उनसे दूषित सन्तान के उत्पन्न हो जाने से सनातन कुलधर्मों के नाश रूप मिथ्या संसार के धर्मों को सत्य समझने वाला और उनका आत्मा में आरोप करने वाला भी तो अर्जुन ही है दूसरा कोई नही है तब एक तो सर्वप्राणि साधारण है दूसरा असाधारण है इसका विनिगमक कौन। प्रकृत में दोनों बातो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को समझने वाला अर्जुन ही है अन्य कोई नही है। अतः यदि असाधारण है तो दोनों और यदि साधारण हैं तो दोनों। क्योंकि युद्ध को अधर्म समझ कर अर्जुन जैसे विरत हुआ था उसी तरह उसको अधर्म समझ कर उससे विरत होने वाला सम्राट् अशोक भी तो था। अतः जैसे उसे प्रथम मोह है वैसे ही द्वितीय मोह है दोनों की परिस्थिति बराबर है।

वस्तुतस्तु विमर्श करने पर प्रतीत होता है कि अर्जुन का स्व भाव यानी अर्जुन की अपनी भावना विमर्शशक्ति कार्पण्य दोष से उपहत है। इसका आशय यह है कि अर्जुन हृदय का इतना दुर्बल हो गया है कि जिससे वह किसी भी तरह की क्षति को सहन करने में कृपण है असमर्थ है। अतः विमर्श नही कर सकने रूप असमर्थताख्य दोष से अर्जुन की निजी भावना नष्ट हो गई है जिससे क्या धर्म है किसके करने से अभ्युदय और निः श्रेयस की प्राप्ति होगी इसके विषय में उसका चित्त विमूढ हो गया है कर्त्तव्य का निश्चय नही कर सकने से पागल हो गया है।

इस पर कह सकते हैं कि तुम दोनों सेनाओं के मध्य में युद्ध करने के लिए शस्त्र प्रहार करने की प्रवृत्ति से धनुष को उठाये हुए हो तब क्या कहते हो कि मेरा चित्त धर्म के विषय में विमूढ हो गया है अरे भाई युद्ध करो युद्ध करना तुम क्षत्रियो का धर्म है। इस पर अर्जुन कहता है कि हे भगवन् आपका यह कथन आपाततः प्रकृत में ठीक है किन्तु हम लोग युद्ध करेगे युद्ध में हम लोग इनको मारेंगे या ये लोग हम लोगो को मारेंगे जिससे स्त्रियाँ विधवा हो जायंगी असहाय हो जायंगी सहायक अभिभावकों के अभाव में व्यभिचारादि दोष से दुष्ट हो जायंगी उससे फिर दूषित सन्तान पैदा होंगी। कुलधर्म सब नष्ट हो जायेंगे ऐसी अवस्था में युद्ध करना ठीक होगा क्या। इस पर कहा जाता है कि यदि ऐसी स्थिति समझते हो तब युद्ध के लिए इतना संरम्भ तुमने क्यों किया। इस पर अर्जुन ने कहा यही तो मुख्य प्रश्न है विचार शक्ति के अभाव में यह निर्णय करने में विमूढ हो गया हूँ कि क्या युद्ध करके इनको मारूं यदि मारूंगा तो वही दोष होगा अतः यह शोक मुझे सता रहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस पर भगवान् पूछते हैं कि हे अर्जुन ! तुम जो यह कहते हो कि मैं उनको मारूंगा मैं उनको प्राणों से वियुक्त कर दूंगा या मैं उनसे मारा जाऊंगा मैं इनके द्वारा प्राणों से वियुक्त कर दिया जाऊंगा। इस कथन में जो "मैं" शब्द का प्रयोग करते हो उससे किसको कहते हो। क्या देहावच्छिन्न आत्मा को या देह को।

यदि आत्मा को कहते हो तब वह तो तीनों कालों में सत् है वर्त्तमान है अतः अज है पैदा नही होता है। जब पैदा नही होता है तब वह अजर है जीर्ण नही होता है अमर है मरता नही है किन्तु जैसे शरीर में कौमार यौवन एवं जरा अवस्था आती है या पुराने वस्त्रों को छोड़कर नवीन वस्त्रों को धारण किया जाता है उसी तरह यह आत्मा दूसरे दूसरे नये नये देहों को धारण कर लेता है इसका कुछ भी किसी भी तरह का विनाश नही होता है यह तो अव्यय है अविनाशी है अतः इसके विषय में विमूढ होना शोक से आकुल होना तुह्मारे लिए उचित नही हैं वल्कि व्यर्थ है। उसके करने का कोई फल नही है सिवाय मूर्खता के। मोहान्ध होकर शोक करके तुह्मारे जैसे रण बाँकुरे क्षत्रिय का युद्ध से विमुख होना ही मरना है विनाश है अतः याद रखो यह आत्मा अवध्य है और शरीर का विनाश अपरिहार्य हैं त्रिकाल में विश्व में किसी के रोके रुकने वाला नही है अतः किसी भी प्रकार का शोक मत करो युद्ध करो।

इस तरह जब शुद्ध सत्य एवं निर्विवाद समन्वय हो जाता हैं तब मोह दो तरह का है एक सर्वप्राणिसाधारण है दूसरा केवल अर्जुन से सम्बद्ध असाधारण है जिनका निराकरण करना जरूरी है इत्यादि कल्पना करना और समन्वय करना निर्हैतुक है।

इस समीक्षा से मधुसूदनजी सरस्वती महाराज के अक्षरों को अपना बनाकर गीता मन्दाकिनीकारने गीता ग्रन्थि विमोचन प्रकरण में "व्यष्टि से समष्टि प्रथम" शीर्षक देकर "धर्मंब्रह्मणी वेदैकवेद्ये" के अनुसार प्रथमोपात्त धर्म का निरूण करके फिर व्रह्मका निरूपण करना चाहिए किन्तु गीतोपनिषद् में इसके व्यतिक्रम करने का क्या अभिप्राय है जो लिखा उसका भी उत्तर हो गया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फिर भी सुनिये और समझिये कि यह युद्ध स्थल हैं यहां अर्जुन के युद्ध से विमुख होने के कारणों को हटाना है अतः इसमें यथाप्राप्त क्रम दिया है व्यतिक्रम करने की कोई स्थिति नही है। यह पूर्व मोमांसा एवं उत्तर मीमासा ग्रन्थ नहीं है जो पहले धर्म का और पीछे ब्रह्मका निरूपण किया जाता। वहां पूर्व पश्चाद्भाव का विचार करना अनावश्यक है। इस प्रसङ्ग को सजाकर जो आपने लिखा वह शिष्य बुद्धि वैशद्यार्थं लिखा उसमें लेखन कला उत्तम है श्रेष्ठ है अतः आपको भूरि भूरि धन्यवाद है।

प्रारब्ध बलवान् या पुरुषार्थ

यह शीर्षक भी उचित ही है। किन्तु अपनी अपनी दृष्टि है। मैं तो समझता हूं कि सिद्धान्त यह है—

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमहेतुः सुखदुःखयोः
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।

यह जन्तु है इसका ज्ञानरूप प्रकाश अविद्या से आवृत है अतः यह अज्ञ है। यह अविद्या के वश में है अतः अनीश है असमर्थ है अज्ञ और अनीश होने के कारण यह सुख एवं दुःख का हेतु नहीं हो सकता है। ईश्वर की प्रेरणा के अनुसार स्वर्ग जाता है या नरक में जाता है। श्रुति भी कहती है कि (यं कामये तं तमुग्रं करोमि तं ब्रह्माणं तं सुमेधाम्) मैं जिसको चाहूं उसको उग्र बना दूं या ब्रह्मा बना दूं बुद्धिमान् बना दूं। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। तस्मै स विवृणुते तनूं स्वाम्। जिसका यह वरण करता है वही उसे पा सकता है उसके लिए यह अपना शरीर खोल देता है।

होई है सोई जो राम रचि राखा। उरप्रेरक रघुवंश विभूषण है।

जिस अर्जुन के शस्त्रों के प्रहार से विकल होकर अप्रतिभट योद्धा भीष्म पितामह को भी कह देना पड़ा कि—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्जुनस्य इमे बाणा नेमे बाणाः शिखण्डिनः
सीदन्ति मम गात्राणि माघमाः सेगवा इव ।

जिनका मैं प्रतीकार नही कर सकता हूं अतएव जिनसे मेरे शरीर का सीदन विशरण हो रहा है वे बाण अर्जुन के हैं । जैसे सेगवा माघमा कर्कटी का विशरण करते हैं। माघमा कर्कटी को कहते हैं और सेगवा उसके बच्चे को। यह सब भगवान् श्रीकृष्ण के साहाय्य का वल था और जब वह साहाय्य भगवान् ने हटा लिया तब वही अर्जुन वही वाण वही गाण्डीव धनुष थे किन्तु उन सबके रहते हुए भी द्वारिका से लौटते समय उसके संरक्षण में आने वाली महिलाओं को रास्ते में भीलों ने लूट ली अतः प्रारब्ध या पुरुषार्थ सब ईश्वर की इच्छा से प्रबल है और दुर्बल है इनमें और कुछ भी तत्त्व नहीं है। अनेक वार का अनुभव है।

भक्ति पहले या ज्ञान

इस शीर्षक में कुछ भी वात कहने और सुनने लायक नही है। शंकराचार्य को छोड़कर गीता के सभी भाष्यकारों ने एवं टीकाकारों ने पहले षट्क में कर्म, दूसरे में भक्ति और तीसरे में यानी अन्त में ज्ञान को लिखा है माना है। जब अन्त में सबसे पीछे ज्ञान है ही तब भक्ति और ज्ञानमें पहले पीछे का प्रश्न करना व्यर्थ ही है।

हां यह प्रश्न हो सकता है भक्ति कारण है या कार्य है ज्ञान कारण है या कार्य है। इसका उत्तर स्पष्ट है प्राप्य ज्ञेय ध्येय गम्य परमेश्वर है अभेद परमात्मा से होता है। वह शुद्ध बुद्ध मुक्त और सत् चित् आनन्द स्वरूप है। परमेश्वर माया अविद्या रहित है अतः स्वतः शुद्ध है। कर्तव्य कर्म कलाप से शुद्धि अन्तः करण की होती है वह शुद्धि निष्काम कर्मों के करने से होती है। जो तो दुनियावी या दुनियादारी के कर्म हैं वे सब सकाम कर्म हैं। वे ही कर्म ईश्वर के अर्पण किये जाते है तब निष्काम कर्म हो जाते हैं। यह ईश्वरार्पण भक्ति से होता है। इससे अन्तःकरण शुद्ध होता है तब ज्ञान का उदय अन्तःकरण में होता है। अन्यथा नही और कोई उपाय है ही नही। ज्ञानादेव तु कैवल्यम्। ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञान से ही तो मुक्ति होती है। ज्ञान के बिना मुक्ति नही होती है। अतः कहा जाता है कि तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय सा काष्ठा सा परा गतिः। अतः भक्ति कारण ही है कार्य नही है। ज्ञान कार्य है भक्ति का और कारण है मुक्ति का यही सिद्धान्त है।

ब्रह्मभूयाय कल्पते ब्रह्मत्व की प्राप्ति के लिए समर्थ हो जाता है ऐसा प्रथम श्लोक में है उसके बाद के श्लोक में ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा मद्भक्ति लभते पराम् ब्रह्मसादृश्य को प्राप्त हुआ मेरी परा भक्ति का प्राप्त करता है। भक्ति को प्राप्त करने पर मुझे जान लेता है। इससे भी यही मालूम पड़ता है कि भक्ति से ज्ञान होता है भक्ति पहले है कारण है ज्ञान पीछे है कार्य है। प्रश्न यह हैं कि गीता के १८ वें अ. के ५४।५५ श्लोकों से तो यही मालूम पड़ता है कि साधक को ब्रह्म होने के बाद भक्ति की प्राप्ति होती है और उसके बाद ब्रह्मज्ञान होता है। यहां क्या उत्तर होगा। जब ब्रह्म हो गया तब फिर ब्रह्म क्या होगा। यहां उत्तर स्पष्ट है। सम्प्रदाय के सिद्धान्त को नही जानने से प्रश्न है। सम्प्रदाय यह है कि "देवो भूत्वा देवं यजेत" देवता होकर देवता की पूजा करे। अतः प्रकृत में ब्रह्म होकर भक्ति को प्राप्त करके ब्रह्मज्ञानी होवे। अतः ब्रह्मभूतः लिखा है न कि ब्रह्मज्ञानी। जैसे राक्षस बनकर या राक्षस बुद्धि से देवता की पूजा नही होती है उसी तरह मैं ब्रह्म हूं ऐसी भावना करने के बाद भक्ति के द्वारा ब्रह्मज्ञानी होता है।

इसीलिए लिखा है कि भक्त्या मामभिजानाति। भक्त्या ज्ञातुं च द्रष्टुञ्च। मद्भक्तः सङ्गवर्जितः यः स मामेति। भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते इत्यादि।

अतः भक्ति पहले या ज्ञान यह प्रश्न ही नही बनता है। इसको और भी स्पष्ट करते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा से पहले वाले श्लोक में कहा है कि कामादि को छोड़कर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(अहंकारं कामं क्रोधं विमुच्य) निर्मम और शान्त साधक ब्रह्मभूयाय ब्रह्मत्व प्राप्ति के लिए कल्पते समर्थ होता है। उसके बाद ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा लिखा है। इन शब्दों को जैसे यहां लिखा है उसी तरह इससे पहले २ अ. के ७१।७२ श्लोकों में भी यही लिखा है (विहाय कामान् निर्ममः निरहंकारः शान्तिमृच्छति। एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति। स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति) कामादि को छोड़कर निर्मम एवं निरंहकार होकर शान्त हो जाता है। यह ब्राह्मी स्थिति है। इसको पाकर विमुग्ध नही होता है अतः ब्रह्म सदृश एवं प्रसन्नात्मा होकर ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त करता है अर्थात् ब्रह्मज्ञानी हो जाता है इत्यादि तत्त्व है। ब्रह्म के उत्तर पद में भूत शब्द है उसका अर्थ है सदृश जैसा कि हेमचन्द्र कोष में कहा है—

स्युरुत्तरपदे प्रख्यः प्रकारः प्रतिमो निभः।
भूतरूपपोमाः काशः सन्निभः प्रथितः परः।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।

गीतामन्दाकिनीकार ने इस श्लोक पर बहुत मार्मिक विचार किया है। उसके लिए उनको भूरि भूरि धन्यवाद है। परन्तु इसका यह सरल अर्थ है जिसमें कोई भी झगड़ा नही है वह यह है। यहां सप्त और चत्वारः के मध्य में पूर्वे पद है। उसका पूर्व के चार महर्षि सनकादि अर्थ है। ये सब मुझमें भाव रखते हैं। जिनके लोक में ये जन हैं।

"प्रजा स्यात् सन्ततौ जने" इस अमरकोष के अनुसार प्रजा शब्द का अर्थ जन भी है। अतः दो प्रकार के महर्षि हुए हैं। एक सृष्टि प्रचारक दूसरे सृष्टि प्रचार से विमुख। जो सृष्टि प्रचारक है उनके विषय में प्रजा का अर्थ है सन्तति और जो उसके विमुख है उनके विषय में प्रजा का अर्थ है जन। अतः कोई विप्रत्तिपत्ति नही है। ये जन वे हैं जो सनकादिकों की तरह ज्ञान वैराग्य शम दम तितिक्षादि में निरत है अतः ये भी सृष्टि के प्रचार से विमुख हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदि (पूर्वे चत्वारो मनवः) पहले के चार मनु अर्थ करते हैं तो बहुत ही अशुद्ध अर्थ हो जायगा। क्योंकि पहले चार १ स्वायम्भुव २ स्वारोचिष ३ उत्तम एवं ४ तामस इन मनुओं में चतुर्थ तामस मनु भगवान् का अवतार है इसी ने गजेन्द्र का मोक्ष किया था। श्रीमद्भागवत अष्टमस्कन्ध के प्रथम अध्याय में चतुर्थ उत्तमभ्राता मनुर्नाम्ना च तामसः। हरिरित्याहृतो येन गजेन्द्रो मोक्षितो भयात् लिखा है कि चतुर्थ मनु तामस हुआ जिसको हरि इस नाम से बुलाया। जिसने गजेन्द्र को भय से मुक्त किया। इसमें मद्भावा मानसा जाताः का समन्वय नहीं होगा। अतः पूर्वे चत्वारः पद का अन्वय मनुओं से नहीं हो सकता है। अतः हमारी व्याख्या ठीक है।

एक बात ओर भी है कि पूर्वे पद सात और चार इन संख्यावाचक पदों के बीच में है अतः उसका संख्याओं से ही अन्वय होगा। जैसे जब सप्त महर्षि है तब चार भी महर्षि हैं। उनमें चार महर्षि सात महर्षियों से पहले के हैं। इस तरह पूर्वे चत्वारः का समन्वय हो जाने पर पुनः पूर्वे चत्वारः मनवः कहना बहुत ही अशुद्ध है।

एक गप्प भी इस व्याख्या में लिख दी है कि जाताः यहां भूतकालिक क्त है। अजी ! महाराज निष्ठासंज्ञक क्त प्रत्यय भूतकालिक धातु से भाव और कर्म में ही होता है कर्त्ता में नहीं होता है। किन्तु यहां जाताः में कर्त्ता में क्त प्रत्यय है। अन्यथा कर्त्ता में नहीं मानेगे तो भाव में ही जन धातु से क्त प्रत्यय होगा। कर्म में जन धातु से क्त प्रत्यय होगा ही नही क्योंकि वह अकर्मक है। भाव में क्त होने पर मद्भावानि मानसानि जातानि महर्षयः मनवः ऐसे अशुद्ध पद यहां लिखने पड़ेंगे।

पूर्वे पद का सप्त से अन्वय नही हो सकता है क्योंकि सात महर्षियों और चार महर्षियों में जब पूर्वापरीभाव का समन्वय करेंगे तब चार सनकादि ही पूर्वे के महर्षि हैं यही समन्वय होगा सप्तर्षि तो उनके बाद के हैं। अतः पूर्वे का सप्त के साथ अन्वय बाधित है।

इस तरह परमेश्वर ने जो संकेत किया जो समझाया और जो लिखवाया वही मैंन लिखा। मुझे वस्तुतः कुछ भी अपनी समझ नहीं है। केनापि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि। इसमें जो गड़बड़ हो वह सब मेरा लेख हैं। जो इसमें अणुमात्र या पूर्ण मात्र पवित्र है वह सब भगवान् का है। हे ईश्वर ! हे सर्वान्तर्यामिन् ! हे सर्वाराध्य ! हे कुल देवता श्याम ! भगवन् तेरी जय हो ! जय हो।

यह सब मैंने आपको समर्पित कर दिया।

आपका ही

मधुसूदन शास्त्री

प्राचीन डीन, फैकल्टी ऑफ दि ओरियण्टल लर्निङ्ग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

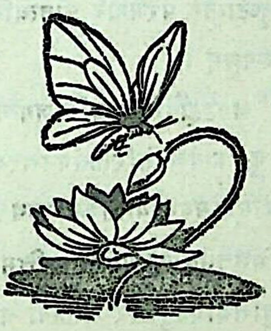

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उपासनाप्रधानं द्वितीयं षट्कम्

विषयानुक्रमणिका

तत्र अथ सप्तमोऽध्यायः

प्रतीकं	श्लोकाङ्काः
ईश्वराश्रयेणैव ज्ञानं सम्पाद्यमिति निरूपणम्	१
सविज्ञानज्ञाननिरूपणप्रतिज्ञा ।	२
अपरिमितेषु मोक्षार्थं यतमानेषु कश्चिदेव परमात्मानं वेत्तीति निरूपणम्	३
अपरप्रकृतेरष्टधाभिन्नत्व कथनम् ।	४
जीवभूतपरप्रकृतेर्निरूपणम् ।	५
उक्त प्रकृतिद्वयद्वारेण ईश्वरस्य जगत्कारणत्वप्रदर्शनम् ।	६
भगवतः परतरान्यत्वनिषेधकथनपुरः सरं सर्वभूतानां सूत्रे मणिगणदृष्टान्तेन परमेश्वरे प्रोतत्वनिरूपणम् ।	७
संक्षेपेण रसादिविभूतिनिरूपणम् ।	८-११
सात्त्विकादिभेदभिन्नं सर्वं जगद्ब्रह्मैवेति ब्रह्मणि जगन्नास्तीति च निरूपणम्	१२
गुणमयैः पदार्थैर्मोहितं जगत् गुणकार्यव्यतिरिक्तभगवत्तत्त्वानभिज्ञमितिनिरूपणम्	१३
भगवत्प्रपत्तिसमाश्रयणेनैव गुणमयमायातिक्रमणकथनम्	१४
दुष्कृतित्वेन आसुरभावाभिभूतमूढानां भगवदप्रपत्तिमत्वकथनम् ।	१५
सुकृतित्वेन भगवद्भजनप्रवृत्तिबोधनपुरसरं भक्तानां चतुर्विधत्वकथनम् ।	१६
चतुर्षु ज्ञानिन एकभक्तित्वात् श्रेष्ठत्वस्य भक्तभजनीययोः परस्परप्रियत्वस्य च प्रतिपादनम् ।	१७
ज्ञानी भगवद्भक्त एवेति कथनम् ।	१८
सर्वं वासुदेवं पश्यतो महात्मनः सुदुर्लभत्वप्रतिपादनम् ।	१९
विवेकशून्या अन्यदेवानाश्रयन्ते इति निरूपणम् ।	२०
तत्तद्देवतोपासने श्रद्धादार्ढ्यं भगवानेव विदधातीति प्रकाशनम् ।	२१
तत्तद्देवतोपासनेऽपि काम्यफलप्राप्तिरीश्वरादेवेति कथनम् ।	२२
तत्तद्देवतोपासकानां फलस्यान्तवत्वप्रतिपादनम् ।	२३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सदसद्विवेकविकलाः पण्डिता अपि प्रत्यग्रूपं
परमात्मानं देहरूपं मन्वते इति निरूपणम् । २४
मूढः परमात्मानं न जानातीतिकथनम् । २५
परमेश्वरः सर्वं वेत्ति परं तन्तु न कश्चिदिति प्रकथनम् । २६
रागद्वेषद्वन्द्वमोहितानां ज्ञानं नोदेतीति प्रतिपादनम् । २७
पुण्यकर्मभिः क्षालितपापाः परमेश्वरं श्रयन्ते इति निरूपणम् । २८
मोक्षाय भगवन्तमाश्रित्य यतमानाः ब्रह्म विदन्तीति प्रकाशनम् । २९
साधिभूतदैवयज्ञविदां तत एव युक्तचेतसां प्रयाणकाले ब्रह्मवेत्तृत्वकथनम् ३०

इति सप्तमोऽध्यायः ।

अथ अष्टमोऽध्यायः

अथाष्टमाध्याये प्रतिपाद्यप्रसङ्गेन किं तद् ब्रह्म किमध्यात्ममित्याद्यर्जुनकृत सप्तप्रश्नानां निरूपणं श्लोकद्वयेन १/२

प्रश्नोत्तरत्वेन ब्रह्मणोऽध्यात्मस्य कर्मणः अधिभूतस्य अधिदैवस्य अधियज्ञस्य च प्रतिपादनम् । ३।४

सप्तमप्रश्नस्योत्तरत्वेन ब्रह्मविदोऽपि अन्तकाले ब्रह्मभावनयैव स्थातव्यमिति बोधनम् । ५

सर्वेषामन्तकाले भावनानुसारेणैव गतिरिति कथनम् । ६
सर्वेषु कालेषु भगवद्ध्यानपूर्वकं युद्धादिकरणेऽर्जुनस्य प्रवर्त्तनम् ७
योगयुक्तचेतसः परमपुरुषावाप्तिनिरूपणम् । ८-१०
ईश्वरं प्राप्तानामपुनरावृत्तिकथनम् । १५

ब्रह्मलोकादिगतानां पुनरावृत्तिकथनपूर्वकं ब्रह्मविदां पुनरावृत्तिर्नास्तीति निरूपणम् । १७

ब्रह्मणः अहोरात्रयोर्वर्णनम् । १७
प्रजापतेरहोरात्रिषु प्राणिनां जन्म मरण दुःख प्रतिपादनम् । १८
जीवानां नित्यत्वनिरूपणपूर्वकमज्ञानेन तेषां पुनः पुनर्जन्म मरणादि दुःखम् । १९
सर्वभूतविनाशेऽपि परमात्मनोऽविनाशित्वम् । २०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यं प्राप्य न पुनः शरीरधारणं तत्परमात्मनः स्वरूपमिति कथनम् । २१
परमात्मप्राप्तौ अनन्या ज्ञानलक्षणा भक्तिः परमसाधनमिति प्रतिपादनम् २२
यस्मिन् मृतानामनावृत्यावृत्ती भवतस्तत्कालनिरूपणप्रतिज्ञा । २३
उत्तरायणे मृतानां क्रममुक्तिर्भवतीति निरूपणम् । २४
दक्षिणायने मृतानां पुनरावृत्तिर्भवतीति प्रतिपादनम् । २५
उत्तरायणदक्षिणायनयो शुक्लकृष्णयोरनादित्व प्रतिपादनम् । २६
द्वयोर्गत्योः फल जानता मोक्षमार्गे प्रमादो न कर्त्तव्य इति कथनम् । २७
सगुणब्रह्मोपासकप्राप्यसुखस्य निरूपणम् । २८

इत्यष्टमोऽध्यायः

अथ नवमोऽध्यायः

गुह्यतमस्य विज्ञानसहितज्ञानस्य उपदेशः । १
राजविद्याराजगुह्यमित्यादिना ज्ञानस्योत्कर्षकथनम् । २
ज्ञानमार्गे श्रद्धाशून्यानां जन्ममरणाद्यनर्थावाप्तिप्रकाशनम् ।
मया व्याप्तं जगदित्येवं मत्स्थानि, न च मत्स्थानीतिदिशा ऐश्वरयोगप्रदर्शनम् ४।५
आकाशे वायुवत्सर्वभूतानां ब्रह्मणि स्थितेः कथनम् । ६
सर्वभूतानां परमात्मन एवोत्पत्तिप्रलयाविति कथनम् । ७
परमात्मैव मायया भूतजातं सृजतीति प्रकाशनम् । ८
उदासीनस्यासङ्गस्येश्वरस्य सृष्ट्यादि कर्मणा न लेपोऽस्तीति कथनम् । ९
भगवत्सान्निध्यात्प्रकृतिरेव जगत्सृष्ट्यादिकर्म सम्पादयतीति प्रतिपादनम् । १०
एको देवः सर्वभूतेषु गूढ इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित प्रकारेण सर्वभूतेषु स्थितं परमात्मानमजानन्तो मूढा देहाध्यासेन तं तिरस्कुर्वन्तीति निरूपणम् । ११
मूढानां स्वभावनिरूपणपुरःसरमासुरयोनिगमनकथनम् १२
दैवीसम्पद्विशिष्टा महात्मानः परमात्मानं ज्ञात्वा भजन्तीति प्रकाशनम् १३
मुमुक्षूणां परमात्मोपासनप्रक्रियाकथनम् ज्ञान्यज्ञान्योरुपासनाभेदकथनम् १४
अहं क्रतुरित्याद्यया सदसच्चाहमर्जुनेत्यन्तया ४ श्लोक्या भगवतः सर्वात्मत्व निरूपणम् । १५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सकामकर्मिणां स्वर्गसुखावाप्तिः । २०

स्वर्गं गतानां पुनरावर्त्तनम् । २१

ब्रह्मणि स्थितानां भगवता योगक्षेमवहनम् । २२

श्रद्धयाऽन्यदेवभक्त्या यजनमविधिपूर्वकं मद्यजनमेवेति प्रकाशनम् । २३

मम सर्वयज्ञानां भोक्तृत्वप्रभुत्वे अजानानां तत्त्वतश्च्यवनम् । २४

देवपितृभूतानां मम च भजनानुसारं फलप्राप्तिनिरूपणम् । २५

प्रयतात्मना भक्त्या समर्पितं पत्रपुष्पफलमहमश्नामि इति प्रतिपादनम् । २६

मदर्पणायैव करणाशनपानदान तपः कर्म कुरु इति बोधनम् । ३७

मदर्पणबुद्धया क्रियमाणकर्मभिर्बन्धनं नास्ति तथा संन्यासयोगयुक्तात्मनो भक्तस्य मदुपेयतानिरूपणम् । ३८

सर्वभूतसमत्वाद् द्वेष्यत्वप्रियत्वे मम न स्तः परं भक्त्या भजत्सु अहं, मयि ते भक्तिमन्त इति प्रकाशनम् । २९

सुदुराचारोऽपि अनन्यभाक् सन् भजन् सम्यग्व्यवसायित्वात्साधुरेवेति कथनम् ३०

यस्याश्रयणात् पापयोनयोऽपि स्त्रीवैश्यशूद्रा परां गतिमप्नुवन्तीति निरूपणम् ३२

यदि स्त्र्यादीनां परा गतिस्तदि पुण्यानां ब्राह्मणानां भक्तानां राजर्षीणां तु कथैव का अतोऽनित्यं लोकमिममागम्य, भजस्व मामिति शिक्षणम् । ३४

मन्मनसः, मद्भक्तस्य मद्याजिनः मां नमस्कुर्वतः, स्वान्तःकरणवृत्तिं निरुध्य मत्परायणस्थ मदयनं सुसुलभमेवेति प्रसाधनोपदेशः । ३४

इति नवमोऽध्यायः

अथ दशमोऽध्यायः

संक्षेपतो भगवत्कृतविभूतियोगज्ञानोपदेशस्तत्फलसहितः । १-११

विस्तरेण विभूतियोगकथनायार्जुनस्य कृष्णं प्रति प्रार्थनम् । १२।१८

विस्तरेण भगवत्कृतो विभूतियोगोपदेशः । १९।४२

इति दशमोऽध्यायः

अथ एकादशोऽध्यायः

विश्वरूपदर्शनेच्छयाऽर्जुनकृतं भगवतः प्रार्थनम् । १-४

पश्य मे योगमैश्वरमित्यादि भगवतो भाषणम् । ५।८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पार्थाय भगवान् विश्वरूपं दर्शयामासेत्यादि संजयो धृतराष्ट्रं सम्बभाषे । ९।१४

भगवता दर्शितस्य विश्वरूपस्य विषये अर्जुनस्य स्वानुभवप्रकटीकरणम् १५।३१

भूभारहरणार्थं प्रवृत्तत्वान्मयैवेते पूर्वं हतास्त्वमिदानीं निमित्तमात्रं भवेति भगवतार्जुनः प्रबोधितः । ३२।३४

पराजयभयात्संधिं विधास्यतीति बुद्धया संजयस्य धृतराष्ट्राय वृत्तान्त निवदेनम् । ३५

अर्जुनकृतं भगवतः स्तोत्रम् । ३६—४३

तेनैव रूपेण भवेति अर्जुनस्य भगवन्तं प्रति प्रार्थनम् । ४४।४६

भीतभीतं सन्तं प्रणमन्तमर्जुनं प्रज्ञाय विश्वरूपमुपसंहरन् श्रीकृष्णः प्रियवचनैरुदारैराश्वासयास भूयः । ४७।४३

संजयस्य धृतराष्ट्राय भगवत्कृतभीतार्जुनाश्वासननिवदेनम् । ५०

पूर्वरूपं दृष्ट्वा अर्जुनस्य स्वचित्तस्थैर्यप्रदर्शनम् । ५१

विश्वरूपप्रदर्शनस्य भक्त्यैकसाध्यत्वप्रतिपादनम् । ५२-५४

भगवदर्थं कर्म कुर्वतो भगवदाप्तिकथनम् । ५५

इति एकादशोऽध्यायः

अथ द्वादशोऽध्यायः

सगुणनिर्गुणोपासकानां तारतम्यज्ञानायाऽर्जुनः पप्रच्छ । १

सर्वं ब्रह्मैवेति सगुणोपासकानां श्रेष्ठत्वप्रतिपादनम् । २

निर्गुणोपासकास्ततोऽपि श्रेष्ठा इति निरूपणम् । ३।४

अमृदितकषायाणां निर्गुणोपासकानां क्लेशाधिकतरत्वकथनम् । ५

सगुणोपासनेन शुद्धचित्तानां ब्रह्मज्ञानद्वारा बन्धननिवृत्तिरिति निरूपणम् ६।७

मयि मनस आधानेन बुद्धेर्निवेशनेन च निःसंशयं मयि निवेशः इति बोधनम् । ८

मनोबुद्धयोराधानविवेशनयोरसमर्थाय अभ्यासयोगादिसाधनोपदेशः ९।११

सर्वकर्मफलत्यागप्रशंसनम् । १२

द्वेषाद्यकर्तॄणामुपासकानां धर्मस्य प्रदर्शनम् । १३।१९

उक्तधर्मानुष्ठानसम्पादका ममातीव प्रिया इति श्रीकृष्णकृताङ्गीकारः । २०

इति द्वादशोऽध्यायः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ ज्ञानप्रधान तृतीयषट्कस्य विषयानुक्रमणिका

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

संक्षेपेण क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोः स्वरूपरूपणम् । १

सर्वक्षेत्रज्ञस्थक्षेत्रज्ञस्य ईश्वराभिन्नत्वकथनं ततः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानस्य स्वाभिमतत्वकथनम् । २

विशेषतः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यप्रकाशनप्रतिज्ञानम् । ३

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यस्तुतिः विशेषतः क्षेत्रस्वरूप प्रतिपादनम् । ५।६

अमानित्वादि तत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तं विंशतिसंख्याकं तत्त्वं ज्ञानसाधनत्वाज् ज्ञानम् । मानित्वादिसर्वमतद्विधमज्ञानमिति निरूपणम् । ६।७

जन्मादिषु दोषदर्शनम् । ८

पुत्रदारगृहादिषु अभिष्वङ्गो न करणीय इति निरूपणम् ९।१०।११

ज्ञेयस्य क्षेत्रस्य तज्ज्ञानफलस्य च निरूपणम् । १२।१७

क्षेत्र क्षेत्रज्ञयाथात्म्यज्ञानफलकथनम् । १८

प्रकृतिपुरुषयोरनादित्वप्रदर्शनम् । १९

कार्यकारणकर्तृत्वे प्रकृतेरारम्भकत्वेन हेतुत्वस्य, पुरुषस्य सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुत्वस्य च कथनम् । २०

पुरुषस्य भोक्तृत्वनिमित्तकथनम् । २१

पुरुषस्य उपद्रष्टृत्वादि निर्देशः । २२

प्रकृतिपुरुषज्ञानफलकथनम् । २३

आत्मदर्शने ध्यानाद्युपायविकल्पनिरूपणम् । २४-२६

सम्यग्दर्शनतत्फलयोः प्रतिपादनम् । २७।३४

इति त्रयोदशोऽध्यायः

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

उत्तमज्ञानोपदेशप्रतिज्ञानम् । १।२

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगेन हिरण्यगर्भोत्पत्तिद्वारा सर्वभूतोत्पत्तिः । ३।४

सत्वादिगुणानां जीवबन्धकत्व निरूपणम् । ५

सत्त्वादिगुणस्वरूपकार्यादिप्रदर्शनम् । ६।१८

सम्यग्ज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वकथनम् । १९—२०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणातीतलक्षणप्रश्नः । २१
गुणातीतलक्षण कथनम् । २२–२५
अव्यभिचारिभक्तियोगेन गुणातीतत्वादिसिद्धिकथनम्। २६

अथ पञ्चदशोऽध्याय

संसारस्य वृक्षत्वरूप कल्पना । १।२
संसारवृक्षस्य असंगशस्त्रेण छेदने ब्रह्मपदप्राप्तिकथनम् । ३।५
ब्रह्मपदलक्षणप्रतिपादनम् । ६
जीवस्य भगवदंशतया उत्क्रान्तिकाल इन्द्रियाकर्षकत्वादिकथनम् । ७।९
मूढानामात्मज्ञानाभावनिरूपणम् । १०।११
संक्षेपेण विभूतिवर्णनम् । १२।१५
क्षराक्षरपुरुषोत्तमानां निरूपणम् । १६।१७
हेतुकथनपुरः सरं भगवतः पुरुषोत्तमत्वस्य तज्ज्ञानफलस्य च कथनम् १८।१९
भगवतत्त्वज्ञानप्रशंसा । २०

इति पञ्चदशोऽध्यायः

अथ षोडशोऽध्यायः

देवासुरसम्पदोः स्वरूपस्य फलस्य च वर्णनम् । १-५
विस्तरेणाऽऽसुरसम्पद्वर्णनतत्त्याज्यत्वयोः कथनम् । ६।२२
शास्त्रविधिमुत्सृज्य प्रवृत्तस्य सिध्यभावनिरूपणम् । २३
शास्त्रीये कर्मणि कृष्णकृतमर्जुनस्य प्रवर्त्तनम् । २४

इति षोडशोऽध्यायः

अथ सप्तदशोऽध्यायः

शास्त्रविधिमुत्सृज्य श्रद्धया कर्म कुर्वतां का गतिरित्यर्जुनस्य प्रश्नः । १
श्रद्धात्रयविवरणम् । त्रिविधस्य आहारस्य यज्ञस्य च निरूपणम् । २।१३
कायिकवाचिकमानसिकभेदेन तपसस्त्रैविध्यकथनम् । १४।१६
सात्त्विकराजसतामसभेदेन तपसस्त्रैविध्योपपादनम् । १७।१९
सात्त्विकादिभेदेन दानस्य त्रैविध्यप्रदर्शनम । २०।२२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यज्ञादीनां साद्गुण्याय ओंतत्सदिति शब्दत्रयस्य विनियोगः । २३।२७
अश्रद्धया कृतस्य हवनादिसर्वकर्मणोऽसत्त्वप्रतिपादनम् । २८

इति सप्तदशोऽध्यायः ।

अथ अष्टादशोऽध्यायः

संन्यासयोगयोस्तत्त्वविषयकः प्रश्नः १
संन्यासत्यागपदार्थोक्तिः २
कर्मणस्त्यागात्यागयोः सांख्यमीमांसकपक्षद्वयस्य प्रदर्शनम् ३
फलासक्तिं त्यक्त्वा नित्यनैमित्तिकानि कर्माणि कर्त्तव्यानि इति स्वमतप्रदर्शनम् ४-५
नित्यकर्मत्यागेऽपपत्यभावकथनपुरः सरं तामसादिभेदेन त्यागस्य त्रैविध्य प्रतिपादनम् । ७-९
फलासक्तिं त्यक्त्वा नित्यकर्म कुर्वतो नैष्कर्म्यलक्षणज्ञाननिष्ठाप्राप्तेः प्रतिपादनम् । १०
कर्मफलत्यागिनस्त्यागीत्यभिधानम् । ११
संन्यासिनामनिष्टादित्रिविधफलाभावप्रतिपादनम् । १२
सर्वकर्मणामधिष्ठानादिपञ्चकारणानां निरूपणम् । १३-१४
केवलात्मनि कर्त्तृत्वाभिमानिनां दुर्मतित्वस्याभिधानम् । १६
कर्त्तृत्वाभिमानरहितस्य सुमतित्वप्रदर्शनम् । १७
कर्म प्रवर्त्तक ज्ञानादित्रयस्य करणादित्रयस्य च प्रदर्शनम् । १८
ज्ञानकर्मकर्त्तॄणां गुणभेदेन त्रैविध्यकथनप्रतिज्ञानम् । १९
सात्त्विकादिभेदेन ज्ञानकर्मकर्त्तॄणां त्रैविध्यप्रकथनम् । २०।२८
बुद्धिधृत्योर्गुणभेदेन त्रैविध्यकथनप्रतिज्ञा, सात्त्विकादि भेदेन बुद्धिधृतिसुखानां त्रैविध्यकथनम् । ३०।३९
संसारान्तर्गतस्य सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वकथनम् । ४०
ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रकर्मणां प्रविभागबोधनम् । ४१।४४
ब्राह्मणादीनां स्वस्व कर्मणा भगवदाराधनेन ज्ञाननिष्ठायोग्यता-लक्षणसिद्धिप्रतिपादनम् । स्वधर्मस्यात्याज्यताकथनम् । ४५।४६।४७।४८
आसक्त्यादिरहितस्य संन्यासेन ज्ञाननिष्ठालक्षणनैष्कर्म्यसिद्धिप्रतिपादनम् ४९

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केवलात्मज्ञाननिष्ठारूपनैष्कर्म्य लक्षणासिद्धिप्राप्तिक्रम बोधनप्रतिज्ञानम् । विस्तरेण परज्ञाननिष्ठाप्राप्तिक्रमकथनम् । ५०।५१।५३

उक्तक्रमेण ज्ञानलक्षणभक्तिप्राप्तिः एतत्प्राप्त्या भगवतत्त्वज्ञानसिद्धिश्च ५४।५५

ज्ञाननिष्ठायोग्यताफलकस्य भगवद्भक्तियोगस्य स्तुतिः । ५६

अर्जुनं प्रति श्रीकृष्णकृतं विवेकबुद्धया ईश्वरे सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकं समाहितबुद्धित्वाश्रयणेन सर्वदा चित्तस्थापनोपदेशनम् । ५७

मत्प्रसादात्सर्वदुर्गतरणस्यान्यथा विनाशस्य च निरूपणम् । ५८

अहंकाराश्रयणेन युद्धाकरणनिश्चयस्य मिथ्याव्यवसायबोधनपूर्वकम् अर्जुनस्य प्रकृतिपरतन्त्रत्वकथनम् ५९।६०

ईश्वरस्यान्तर्यामित्वेन सर्वभूतप्रेरकत्व प्रतिपादनम् । ६१

सर्वभावेनेश्वराश्रयणाच् शाश्वतपदप्राप्ति बोधनम् । ६२

उक्तगुह्यतरज्ञानविचारेणेच्छानुरूपकरणानुज्ञानम् । ६३

अर्जुनस्य परमप्रियत्वात्सर्वगुह्यतमवचनश्रवणप्रवर्त्तनम् । ६४

गुह्यतमस्य कर्मयोगनिष्ठारहस्यस्येश्वर शरणत्वस्य कर्मनिष्ठाफलस्य च सम्यग्दर्शनम् । ६५।६६

अपात्रे शास्त्रोपदेशनिषेधस्य पात्रे तदुपदेशस्य च प्रतिपादनम् । ६७।६९

एतच्छास्त्राध्ययनश्रवणयोः फलश्रुतिः । ७०।७१

मदुक्तगीताशास्त्रश्रवणेन अज्ञानसम्मोहः प्रणष्टस्ते कच्चित् इत्यर्जुनं प्रति श्रीकृष्णस्य पृच्छा । ७२

नष्टो मोह स्मृतिर्लब्धा इत्याद्यर्जुनोत्तरणम् । ७३

इत्यहं वासुदेवस्येत्यादिसंजयभाषणम् । ७४।७८

व्यासप्रसादात्संजयस्य गीताश्रवणमिति निरूपणम् । ८५

गीताश्रवणजन्य संजयहर्षस्य निरूपणम् । ७६

विश्वरूपदर्शनजन्य संजयहर्षस्योद्बोधनम् । ७७

यत्र कृष्णार्जुनो तत्रैव श्रीः विजयः भूतिः ध्रुवा नीतिरिति सिद्धान्त स्थापनम् । ७८

इति श्रीमद्भगवद्गीसु प्रत्यध्यायप्रतिपाद्यार्थानामनुक्रमणिका समाप्ता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीमद्भगवद्गीतासु

उपासना प्रधानम्

द्वितीयं षट्कम्

सम्पादक

आचार्य श्रीमधुसूदनशास्त्री

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

॥ श्रीः ॥

अथ

श्रीवेदव्यासप्रणीतमहाभारतान्तर्गतासु

श्रीमद्भगवद्गीतासु

आचार्य श्रीमधुसूदनशास्त्रिप्रणीताभ्यां मधुसूदनी

बालक्रीडाख्यसंस्कृतहिन्दीटीकाभ्यां संवलितासु

सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

मय्यासक्तमनाः पार्थ ! योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

बालक्रीड़ा

षष्ठ अध्याय में सबीज योग का प्रशंसा पूर्वक निरूपण करके अब बीज जो ध्येय है उसका वर्णन करते हैं। श्री भगवान् बोले हे पार्थ ! मेरे में मन लगाकर और मेरा आश्रय करके योग करने वाला योगी जिस प्रकार संशय रहित हुआ पूर्णरूप से मुझको जान जाय उस प्रकार को तुम सुनो ॥ १ ॥

आत्मा एवं अनात्मा के विवेक से जनित स्वानुभवरूप ज्ञान के सहित इस शास्त्रीय ज्ञान को सम्पूर्ण रूप से तुमको कहूंगा जिसके जान लेने के बाद फिर जानने के लिए कुछ बाकी नहीं रह जाता है ।॥ २ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ॥ ३ ॥

बालक्रीड़ा

हजारों मनुष्यों में कोई एक मनुष्य सिद्धि के लिए मोक्ष को प्राप्त करने के लिए यत्न करता है। यत्न करके सिद्ध होने वालों में भी कोई ही मुझे तत्त्वरूप से असली रूप से जानता है। यहाँ यदि यतति को यत्नार्थक मानते हैं तब यतते येते इस प्रकार आत्मनेपद होना चाहिए। अतः इसे आर्षप्रयोग कहिए या आत्मनेपद विधान को अनित्य मानिये। और यदि परस्मैपद को अर्थात् यतति को साधु मानते हैं तब यत निकारोपस्कारयोः इस धातु को अनेकार्थक मानें तथा जो चुरादिगणीय हैं वे भ्वादिगणीय भी है ऐसा सिद्धान्त मानें। अस्तु जैसा माने।

परन्तु कश्चिद् यतति इस कर्त्ता और क्रिया में एक वचन कह कर यततामपि सिद्धानाम् में इस प्रकार बहुवचन कैसे कह सकते हैं। क्योंकि जब हजारहों मनुष्यों में कोई एक यत्न करता है तब यततामपि सिद्धानां कैसे हो सकेगा अर्थात् यत्न करके सिद्ध होने वाले बहुत से कहां से आ जायेंगे। अतः या तो

'मनुष्याणां सहस्त्रेषु यतन्ते केऽपि सिद्धये' ऐसा पाठ मानिये या फिर
"यतमानः सिद्ध एकः कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः"। ऐसा पाठ मानिये

असली तत्त्व को कोई ही जानता है इसका भाव यह है कि पहले तो फल की कामना ही मोक्ष के मार्ग को रोके रहती है और यदि कोई शूर वीर इन कामनाओं को जीतकर सच्चे मार्ग की आस्था कर भी लेवे तो भी सिद्धियों के चक्र में फंसकर संग एवं स्मय के यानी दुनियावी लोगों के कुसंग के और मैं ऐसा हूं मैंने ऐसा किया इत्यादि घमंड के वश में होकर नीचे गिर ही जाता है। असली तत्व को प्राप्त करना असंभव हो जाता है ॥३॥

हे महाबाहो ! भूमि जल अग्नि वायु आकाश मन बुद्धि और अहंकार इस प्रकार आठ भेदों वाली मेरी प्रकृति अपरा है छोटी है। इस से अन्य जीव रूपा मेरी प्रकृति जो जगत को धारण किये हुए है वह परा है इसकी अपेक्षा बडी है चित्त नाम रखने वाली है अतः सब भूतों को चेतना शक्ति देने वालीं इसे जानो। इन दोनों को प्रकृति कहने का मतलब है यह अनात्म वस्तु है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

बालक्रीड़ा

यहां एक अत्यावश्यक विचार करना है कि इस पद्य में भूमि आदि शब्दों से इन पंच भूतों की सूक्ष्म अवस्थारूप पंच तन्मात्राएं गृहीत हैं। किन्तु बुद्धि अहंकार एवं मन शब्द से जिनको ग्रहण करते हैं उनके विषय में एक आचार्य कहते हैं कि मनः शब्द की अव्यक्त में लक्षणा है अतः मनः शब्द का अर्थ प्रकृति है। दूसरे कहते हैं कि नहीं, पंच तन्मात्राओ के सामीप्य से मन शब्द की अहंकार मे लक्षणा है क्यों कि मन का कारण अहंकार है अतः कार्य कारण में अभेद मानकर मनः शब्द का अर्थ अहंकार है। बुद्धि शब्द का अर्थ है महत्तत्व। यह अहंकार का कारण है। और पद्योक्त अहंकार शब्द की सर्व वासनाओं से वासित अविद्यारूप अव्यक्त में लक्षणा है क्यों कि अहंकार ही प्रेरक है। किन्तु यह सव अपव्याख्यायें हैं। क्योंकि प्रकृति के आठ भेदों के निरूपण के प्रसंग में स्वयं प्रकृति को भी एक भेद मानना कैसी व्याख्या है। मुख्यार्थ बाधे का संकेत है कि पहले मनः शब्द की अव्यक्त में लक्षणा करनेवालों के यहाँ मन शब्द का मुख्य अर्थ अव्यक्त हो और उसका प्रकृत में बाध हो तब लक्षणा होगी अन्यथा नहीं होगी इसीतरह अहंकार में मनः शब्द की लक्षणा करने वालों के मत में मनः शब्द का मुख्य अर्थ अहंकार हो और उसका प्रकृत में बाध हो तब लक्षणा होगी अन्यथा नही ये दोनों स्थितियाँ नहीं है अतः सांख्य सिद्धान्त के समन्वयार्थ की गई ये अपदार्थघटित अपव्याख्यायें हैं। वेदांत के सिद्धांत के अनुगीता के अनुसार तदैक्षत यह ईक्षणारूपा बुद्धि और एकोऽहं बहु स्यां, प्रजायेय ऐसे संकल्प रूप अहंकार है। जो माया के परिणाम है और अपनी जगह में है। अतः यह व्याख्या ठीक है। अन्यथा अपञ्चीकृत तन्मात्रा स्वरूप पंच महाभूत और अन्तः करण इस तरह ६ भेदों वाली ही प्रकृति मानना चाहिए। क्योंकि मन बुद्धि अहंकार ये अन्तःकरण के ही भेद हैं अतः एक अन्तःकरण से तीनों का ग्रहण हो जायगा। यद्यपि चित्त भी अन्तःकरण का एक भेद है। अन्तःकरण को लेने से उसका भी ग्रहण हो सकता है तद्यपि उसके लेने से कोई फरक नहीं पड़ता है अतः उसका लेना व्यर्थ ही होगा। ४। ५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७ ॥

बालक्रीड़ा

ये दोनों प्रकार की प्रकृतियाँ सम्पूर्ण प्राणियों की योनि हैं कारण हैं। ऐसा तुम निश्चय करो और ये प्रकृतियाँ मेरी हैं अतः मैं हो सम्पूर्ण जगत् का उत्पादक हूं। और विनाशक हूं।

यहाँ का भाव यह है कि मैं इन दो प्रकार की प्रकृतियों का अधिष्ठान हूँ इन वस्तुओं की प्रसिद्धि का हेतु मैं हूं अर्थात् घड़ा है कपड़ा है यह जो है है कि प्रसिद्धि है उसका कारण मैं ही हूं। इन दोनों प्रकृतियों के द्वारा जो स्थावर जंगमात्मक जगत् प्रपञ्च कार्य होता हुआ दिखाई देता है इसकी उत्पत्ति एवं प्रलय का अवधि मैं ही हूं। अर्थात् जैसे समुद्र में तरङ्गे आती हैं और उसी में विलीन हो जाती है उसी तरह जगत् मेरे में उठकर कुछ काल तक स्थितिशाली हुआ मेरे में लीन हो जाता है। ६।

हे धनञ्जय ! मेरे से परतर कोई और तत्त्व नहीं हैं। यह सम्पूर्ण प्रपञ्च मेरे में ओत-प्रोत है जैसे माला में मणिगण पिरोये हुए हैं। अर्थात् सम्पूर्ण प्रपञ्च का मैं ही आधार हूं। मेरी ही सत्ता से यह सत्तावाला है इसी से इसका प्रवाह अनादि और अनन्त है। यह ज्ञान परोक्ष रूप से बतलाया है।

यहाँ परतर कहने का अभिप्राय यह है कि महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्परतस्तुः सः। यो बुद्धेः परतस्तु सः इत्यादि से परत्व का निरूपण महदादि में भी किया गया है। उस परत्व को हटाने के लिए परमात्मा में परतरत्व कहा है। सूत्र में प्रोत मणियों के दृष्टान्त से बतलाया है कि जैसे निमित्तकारण से अलग ही कार्य रहता है। उसी तरह ब्रह्म से अलग ही जगद्रूपी कार्य है। किन्तु उपादान कारण मृत्तिका से अलग घटादि एवंसुवर्ण से अलग कुण्डलादि कार्य नहीं रहते हैं। अतः प्रोत कहा है। ७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अब विज्ञान का उपदेश करते हैं। अहंकारादेश को ही वेदों में साक्षात्कार नामक विज्ञान कहा है। जैसे जल में मैं रस हूं।

यहाँ विचार करते हैं कि रस तो मधुर अम्ल तीक्ष्ण कटु कषाय एवं तिक्त भेदों से छः प्रकार का है। इसमें प्रश्न होता है कि जल में मैं रस हूं कहने का मतलव क्या है। क्या षड्विध रस रूप से आप जल में हैं। किन्तु यह "जले तु मधुर एव जल में मधुर ही रस है" कहने वाले न्यायशास्त्र के एवं सर्व साधारण के अनुभव के भी विरुद्ध है। उत्तर, जैसे घि घु टि इत्यादि संज्ञायें वैयाकरणों ने मान रखी है वैसे न्यायशास्त्रियों ने भी कुछ। इन्होंने कर्मेन्द्रियों को नहीं माना है। समवाय तथा आकाश कालादि पदार्थ सान्त है किन्तु उनको ये लोग सान्त न मानकर नित्य मानते हैं। प्रध्वंसाभाव को अनन्त मानते हैं जब कि ब्रह्म ईश्वर एवं जीव के सिवाय कोई भी अन्तत्वरहित नहीं है तव प्रध्वंसाभाव वेचारा अनन्त कहां से हो सकता है। वेदान्त कहता है ब्रह्म ज्ञान रूप है नैयायिक कहता है वह ज्ञान रूप नहीं है। इस तरह सबने अपने घर में एक परिभाषा व्यवहार के लिए कर रखी है। सर्व शास्त्रसिद्ध तत्त्व सब नहीं है।

प्रश्न–घटो ध्वस्तः घट का ध्वंस हो गया। अव इस ध्वंस का ध्वंस क्या होगा? उत्तर–आपके मत में ध्वंसाभाव भी एक पदार्थ है। प्रलयकाल में सभी पदार्थ जव ध्वस्त हो जाते हैं तव ध्वसाभाव पदार्थ भी ध्वंस्त हो गया। ऐसी स्थिति में सादिरनन्तः प्रध्वंसः लिखना गड़वड़ है। अव रही सर्व साधारण के अनुभव की कथा उसके हिसाव से भी रसोऽहमप्सु सिद्धान्त शुद्ध है। क्योंकि रस एक गुण है जो पेय है और आस्वाद्य है यह पेयत्व और आस्वाद्यत्व जल में ही है जलेतर में नहीं है। पृथिवी में भी जो षड् विध रसों की स्थिति है वह भी जलांश के ही कारण से है। अर्थात् मुख्य रूप से या स्वतन्त्र रूप से पृथिवी का गुण गन्ध ही है और जल का गुण रस ही है। मधुर रस का सम्बन्ध जल में साक्षात् है अन्य रसों का सम्बन्ध परम्परया है। पृथिवी के सम्वन्ध से है। इसीलिए रसतन्मात्रा यानी सूक्ष्म जल षड्विध रस स्वरूप है ही। स्थूल जल पञ्चीकृत जल तो एक मधुर रसात्मक ही अनुभव में आता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रसोऽहमप्सु कौन्तेय ! प्रभास्मि शशिसूर्ययोः ।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥

बालक्रीड़ा

शशी और सूर्य में मै प्रभा हूं। यद्यपि शशी जलरूप है और जल अभास्वर है चाहे वह जल सूक्ष्म है या स्थूल है। अतः शशी में प्रभा नहीं है तद्यपि सूर्य की किरणें शशी पर जैसी-जैसी और जितनी-जितनी पड़ती है वैसे-वैसे उतना २ शशी चमकता है। शुक्लपक्ष की पूर्णिमासी की रात्रि में सूर्य की प्रभा शशी के पूरे भाग पर पूर्ण रूप से पड़ती है अतः शशी पूर्ण रूप से रात्रि भर प्रकाशमान रहता है। उसके बाद शुक्लपक्ष एवं कृष्णपक्ष दोनों पक्षों की अष्टमी की रात्रि में चन्द्र के आधे भाग पर सूर्य की प्रभा पड़ती है अतः उस दिन शशी आधा प्रकाशमान होता है। अमावस्या में सूर्य और शशी दोनों का सङ्गम होता है दोनों बराबर होते हैं अत एव उस में शशी पर सूर्य की प्रभा का कुछ भी संक्रमण नहीं होता है फलतः वह पूरी रात्रि अन्धकारमयी रहती है। उस रात में तनिक भी प्रकाश नहीं होता है।

सम्पूर्ण वेदों में मैं प्रणव हूं ओंकार हूं। आकाश में मैं शब्द हूं। पुरुषों में मैं पौरुष हूं। यहाँ का भाव यह है कि यह सब कुछ मेरे में ओतप्रोत है तदनुसार प्रवण मैं हूं अर्थात् मेरे में सब वेद प्रोत हैं शब्द मैं हूं अर्थात् आकाश मुझमें प्रोत है और पौरुष मैं हूं अर्थात् मुझमें सब पुरुष प्रोत है। फलतः सिद्ध होता है जिसके कारण वेद वेद हैं आकाश आकाश है पुरुष पुरुष हैं- वह मैं हूं मुझसे अन्य कुछ नही है ॥ ८।

पृथ्वी में पुण्य गन्ध मैं हूं। विभावसु अग्नि में तेज मैं हूं। सम्पूर्ण प्राणियों में प्राणसंयोगस्वरूप जीवन आयु मैं हूं। अथ च जिससे सम्पूर्ण प्राणी जीते हैं वह जीवन कारण अन्नरसादि मैं हूं। अतः भुक्त अन्नरसादि रूप से प्राणियों मे मैं हूं। तपस्वियों में तपस्या मैं हूं।

यहाँ भगवान् ने पृथ्वी में पुण्य गन्ध स्वरूप अपने को कहा। इसमें प्रश्न होता है कि जैसे गन्ध में पुण्यत्व विशेषण दिया उस तरह तेज में दिव्यत्व, शब्द में मंगलमयत्व, पौरुष में लोकहित कारित्व अर्थात् इस तरह सब में भिन्न २ विशेषण देने चाहिए किन्तु दिए नही ऐसा क्यों।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ।। ९ ।।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ ! सनातनम् ।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।।१०।।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।।११।।

बालक्रीड़ा

उत्तर—गन्धतन्मात्रा से पृथ्वी की सृष्टि होती है। यह पृथिवी की निष्पादक गन्धतन्मात्रा सामान्य है उसमें पुण्यत्व या अपुण्यत्व का कोई सम्पर्क नहीं है। तब भी सिद्धान्त यह है कि मायासम्वलित ईश्वर सृष्टि करता है ऐसी स्थिति में माया जनित विकार का भी सम्वलन सृष्टि में होना स्वाभाविक है। यहां पर यह बतलाना है कि गन्धतन्मात्रा में मायाकृत विकार नहीं है अतः वह पुण्य है यानी अविकृत है। फलतः काकाक्षिगोलकन्याय से पूर्वोत्तर श्लोकों के मध्य में उपात्त इस पुण्यत्व का सम्बन्ध दोनो श्लोकों में है। अतः जल में पुण्य रस मैं हूं इत्यादि रीति से अन्वय सब जगह में समझना चाहिए। अथवा वस्तुतः सत् और असत् माने पुण्य और अपुण्य सब भगवान् ही है। यही सिद्धान्त है ।।९।।

हे पार्थ ! मुझको तुम सम्पूर्ण भूतों का सनातन बीज जानो। बुद्धिमानों में मैं बुद्धि और तेजस्वियों में तेज मैं हूं ।।१०।।

हे भरतर्षभ ! असाध्य को सिद्ध करने के लिए उत्साह वृत्ति का नाम काम है। मरा हुआ भी जिसको त्याग नहीं कर सकता है उस अहंकार वृत्ति का नाम राग है। इन दो राजस एवं तामस बलों को छोड़कर बलवानों का जो सात्विक धर्मानुष्ठान के उपयोगी बल है वह मैं हूं। धर्मशास्त्र विहित जो कामना है वह मैं हूं। अर्थात् इस तरह सम्पूर्ण भूतों में मेरा अभेद चिन्तन करो। इनके साथ में मेरी सत्ता एवं स्फूर्ति के स्वरूप का साक्षात् सम्बन्ध जानकर मेरे स्वरूप को देखो ।।११।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।।१२।।

बालक्रीड़ा

जो सात्विक भाव शम दम आदि है, राजस भाव जो द्वेष अकृपा आदि हैं और जो तामस भाव आलस्य मोह आदि हैं इन सबको मुझसे उत्पन्न हुआ समझो। परन्तु उनमें मैं नही रहता हूं वे सब मेरे में रहते हैं। अर्थात् ये सब असत्य हैं। रहना क्या है जो वस्तु जिस वस्तु से उत्पन्न होती है वह अन्त में अपने कारण के स्वरूप हो जाया करती है। जैसे गेहूं के पेड से उत्पन्न होने वाले गेहूं अन्त में गेहूं ही होते हैं। जो विकारी कारण हैं उनमें भी विकारी कारण का परिणाम वही होता है। जैसे पृथिवी का विकार औषध जल से मिलकर रस रूप में परिणत हो जाता है उस रस से उत्पन्न होने वाली नाना वस्तु अन्त में पृथिवी और जल ही बन जाती है। इस प्रकार श्री भगवान् कहते हैं कि मैं संपूर्ण भावों का ऐसा कारण नही हूं जिनका अन्तिम परिणाम मैं ही हो जाऊं इस तथ्य को सयझाने के लिए कहते हैं कि नत्वहं तेषु, ते मयि। मैं उनको सत्ता एवं स्फूर्ति देकर प्रकाशित करता हूं यही उनका मेरे में होना है। वे सब अविद्या के परिणाम है विकार हैं मेरे विकार नही हैं अत एव मैं उनमें नही हूं। क्यों कि मैं असङ्ग हूं असङ्ग का विकार नहीं हो सकता है। यह समझना विज्ञान है ऐसा यहां बतलाया है।

"न त्वहं तेषु" मैं उनमें नही हूं यह कथन "तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्। उन पदार्थों की सृष्टि करके उनमें वह प्रविष्ट हो गया अत एव (ब्रह्मैवेदमखिलं) यह सब कुछ ब्रह्म ही है (नेह नानास्ति किञ्च्चन) ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ भी नही है" इन श्रुतियों के और यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति इस अपनी उक्ति के भी विरुद्ध जान पड़ता है अतः विचारणीय है ।।१२।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।।१३

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।१४।।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।।१५।।

बालक्रीड़ा

माया से इन तीन गुणों के द्वारा मुग्ध किया गया यह समस्त जगत् इन गुणों से परे रहने वाले अव्यय अविनाशी मुझको नहीं पहचानता है। अर्थात् सम्पूर्ण पदार्थों को त्रिगुण व्याप्त समझने वाला यह जगत् माने त्रिलोकी का प्राणी वर्ग मुझको भी त्रिगुण व्याप्त ही समझता है अतः वह वर्ग मुझे जानता हुआ भी कृत कृत्य नहीं हो रहा है। यहां इस पद्य में मुग्ध पद न कह कर मोहित पद कहने का भाव है कि यह माया पिशाचिनी ऐसी है कि जीव को जो "ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" "जीवो ब्रह्मैव नापरः" इन स्मृतियों के अनुसार शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है उसको भी अपने शिकञ्जे में डालकर मुग्ध किया करती है अतः प्रयोजक व्यापार अर्थ वाले णिच प्रत्यय का प्रयोग किया गया है। १३।

देव (जीव) ने देवन करने के लिए जिसको स्वीकार कर लिया है अतएव दैवी तथा सत्वादि गुणों वाली यह मुझ सर्वेश्वर की अचिन्त्य एवं प्रधान शक्ति माया बड़ी दुरत्यय है इसका अत्यय नाश करना बड़ा कठिन है अतः जो योगी जन मुझको शरण बनाते हैं मुझको रक्षक बनाते हैं या मेरी शरण में आते हैं यानी मेरे घर में आते हैं। [यहाँ 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इस कोष के अनुसार घर और रक्षक ये दो अर्थ शरण शब्द के हैं।] वे इस माया को तरते हैं अर्थात् माया के परपार में रहने वाले मुझको प्राप्त करते हैं। १४।

माया ने जिनके ज्ञान का अपहरण कर लिया है अतएव माने ज्ञान से शून्य होने से किंकर्त्तव्य विमूढ होकर आसुरी प्रवृत्ति का आश्रय करके दुष्कर्म करते हैं वे नराधम मुझको नही प्राप्त करते हैं। मेरी प्रपत्ति यानी मेरी शरण में नहीं आपाते हैं। १५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ! ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥१६॥

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥

बालक्रीड़ा

हे अर्जुन ! चार प्रकार के प्राणी मेरा भजन करते हैं। एक वे हैं जो आर्त हैं सूकर कूकर कीट पतङ्ग एवं दुःख दारिद्रय रोग आदि संसारी बाधाओं से पीडित होकर कराह रहे हैं। दूसरे वे हैं जो जिज्ञासु हैं तत्त्व को जानने की खोज में लगे हुए हैं। तीसरे वे हैं जो अर्थार्थी हैं यानी उत्कट ऐश्वर्य को प्राप्त करना ही जिनका अर्थ है प्रयोजन है। पूरे या पक्के मतलवी हैं। अतः धन कमाना ही जिनका लक्ष्य है। चौथे वे हैं जो ज्ञानी हैं समझदार हैं। आत्मा एव अनातम वस्तुओं का विवेक करते हैं। काम क्रोध आदि दुर्वासनाओं से दूर ही रहते हैं। हे भरत वंशियों में श्रेष्ठ ! ये चारों ही जन सुकृती हैं पुण्यात्मा हैं क्योंकि विना सुकृत के परिपाक हुए मुझमें प्रीति नही होती है ॥१६॥

इन चारों में ज्ञानी नित्य युक्त है अर्थात् निश्चित योगी है क्यों कि वह एक भक्ति यानी अखण्ड भक्ति अनन्यभाव करने के कारण उत्तम है। जिसके फलस्वरूप मैं ज्ञानी का अतीव प्रिय हूं और वह भी मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥१७॥

वैसे तो ये सभी उदार हैं; उदारो दातृ महतोः इस कोष के अनुसार महान् हैं या दानी हैं मेरे लिए उन्होंने अपने आप को अर्पित कर दिया है। किन्तु ज्ञानी तो मेरी आत्मा ही है मेरा स्वरूप ही है। क्यों कि उसकी आत्मा उसका मन युक्त है। समाधिस्थ है। उसी का फल है कि जिससे उत्तम गन्तव्य प्राप्तव्य कोई नही है उस मुझ में वह आस्थित है। अर्थात् निष्ठा रखता है ॥१८॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥
कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥
यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते ।
लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हितान् ॥२२॥

बालक्रीड़ा

वहुत जन्मों के बाद यानी वहुत जन्मों के साधनों के अनन्तर यह ज्ञान माने 'ब्रह्मैवेदमखिलम्, यह सव कुछ ब्रह्म ही है इस श्रुति के अनुसार जो कुछ है वह सव वासुदेव ही है वासुदेव से अन्य कुछ नहीं है ऐसा अनुभव करने वाला ज्ञानवान् मुझको प्राप्त कर लेता है। वह महात्मा है यानी जिसके आत्मा में अन्तःकरण में यह सव अनुभव गोचर वस्तु वासुदेव के स्वरूप में समा गया है अतएव वह अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसा प्राणी मिलना वड़ा कठिन है। १९।

उन-उन कामनाओं से हृतज्ञान हुए माने विह्वल हुए प्राकृत जन मुझसे अन्य देवताओं की शरण में जाते हैं। अतएव अपनी प्रकृति के वश होकर कामनाओं के अनुसार नियमों का भी पालन करते हैं। २०।

जो-जो भक्त जिस-जिस शरीर की यानी जिस जिस देवता के रूप में मेरी श्रद्धा से पूजा करना चाहता है उस उस भक्त की उसी श्रद्धा को मैं अचल कर देता हूं। २१।

उस श्रद्धा से युक्त वह भक्त उस देवता के रूप में मेरी आराधना करता है। अतः उस आराधित देवता के रूप में मेरे द्वारा दिये गये अपनी कामना के अनुकूल फलों को प्राप्त करता है। अर्थात् उस देवता की भावना से आराधना किया गया मैं ही सव रूपों से सब जगह रहने वाला अतः सवका अन्तर्यामी एक परमात्मा श्रद्धा के अनुरूप आराधकों को फल देता हूं। ॥२२॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम् ।
देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥

बालक्रीड़ा

देवताभेद से मेरा ही भजन करनेवाले होते हुए भी सर्व व्यापक की एक देश में भावना करने से वे अल्प दृष्टि हैं। इस कारण से उनके वे फल अन्तवत् माने अल्प होते हैं। यहां का भाव यह है कि फल की वासना को छोड़कर भी भजन करने वालों को भेद बुद्धि से उपासना करने के कारण अल्प फल मिलता है। जिसके फल स्वरूप देवता की बुद्धि से भजन करने वाले देवता का सायुज्य प्राप्त करते हैं और मुझ अनन्त का भजन करने वाले भक्त लोग मुझ अनन्त को प्राप्त करते हैं। यद्यपि भजनीय एक है तद्यपि भावना भेद से फल भेद होता है। इस सिद्धान्त को यहाँ बतलाया है ॥२३॥

अल्प बुद्धि बाले लोग मेरे अनुत्तम याने सबसे श्रेष्ठ एवं अव्यय अविनाशी उत्कृष्ट भाव को नही जानते हैं अत एव वे मुझको ऐसा मानते हैं कि मैं अव्यक्त हूं अप्रकाशित हूं और व्यक्त होता हूं अर्थात् जन्म लेता हूं। अथवा

अल्पबुद्धि वाले लोग अव्यक्त अप्रकाशित रूप से रहने वाले मुझको जन्म लेने वाला मानते हैं। वे लोग मेरे व्यक्ति माने देह से परे रहने वाले और जिससे उत्तम और दूसरा नही है ऐसे अविनाशी उत्कृष्ट स्वरूप को नही जानते हैं ॥२४॥

योग माया के वैभव से समावृत हुआ मैं सबके प्रकाश की वस्तु नही हूं अर्थात् सबके प्रत्यक्ष होने वाला पदार्थ नही हूं। इसलिए यह मूढ लोक मुझको ऐसा नही मानता है कि मैं अज हूँ और अव्यय हूं अर्थात् जन्म एव मरण से रहित हूं ॥२५॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ! ।
भविष्याणि च भूतानि, न तु माँ वेद कश्चन ॥२६॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ! ।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप ! ॥२७॥
येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥
जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।

बालक्रीड़ा

हे अर्जुन मैं उन सब भूतों को जानता हूं जो हो चुके हैं और जो भविष्य में होने वाले हैं तथा जो वर्तमान में सामने दिखाई पडते हैं। किन्तु मुझे कोई नही जानता है ॥२६॥

प्रश्न—क्यों नहीं आप को जानते हैं और यदि नही जानते हैं तो आप की इतनी प्रसिद्धि कैसे हैं। उत्तर—हे अर्जुन ! यह प्राणिमात्र जन्म काल में ही इच्छा और द्वेष से उत्पन्न होने वाले सुख, दुःख, हित, अहित, भूख प्यास आदि के द्वन्द्व से मोह को प्राप्त हो जाता है इस लिए यह आत्म तत्त्व को नही पहिचानता है ॥२७॥

किन्तु जिन योगियों के अनेक जन्म के संचित पुण्य कर्मो से पाप का अन्त हो चुका है वे सुख दुःख नामक द्वन्द्वों से होने वाले मोह से निर्मुक्त हुए दृढता के साथ व्रतों का नियमों का पालन करते हुए मेरा भजन करते हैं अतः वे मुझे पहिचान लेते हैं ॥२८॥

इस लिए जो योगी जरा अवस्था एवं मरण रूप दुःख की निवृत्ति के लिए मेरा आश्रयण करके मेरा सहारा लेकर यत्न करते हैं वे सम्पूर्ण तत्पदार्थ ब्रह्म को एवं अध्यात्म में माने शरीर में स्थित सम्पूर्ण त्वं पदार्थ को तथा सम्पूर्ण कर्म माने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥२९॥

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।

प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥३०॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

बालक्रीड़ा

तत्पदार्थ और त्वंपदार्थ के ज्ञान के उपयोगी साधन श्रवण मननादि को जानते हैं ॥२९॥

हे अर्जुन ! जो योगी अधिभूत सहित अधिदेव सहित और अधियज्ञ सहित मुझको जानते हैं वे युक्त चित्त हैं माने समाधि में मन का निग्रह कर लेते हैं अतः प्रयाण के समय में भी जिस समय वात पित्त एव कफ की भयंकरता से कण्ठ के अवरुद्ध हो जाने से भगवान् को स्मरण करना असम्भव है उस समय में मुझ को जान जाते हैं याद कर लेते हैं ॥३०॥

इस प्रकार श्रीमधुसूदनशास्त्री की कृति "श्रीमद्भगवद् गीता के सप्तम अध्याय की बालक्रीडा हिन्दी टीका समाप्त हो गई ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथाष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ! ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ! ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

बालक्रीड़ा

अथ अब गीता के अष्टम अध्याय का आरम्भ करते हैं :

अर्जुन बोले हे पुरुषोत्तम ! जिस ब्रह्म को जान लेने से प्राणिमात्र जरा मरण रूपी दुःखों से छूट जाते हैं वह ब्रह्म क्या है और उसके उपकरण अध्यात्म क्या है, तथा कर्म क्या है । अधिभूत किसको कहा है और अधिदेव किसे कहते हैं अर्थात् इनका स्वरूप क्या है । यहां का भाव यह है कि क्या ये सब उपासना के लिए कल्पित की गई कोई वस्तु हैं या परमार्थ सत्य ज्ञेय वस्तु हैं ॥१॥

हे मधुसूदन ! इस शरीर में कौन वस्तु किस प्रकार से अधियज्ञ हैं तथा अपने मन का नियमन करने वाले योगी लोग प्रयोण काल में मरने के समय में कैसे तुम को जानें ॥२॥

श्री भगवान् बोले हे अर्जुन ! अक्षर विनाश रहित वस्तु आत्मतत्त्व है परमार्थ वस्तु है उसी को पर ब्रह्म कहते हैं । गुणों से स्वतः परिणत होने वाले अपने भाव को अध्यात्म कहते हैं उन्हीं गुणों को भूत भाव में परिणत करने वाला जो विसर्ग है उसकी कर्म संज्ञा है यही गुणों का परमार्थ स्वरूप है । यहाँ स्वभाव एवं विसर्ग शब्द की विचित्र व्याख्यायें टीकाकारों ने की हैं उनको समीक्षा में दिखायेंगे ॥३॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ! ॥ ४ ॥

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामिवैष्यस्यसंशयम् ॥ ७ ॥

बालक्रीड़ा

क्षर भाव अर्थात् उत्पत्ति और विनाश के होने का नाम अधिमूत है । पुरुष पुरुषोपाधिक लिङ्ग का नाम अधिदैवत है । हे देहधारियों में श्रेष्ठ अर्जुन ! इस देह में अधियज्ञ माने भोक्ता के रूप से यज्ञ का उद्देश्य मैं ही हूं । यज्ञो वै विष्णुः ॥४॥

जो योगी अन्त काल में मेरा ही अर्थात् अन्य वृत्तियों को रोक कर मेरा ही स्मरण करता हुआ शरीर का त्याग कर प्रयाण करता है वह मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेता है इसमें कोई संशय नही है ॥५॥

हे कौन्तेय ! प्राकृत जन भी जिस २ भाव का स्मरण करता हुआ अन्त काल में कलेवर का त्याग करता है वह उसी भाव को प्राप्त करता है । और जो तो सदा तद्भाव से भावित है वह उस भाव को प्राप्त करता है इसमें तो कहना ही क्या है ॥६॥

इसलिए तुम सम्पूर्ण काल में मेरा स्मरण करो और युद्ध करो । अपने मन और बुद्धि को मुझे अर्पित कर दो मुझको प्राप्त कर लोगे । क्यों कि जिसने अपने मन एवं बुद्धि को मेरे लिए अर्पण कर दिया है वह निः संशय मुझे प्राप्त कर लेता है ॥७॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

बालक्रीड़ा

हे पार्थ ! जो योग के अभ्यास से युक्त सावधान या स्थिर है और जिसका मन दूसरे २ भावो में असंलग्न अत एव दिव्य परम पुरुष का चिन्तन करने वाला है वह योगी उसी पुरुष में मिल जाता है ॥८॥

प्रयाण करने के समय योग के बलसे स्थिर किये हुए मन से भ्रुकुटी के मध्य में प्राणों को सम्यक् प्रकार से आविष्ट कर के जो भक्त-कवि, सर्वज्ञ, पुराण पुराने होते हुए भी नये अर्थात् सदा एक रस, अनुशासक, अणु से भी अणु, सम्पूर्ण पदार्थों के पोषण करने वाले आदित्य के समान प्रकाशमान, तम से परे एवं जिसका रूप अचिन्त्य है उसका स्मरण करता है वह भक्त उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त कर लेता है ॥९।१०॥

वेदवेत्ता जिसको अक्षर कहते हैं यत्नशील योगी राग द्वेष रहित होकर जिसमें अपने को लगा देते हैं । जिसको प्राप्त करने की इच्छा से ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन करते हैं उस परमपद को अर्थात् प्राप्ति के योग्य स्थान को तुम से संक्षेप में कहूंगा । ११ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥ १२॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥ १३॥
अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः॥ १४॥
मामुपेत्य पुनर्जन्म दुखालयमशाश्वतम्।

बालक्रीड़ा

मन के द्वारा श्रोत्रादि सम्पूर्ण इन्द्रियों को विषयों से हटाकर मन का हृदय कमल में निरोध करे और अपने प्राणों को मस्तक में वायु के दशम द्वार में ठहरावे। इस तरह योग की धारणा में आस्थित हुआ परमात्मा के मुख्य नाम और मुख्य प्रतीक ओंकार का उच्चारण करता हुआ तथा प्रणव के अर्थ मुझको स्मरण करता हुआ जो योगी देह का त्याग कर प्रयाण करता है उसे उत्तम गति मिलती है। १२।

जो योगी अनन्य भाव से यानी और सबको छोड़कर मेरे सिवाय अन्य यावदनात्मदार्थों की भावना नही करके नित्य एक रूप से निरन्तर अखण्ड धारणा से मेरा स्मरण करता है। ऐसे नित्य युक्त योगी के लिए हे पार्थ ! मैं सुलभ हूं। अचिन्त्य रूप होता हुआ भी सुलभ हूं। १३।

परम सिद्धि को प्राप्त करने वाले महात्मा मुझको पा कर फिर दुःखों के स्थान बार-बार होने वाले जन्म को नहीं पाते हैं। १४।

हे अर्जुन ! ब्रह्मा हिरण्य गर्भ के लोक पर्यन्त सम्पूर्ण लोक पुनरावर्तन शील हैं। यहाँ का भाव यह है कि सभी पदार्थ नीचे अग्नि के किरणों में और ऊपर सूर्य के किरणों में बँधे हुए हैं। अग्नि अपने तेज से नीचे की तरफ आकृष्ट करता हुआ पदार्थ को स्थूल बनाकर स्फुट सत्ता वाला दृश्य बनाता है सूर्य अपनी किरणों के द्वारा खींच कर पदार्थ को सूक्ष्म बना कर सार युक्त करता है। इन दो किरणों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ! ।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥
सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

बालक्रीड़ा

में आकर्षण के समय मुठभेड होने से तीसरा तेज विद्युत् पैदा होता है जो इन दोनों किरणों के द्वारा आकृष्ट पदार्थ का विभाग कर नियत देश पर पहुँचाता है । १५ ।

इनके आने जाने के क्रम को वेदों में निरूपण किया है इस तरह आवर्त्तन शील जगत् में सम्पूर्ण प्राणी आते-जाते रहते हैं किन्तु मुझको प्राप्त करने के वाद हे कौन्तेय ! पुनरावर्त्तन पुनर्जन्म नहीं होता है । १६ ।

ब्रह्मा हिरण्य गर्भ का जो एक दिन है उसका अन्त माने निर्णय कारी माप दण्ड हजार युग है और जो एक रात्रि है उसका अन्त माने निर्णय कारी माप-दण्ड भी हजार युग है । ऐसा जो जानते हैं वे दिन और रात्रि के परिमाण को जानते हैं । जो तो दिन एवं रात्रि के परिणाम को सूर्य एवं चन्द्रमा की गति के द्वारा जानते हैं वे अल्प ज्ञानी हैं अतः वे उनके मापदण्ड को नहीं जानते हैं । यहाँ का भाव यह है कि मनुष्यों का जो एक वर्ष का समय है वह देवताओं का एक अहोरात्र है माने एक दिन एवं एक रात्रि है । उतने दिन एवं रात्रियों के पक्ष एवं मासों की कल्पना करने से जो क्रमशः वारह हजार वर्ष हो जायेंगे उन वारह हजार वर्षों का नाम (कृत त्रेता द्वापर एवं कलि) चार युग होगा । इन हजार युगों से ब्रह्मा का एक अहोरात्र वनता है । १७ ।

ब्रह्मा हिरण्य गर्भ के दिन के आरम्भ के समय में अव्यक्त से सम्पूर्ण व्यक्तियों का प्रभव उत्पत्ति होती है । और उसकी रात्रि के आरम्भ में उसी अव्यक्त में वे लीन हो जाते हैं । भिन्न-भिन्न टीका कार ने अव्यक्त के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं उनको समीक्षा में देखने का कष्ट पाठक गण करें । १८ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ ! प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥
परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥
पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यान्तः स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥
यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ! ॥ २३ ॥

बालक्रीड़ा

कर्मों के वश हुआ अत एव अस्वतन्त्र वही यह भूतग्राम प्राणिसमूह वारम्वार हो होकर ब्रह्मा की रात्रि के आरम्भ में लीन हो जाता है और ब्रह्मा के दिन के आरम्भ में हे पार्थ ! पैदा हो जाता है । १९

किन्तु चराचर स्थूल प्रपञ्च का कारण हिरण्यगर्भ नामक जो अव्यक्त है । उससे परे दूसरा जो सनातन अव्यक्त भाव है पदार्थ है वह सम्पूर्ण भूतों के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है । २० ।

जिस अव्यक्त को अक्षर ऐसा कहा है माने जिस अव्यक्त की अक्षर संज्ञा कहीं है उस अक्षर संज्ञक अव्यक्त को परमा गति कहा है । जिसको प्राप्त कर जहाँ पहुँच कर फिर नहीं लौटता है वह मेरा परम धाम है तेजः स्वरूप है । २१ ।

हे पार्थ ! सम्पूर्ण भूत जिसके अन्तः माने भीतर में स्थित हैं और जिससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है वह पर पुरुष अनन्य भक्ति से लभ्य है अर्थात् "मेरो तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई रे" ऐसा जिसका भाव होता है वही प्राणी उस परम पुरुष को प्राप्त करता है । २२ ।

जिस समय में इस संसार को छोड़कर गये हुए लोग वापिस लौटकर आते हैं और जिस में नहीं आते हैं उस समय को मैं हे भरतर्षभ ! तुमको कहता हूं । २३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥ २६ ॥

बालक्रीड़ा

जहाँ पहुंचे हुए ब्रह्मज्ञानी जन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं वह ज्योतिः स्वरूप अग्नि है दिन है शुक्ल पक्ष है और छ महीनें उत्तरायण है। मकर संक्रान्ति जिस क्षण में होती है उसी क्षण से उत्तरायण का आरम्भ होता है। अतः उत्तरायण में दिन में शुक्लपक्ष और ददीप्यमान अग्नि में भस्मीभूत हुआ ब्रह्मज्ञानी पुरुष फिर लौटकर नहीं आता है। क्योंकि वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। भीष्मपितामह उत्तरायण कालकी प्रतीक्षा में छ महीने तक शरशय्या पर ही लेटे रहे। उत्तरायण आने पर शरीर का त्याग किया। क्योंकि वे समझते थे कि इस समय में मरे हुए का पुनर्जन्म नहीं होता है। २४।

धूममय धूमायित अग्नि. में रात्रि में कृष्ण पक्ष में छ महीने दक्षिणायन में मरा हुआ योगी चन्द्र की ज्योति को प्राप्त करके भी क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति के अनुसार पुण्य क्षीण होने पर पुनः वापस लौट आता है वह पुनर्जन्म लेता है। २५।

ये शुक्ल एवं कृष्ण नामक दो गतियाँ जगत् की होती हैं ये शाश्वत हैं इनमें शुक्ल नामक एक गति में जाने वाले की आवृत्ति नही होती है अर्थात् उसका पुनर्जन्म नही होता है। कृष्ण नामक दूसरी गति से जाने वाले की आवृत्ति होती है उसको पुनर्जन्म लेना पड़ता है। इस शुक्ल नामक गति को देवयान कहते हैं। 'यही अर्चिरादि मार्ग है। और इस कृष्ण नामक गति को पितृयाण कहते हैं यही धूम्रादि मार्ग है।। २६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नैते सृती पार्थ ! जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ! ॥ २७ ॥
वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अक्षरब्रह्मयोगो
नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

बालक्रीड़ा

हे पार्थ ! इन शुक्ल एवं कृष्ण नामक गतियों को जानने वाला कोई भी योगी मुग्ध नहीं होता है। मोह से ग्रस्त नहीं होता है। इस लिए हे अर्जुन ! तुम सभी कालों में समत्व बुद्धि रूप योग में लग जाओ जिससे मोह को प्राप्त नहीं हो ओगे। २७।

इन गतियों का जानकार योगी वेदों के अध्ययन से, यज्ञ यागादि क्रियाओं के करने से, तप के अनुष्ठान से एवं दान देने से होने वाले सम्पूर्ण पुण्य फलों को अतिक्रमण करके अर्थात् इन अध्ययनादि से होने वाले भौतिक सुख समृद्धि का त्याग करके सब से प्रथम और सबसे उत्कृष्ट स्थान को प्राप्त करता है ॥२८॥

इति श्रीमधुसूदनशास्त्री की कृति गीता के अष्टम अध्याय की हिन्दी टीका बाल क्रीडा समाप्त हुई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ अब सप्तम एवं अष्टम अध्यायों की सम्मिलित समीक्षा ।

बालक्रीड़ा

अब इन दोनों अध्यायों की सम्मिश्रता समीक्षा की दृष्टि से करते हैं अतः समीक्षा भी सम्मिलित ही होगी ।

एतत् । अपरा और परा ये दो प्रकृतियां सम्पूर्ण भूतों की योनि हैं कारण हैं । यहां भूत पद का क्या अर्थ है । क्यों कि आकाश वायु तेज जल एवं भूमि ये पञ्च महाभूत यदि भूत पद के अर्थ हैं तब तो अपरा प्रकृतिरूप ये भूत अपने ही अपने के योनि कारण हुए और यदि भूत पद से जीव लेते हैं तब परा प्रकृतिरूप ये जीव अपने ही अपने के योनि कारण हुए । अतः प्रश्न होता है कि भूत पद का क्या अर्थ है । ये उपर्युक्त सभी चेतन और अचेतन भूत हैं भवनधर्मा हैं जनिमान् उत्पत्तिशाली है । (सभी के माने जो हो चुके जो हो रहे हैं और जो होगें) यह पूर्वार्ध की कथा है ।

अहम् । यह उत्तरार्ध है । यहां सभी टीकाकारों ने अवच्छदेकावच्छेदेन इसके अर्थ में गड़बड़ी करी है । मैं भगवान् सम्पूर्ण जगत् का प्रभव हूं उत्पादक हूं । यहां सम्पूर्ण जगत् में प्रकृति भी हैं अतः इनके भी उत्पादक भगवान् हुए परन्तु प्रकृति को गीताओं में अनादि कहा है कारण रहित कहा है । जैसे प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्धि अनादी उभावपि । तथा अजामेकाम् यह श्रुति भी प्रकृति को अनादि कहती है । अतः गड़बड़ है ।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।

यहां काम राग की जगह में काम क्रोध विवर्जितम् या राग द्वेष विवर्जितम् कहना चाहिए । लभते च ततः कामान् ७।२२ में काम का अर्थ इष्ट है क्यों कि काम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

के अन्तर्गत ही राग है। और राग इच्छा विशेष है काम भी इच्छा है दोनों एकार्थक है अतः क्रोध या द्वेष छूट जाते है इनका यहां पद्य में रहना बहुत आवश्यक है। क्यों कि बलवान् का हृदय यदि क्रोध (द्वेष के कार्य) या द्वेष (क्रोध के कारण) से युक्त रहेगा यानी विवर्जित नहीं होगा तो उस का बल अनर्थकारी हो जायेगा। इच्छाद्वेषसमुत्थेन इस आगे ७।२७ श्लोक में कहा भी है।

देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।

यहां यजन और भजन समान कोटि में है समान अर्थ में है। देवताओं का यजन करने वाले देवताओं को मेरा यजन करने वाले मेरे को पाते हैं या उन्हें भजने वाले उन्हें और मुझे भजने वाले मुझे प्राप्त करते हैं।

अब द्वितीय अध्याय के ४० वें श्लोक व्यवसायात्मिका से आरम्भ करके १८ वें अध्याय के ५४ वें श्लोक ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा तक में जहां जहां आत्मशब्द का प्रयोग हुआ है वहां वहां उनके अर्थो का विचार इस लिए करते हैं कि टीकाकारों की बड़ी ऊँची उड़ान का प्रदर्शन किया जाय।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः। २।४१ यहां आत्मा शब्द का स्वरूप अर्थ है अतः बुद्धि व्यवसायस्वरूपा व्यवसायात्मिका हुई।

कामात्मानः २।४३ यहां आत्मा का अर्थ मन है। कामो में विषयेन्द्रिय जनित सुखों में आत्मा है मन है जिनका ऐसा अर्थ है तत्वप्रकाशिका। काम माने काम्यमान विषय आत्मा माने चित्त है अतः उस चितवाले पुरुष काममय हैं मधुसूदनी। काम इच्छा वेग है आत्मा में बुद्धि में जिनके ऐसे विषयभोगलम्पट मीमांसक कामात्मा कामी हैं। यहां आत्मा माने बुद्धि है शंकरानन्दी। आत्मा चित्त है श्रीधरी। यही सदानन्दी में है। काम में आत्मा अन्तः कारण है जिनका भाष्योत्कर्षदीपिका। आत्मा चित्त परमार्थ-प्रपा। आत्मा मन या चित्त राघवेन्द्री। कामात्मा कामस्वभाव अर्थात् कामपर शांकर-भाष्य। कामात्मा कामप्रवणमना रामानुजभाष्य। कामात्मा कामनाओं से युक्त आत्मा स्वरूप वाले अमृततरङ्गिणी। कामात्मा कामग्रस्तचित्त नीलकण्ठी।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मवान् २।४५ आत्मवान् अप्रमत्त शांकरभाष्य। आत्मवान् आत्मस्वरूपान्वेषणतत्पर रामानुजभाष्य। आत्मवान् आत्मज्ञानवान् अमृततरंगिणी। आत्मवान् जितचित्त नीलकण्ठी। आत्मा परमात्मा ध्येयो यस्य सः तत्वप्रकाशिका। यही अर्थ मधुसूदनी में है। आत्मवान् आत्माकारबुद्धिमान् शंकरानन्दी। आत्मवान् अप्रमत्त श्रीधरी। आत्मा परमेश्वर ध्येय है सदानन्दी। आत्मवान् अप्रमत्त भाष्योत्कर्ष। आत्मवान् सावधान परमार्थप्रपा। आत्मवान् आत्मविषयकस्मृतिमान् राघवेन्द्री। आत्मनिष्ठ वालगंगाधर तिलक।

आत्मन्येव आत्मना २। ४

आत्मा में प्रत्यगात्मस्वरूप में। आत्मा से अपने से हनुमत्पैशाचभाष्य। शांकरभाष्य में भी यही अक्षर ज्यों के त्यों है। आत्मा मे ही परमानन्द रूप में ही न कि आत्मा से भिन्न तुच्छ वस्तु में। आत्मा से स्वप्रकाश चिद्रूपसे मालूम पड़ने वाले न कि वृत्ति से मधुसूदनी। भाष्योत्कर्ष में भाष्य के ही अक्षर हैं। आत्मा में अखण्ड एक रस में। आत्मा से अपने ही से अर्थात् स्वरूपानन्द से नीलकण्ठी। आत्मा में परमात्मा में। आत्मा से परमात्मा से। आनन्दतीर्थ। आत्मा से आत्मा में इन पदों का अर्थ कोई जीव करता है। या आत्मना यह तृतीयान्त पद मन का वोधक है यह दोनों ही कथन असत् हैं। परमात्मा में परमात्मा से यही इन दोनों पदों का अर्थ है जयतीर्थ। आत्मा में अपने में आत्मा से मन से आत्ममात्र के आलम्बन से रामानुजभाष्य। आत्मा में ही अपने स्वरूपभूत आत्मा में ही। आत्मा से अपने ही जीवात्मस्वरूप से अपने आप उसके साथ एकता की स्फूर्ति होने से अमृततरंगिणी। आत्मा में प्रजापति के द्वारा बतलायी हुई विद्या से पापों के नष्ट होने पर शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप में। आत्मा से कामादिवासनाओं से उत्पन्न होने वाले मलों के छूट जाने से निर्मल हुए मन से तत्त्वप्रकाशिका। स्वतः सिद्ध कूटस्थ असङ्ग चिद्रूप चक्षुर्ग्राह्य रूप की तरह सर्वत्र उपलभ्यमान आनन्दैक स आत्मा में स्वस्वरूप में क्रीडा करता हुआ रमण करने वाला। आत्मा से अपने स्वरूप से स्वात्मानन्दरूप रस की अनुभूति से शंकरानन्दी। आत्मा में ही अपने में ही परमानन्द में ही। आत्मा से स्वयमेव श्रीधरी। सदानन्दी में मधुसूदनी के ही अक्षर ज्यों के त्यों हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परमार्थप्र ा में श्रीधरी के ही प्रकार हैं। आत्मा में ही परमात्मा में व्यवस्थित अर्थात् एकचित्त हुआ। आत्मा मे प मात्मा से अर्थात् उसके प्रसाद से राघवेन्द्री।

आत्मवश्यैः, विधेयात्मा २।६४ दोनों जगह में आत्मा का अर्थ है मन शांकरभाष्य परमार्थप्रपा मधुसूदनी सदानन्दी। श्रीधरी। नीलकण्ठी। भाष्योत्कर्ष। आनन्दतीर्थ। जयतीर्थ। रामानुजभाष्य, राघवेन्द्री। विधेयात्मा विधेय है वशवर्त्ती है आत्मा भगवान् जिसके। आत्मा के अपने वश में अथवा आत्मा के भगवान् के वश में अमृततरंगिणी। आत्मा अपने वश में रहने वाले। शंकरानन्दी। हनुमत्पैशाचभाष्य। इति द्वितीयाध्याय समाप्त हुआ।

अब तृतीयाध्याय का आरम्भ।

विमूढात्मा ३।६ अहंकारविमूढात्मा ३।२७ आत्मा मन तत्वप्रकाशिका शंकरानन्दी। अन्तःकरण शांकरभाष्य। मधुसूदनी। नीलकण्ठी। आत्मा चित्त भाष्योकर्ष। आत्मा बुद्धि श्रीधरी। विमूढात्मा भ्रान्त राघवेन्द्री। विमूढात्मा अविद्वान् अमृततरंगिणी। भाष्यकारने एवं मधुसूदन ने लिखा है कि अहंकार से विमूढ आत्मा अन्तःकरण जिसका हो वह अहंकारविमूढात्मा है। यहां प्रश्न होता है कि अन्तःकरण का अर्थ है मन बुद्धि चित्त एवं अहंकार। जब अहंकार भी अन्तः कारण का अर्थ है तब अहंकार से विमूढ अहंकार अर्थ होगा। ऐसी हालत में इन पदों की संगति कैसे होगी।

आत्मकारणात् ३।१३ आत्मा स्व अपने नीलकण्ठी। तत्वप्रकाशिका राघवेन्द्री आत्मा स्वोदर शंकरानन्दी, भाष्योत्कर्ष। आत्मा पिण्ड शरीर परमार्थप्रपा।

आत्मरतिः। आत्मतृप्तः आत्मतुष्टः ३।१७ रति तृप्ति तुष्टि ये तीनों मनके धर्म हैं अतः आत्मा परमानन्द का साक्षात्कार करने वाला आत्मरतिमान् आत्मतृप्तिमान् एवं आत्मतुष्टिमान् है यह कथन उपचार है मधुसूदन। आत्मज्ञाननिष्ठ व्यक्ति की अपने में ही रति तृप्ति एवं तुष्टि होती हैं शांकरभाष्य। रति परदर्शनादि निमित्त सुख। तृप्ति तदतिरिक्त में अलंप्रत्यय वस वस ऐसा लोकभाषा में जिसके विषय में कहा जाय। संतोष तृप्ति का कारण सन्तोषस्तृप्तिकारणम्। आनन्द माध्वभाष्य। रति विषयासक्ति। तृप्ति विषय विशेष के सम्पर्क से होनेवाला सुख। सन्तोष अभीष्ट विषय के मिलने से होने वाला सामान्य सुख आनन्दगिरि। आत्मा में भगवान्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में रति। आत्मा से भगवान् रूप आनन्द से तृप्ति। आत्मा में भगवान् में तुष्टि। अमृततरंगिणी। आत्मा से परमानन्द से तृप्ति तुष्टि। परमानन्द में भगवान् में रति नीलकण्ठी। आत्मा में स्वात्मभूत भगवान् में रति। आत्मा से स्वात्मभूत भगवान् से तृप्त। आत्मा में आत्मस्वरूप गुणाद्यनुभव से तृप्त। तत्वप्रकाशिका। आत्मा में नित्य आनन्दैकरस अद्वितीय परब्रह्म में रति अन्तःकरण का रमण क्रीडा विहार। आत्मा से आनन्दैकरस से तृप्त। आत्मा में चिदानन्दैकरस ब्रह्म में सन्तुष्ट शंकरानन्दी। आत्मा से स्वानन्दानुभव से तृप्ति निर्वृति श्रीधरी। आत्मा आत्मसुख सदानन्दी। आत्मरति आत्मतृप्त आत्मसन्तुष्ट यहां आत्मशब्द परमात्मा का वाचक है। अतः रतिमान् आत्मदर्शनजन्यसुखवान्। आत्मा से तृप्त परमात्म प्रसाद से तृप्त। आत्मा में परमात्मा में स्थिति से असंप्रज्ञात समाधि से सन्तुष्ट राघवेन्द्री।

अध्यात्मचेतसा ३।३० अध्यात्मा अन्तर्यामी तत्वप्रकाशिका मधुसूदनी सदानन्दी श्रीधरी, परमार्थप्रपा यह जो कुछ है सब आत्मा है (सर्वं यदयमात्मा) इस श्रुति के कारण आत्मा के लिये प्रवृत्त जो है वह अध्यात्म ज्ञान है राघवेन्द्री शंकरानन्दी। अध्यात्मविवेक शांकरभाष्य एवं भाष्योत्कर्ष। आत्मा परमात्मा के विषय का आनन्दतीर्थ माध्वभाष्य। जयतीर्थ। अध्यात्मचेतसा आत्मस्वरूपविषयक श्रुतिसिद्ध ज्ञान। रामानुजभाष्य। अध्यात्मचेतसा अध्यात्मभावेन मदाज्ञारूपेण अमृततरंगिणी। आत्मा के विषय का प्रतिपादक शास्त्र आत्मा माने मेरी आज्ञारूप श्रुतिस्मृतिरूपशास्त्र राघवेन्द्री। नीलकण्ठी

आत्मानम् आत्मना ३।४२

आत्मा मन। आत्मा से संस्कृतमन से। भाष्य। संस्कृत मन मन को समाधिस्थ करने में हेतु है इसको सूचित करने के लिए संस्तभ्य सम्यक् समाहित करके। आनन्दगिरि। आत्मा मन को। आत्मा से बुद्धि से। रामानुजभाष्य। आत्मा से अविकृत स्वरूप मन से आत्मा को अविकृतस्वरूप मन को। अमृत तरंगिणी। आत्मा को मन को आत्मा से मन से परमार्थप्रपा। राघवेन्द्री। नीलकण्ठी। आत्मा को मन को। आत्मा से सात्विकी बुद्धि से। प्रकाशिका। भाष्योत्कर्ष। श्रीधरी। सदानन्दी मधुसूदनी। आत्मा को काम के आश्रयभूत और कारण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूत अन्तः करण को। आत्मा से स्वस्वरूप से अन्तर्बहिःपूर्ण अखण्ड एक रस से शंकरानन्दी। इति तृतीयाध्याय समाप्त हुआ।

अथ चतुर्थाध्याय का आरम्भ करते हैं।

अव्ययात्मा। आत्ममायया ४।६

आत्मा स्वभाव। आत्मा की अपनी निज की। शांकर भाष्य। मधुसूदनी। श्रीधरी। शंकरानन्दी। आत्मा देह। आत्ममाया स्वज्ञान। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय इसमें प्रकृति का पृथक् कथन किया है अतः यहां मायाशब्द का अर्थ ज्ञान है इसमें प्रमाण है "केतुश्चित्तिश्चित्तं मतिः क्रतुर्मनीषा माया" यह कोष। आनन्दतीर्थ माध्वभाष्य। आत्मा स्वरूप एवं देह जयतीर्थ। आत्मा देह। आत्ममाया अपना ज्ञान। माया वयुनं ज्ञानम् इस निघण्टु के बल पर यहां ज्ञान का पर्याय माया शब्द है। मायया सततं वेत्ति प्राणिनाञ्च शुभाशुभम्। यह आभियुक्त का प्रयोग भी है। रामानुजभाष्य। प्रकृति द्रव्य है कर्म है यह माध्वमत है। लीला करने के योग्य देह अमृततरंगिणी। आत्मा शरीर। प्रकृति जीवात्मा की प्रकृति तेज आप अन्न स्वरूपा अथवा पञ्चभूतात्मिका है। भगवान् की अपनी प्रत्यगनन्या प्रत्यगभिन्ना। प्रकृति प्रत्यक्चैतन्य आत्मा की निजी अपनी नीलकण्ठी। आत्मा देह। स्वा प्रकृति अपना स्वभाव। आत्ममाया स्वसंकल्प। प्रकृति का अपनी वैष्णवी त्रिगुणस्वरूपा माया अर्थ ठीक नहीं है। क्योंकि भगवान् के 'जो मेरे दिव्य कर्म एवं दिव्य जन्म को जानता है' इस वाक्य से विरोध होता है यदि त्रिगुणात्मक माया से भगवान् का जन्म होगा और कर्म होगा तो उन में दिव्यत्व कैसे होगा। इसके सिवाय त्रिगुणमाया से बने हुए भगवान् के शरीर को मानेंगे तो शरीर भौतिक होगा और मिथ्या भी होगा अतः अपनी प्रकृति का ऐसा अर्थ किसी का कहा हुआ ठीक नहीं है। तत्त्वप्रकाशिका। प्रकृति अपनी चिदानन्दस्वभाव अतः अपने स्वरूप में अवस्थित है। सर्वदा एक रस नित्य अपनी महिमा में अवस्थित है। सदानन्दी। भाष्योत्कर्ष दीपिका में भाष्य के ही अक्षर हैं। किन्तु एक प्रश्न और उसका उत्तर लिखा है वह अटपटा है। जैसे– निर्गुण शुद्ध सच्चिदानन्दरसघन देह देहिभाव से शून्य भगवान् वासुदेव में देह देहिभावरूप से जो प्रतीति है वह केवल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

माया से है वास्तविक नहीं है। यह सिद्धान्त हुआ। इस पर प्रश्न होता है कि भगवान् का जो विग्रह है वह साकार है या निराकार है। यदि साकार मानते हैं तो निर्गुण का परिणाम यह कौन उक्ति है जब साकार है तब निर्गुण का परिणाम कहना कैसा। क्योंकि साकार का प्रतिद्वन्द्वी निराकार, सगुण का निर्गुण, सविकार का निर्विकार, सावयव का निरवयव, इत्यादि है। इनमें साकार, सगुण, सविकार एवं सावयव एक जोड़ीदार हैं और निराकार निर्गुण निर्विकार एवं निरवयव एक जोड़ीदार हैं अतः साकार लिखकर सगुण लिख सकते हैं किन्तु निर्गुण नही। इस लिए लिखना चाहिए कि सगुण का परिणाम है या विवर्त्त है। निर्गुण का या निरवयव का परिणाम कैसा। हां जो साकार है सगुण है सावयव है। या सविकार है तब उसका तो परिणाम हो ही सकता है। तब आद्ये साकारे निर्गुणस्य परिणामो वा उत विवर्त्तो वा यह लिखना अपपदार्थ है। फिर लिखते हैं कि द्वितीये साकारस्य विवर्त्त इति स्वीकारे मायाया विवर्तसाधिकाया आवश्यकत्वेन न मायिक इत्युक्तिरनुपपन्ना। द्वितीय पक्ष में माने साकार का विवर्त्त है ऐसा स्वीकार करने पर विवर्त को सिद्ध करने के लिए माया को अवश्य मानना है तब मायिक नहीं है ऐसा कहना अनुपपन्न है यहां यह अशुद्धि है कि मायिक नहीं है ऐसा किसने कहा क्योंकि यहां (मायामात्रमिदं न पारमार्थिकम्) यह केवल मायिक है पारमार्थिक नहीं है।

स्वा माने अपने में अध्यस्त शुद्ध सत्त्वरूपा प्रकृति। परमार्थप्रपा। आत्मा स्वरूपं देहञ्च। आत्मा स्वरूप है और देह है। इसमें प्रश्न होता है कि जो अनादि है अर्थात् जो पैदा ही नहीं होता है और नित्य है माने सिद्ध है सदा रहने वाला है उसकी देह से या स्वरूप से उत्पत्ति कैसी। उत्तर प्रकृतिमधिष्ठाय। यहां प्रकृति शब्द का अर्थ प्राकृत है। अतः प्राकृत माने प्रकृति से पैदा होने वाले वसुदेवादि में अधिष्ठान के माने अनुप्रवेश करके पैदा होता हूं। प्राकृत का दूसरा अर्थ करते हैं प्रकृति माने तमोरूप अपने स्वभाव का अधिष्ठान माने आश्रय लेकर इत्यादि राघवेन्द्री है। प्रकृति अपनी शुद्ध सत्त्वात्मिका का अधिष्ठान माने स्वीकार श्रीधरी।

आत्मानम् ४ । ७

आत्मा इसका अर्थ नहीं लिखा तत्वप्रकाशिका सदानन्दी। राघवेन्द्री। आत्मा देह मधुसूदनी। शंकरानन्दी। आत्मा को आपको भाष्योत्कर्ष। परमार्थप्रपा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यतचित्तात्मा ४।२१

आत्मा सेन्द्रिय देह तत्त्वप्रकाशिका। चित्त अन्तः कारण। आत्मा बाह्येन्द्रिय सहित देह मधुसदनी सदानन्दी। आत्मा देह शंकरान्दी। आत्मा शरीर श्रीधरी। परमार्थप्रपा। आत्मा बाह्य कारणकार्यसंधात भाष्योत्कर्ष।

आत्मसंयमयोगाग्नौ। ४।२७

आत्मा मन। संयम वृत्त्यन्तरवैमुख्य पूर्वक आत्मप्रवणीकरण ध्यानयोग्यता सम्पादन रूप योग। वही अग्नि है। तत्त्वप्रकाशिका। आत्मविषयक संयम माने धारण ध्यानसंप्रज्ञातसमाधित्रयस्यैक भवनम् संयम के परिपाक होने पर जो निरोधसमाधि होती है वही योग है। असंप्रज्ञात समाधि है मधुसूदनी। स्वस्वरूप आत्मा में संयमयोग माने मनोनिरोध समाधि। इस समाधिरूप अग्नि मे प्राणकर्म एवं इन्द्रियकर्मों का हवन करते हैं माने प्राणेन्द्रिय व्यापारों को रोककर सदा आत्मा की भावना करते है शंकरानन्दो। आत्मा में संयम माने जो ध्यानैकाग्रता है वही योग है श्रीधरी। आत्म संयमयोगाग्नि निर्विकल्प समाधि। सदानन्दी। आत्मा में संयम प्रविलापन है वही योग है भाष्योत्कर्ष। आत्मा का मन का संयमरूप योग ध्यानैकाग्र्य परमार्थप्रपा। आत्मा मन का जो संयम है वही योग है उपाय है आत्मा में संयम शांकरभाष्य। आत्मा प्राण आध्यात्मिक वायु है उस कर्म आकुञ्चन प्रसरणादि शांकर। आत्मा में चित्त में आनन्दगिरि। आत्मा मन जयतीर्थ। मनः संयम आत्मसंयम है रामानुज भाष्य। आत्मा की भगवान् की प्राप्ति के लिए जो संयम है नियमन हैं अमृततरंगिणी। आत्मा में बुद्धि मे जो संयम है वही योग है। नीलकण्ठी।

आत्मनि अथो मयि ॥ ४।३५

साक्षात् आत्मा प्रत्यगात्मा में। अथो का अर्थ अपि है अतः मुझ वासुदेव परमेश्वर में भी शांकरभाष्य। मुझ आत्मभूत में आनन्द तीर्थ माध्वभाष्य। आत्मभूत अन्तर्यामी में जयतीर्थ। स्वात्मा में अथो और मयि मुझ में रामानुजभाष्य। आत्मस्वरूप मुझ में अमृततरंगिणी। आत्मा में और मुझ में माने त्वंपदलक्ष्यार्थ से अभिन्नभूत परमेश्वर में नीलकण्ठी। आत्मा त्वंपदार्थ में। आत्मा के तुल्य समझोगे ऐसा भाव है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा ज्ञानस्वरूप है जो सब शरीरो में सम है अतः मुझ से विलक्षण कुछ नहीं है। अथो इसके बाद मुझ सर्वात्मा तत्पद के अर्थ वासुदेव भगवान् में। तत्वप्रकाशिका। आत्मा त्वंपदार्थ में अथो मुझ भगवान् वासुदेव तत् पद के अर्थ परमार्थतः भेदरहित सर्वाधिष्ठान भूत में। मधुसूदनी।

आत्मनि ४।३८

योगसंसिद्ध योग माने कर्मानुष्ठान अथवा समाधि से सिद्ध पुरुष आत्मा में यहां आत्मशब्द का पर्यायशब्दया अर्थ कुछ नहीं लिखा है शांकरभाष्य अनन्दगिरि। आत्मा में स्वात्मा में स्वयमेव रामानुजभाष्य। आत्मा में स्वयं स्वात्मस्वरूप से अमृततरंगिणी। स्वयमेव आत्मा में स्वान्तःकरण में तत्त्वप्रकाशिका। आत्मा में स्वयं अपने अन्तःकरण में मधुसूदनी। योग से माने ज्ञानयोग से अथ च तत्परता से नित्य निरन्तर की गयी समाधिनिष्ठा से संसिद्ध माने सम्पूर्ण वाह्यवासनाओं के निःशेष विनाश से समूल उन्मूलन से होने वाली स्थिति को प्राप्त हुआ पुरुष स्वयमेव स्वात्मा में स्वान्तः करण में शंकरानन्दी। स्वयमेव अनायासेन विना आयास से विना प्रयत्न से नीलकण्ठी। आत्मा में बुद्धि में सदानन्दी। स्वयमेव विना प्रयत्न के आत्मा में शुद्ध मन जैसा कि पञ्चाशीति में कहा है।

राहुरदृश्योऽपि सदा शशिविम्बस्थः प्रकासते जगति।
तद्वद्शुद्धे चित्ते प्रकाशमेति स्वय ह्यात्मा॥

राहु सदा अदृश्य ही है तब भी चन्द्र विम्ब में जगत् को जैसे दिखाई पडता है। उसी तरह योग कर्मानुष्ठान अथवा समाधि से शुद्ध हुए चित्त में यह आत्मा प्रकाशित होता हैं। परमार्थप्रपा।

संशयात्मसंशयात्मनः ४।४०

संशय फल, साधन, उपास्य, धर्म, गुरु, शास्त्र एवं गुरुवचन आदि विषयों के भेद से अनेक प्रकार के है। परम फल श्रेय मोक्ष है या स्वर्गादि हैं। परम फल श्रेय का साधन कर्म है या ज्ञान है। उस फल की प्राप्ति के लिए विष्णु की शिव की गणेश की या शक्ति की उपासना करें। धर्म वैदिक हो या तान्त्रिक हो या आगम प्राप्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो। गुरु निष्किञ्चन दरिद्र हो या धनाढय हो। गुरुवचन सत्य हो या असत्य हो। शास्त्र वेदान्त हो या और कुछ हो। इत्यादि। आत्मा मन तत्वप्रकाशिका परमार्थप्रपा आत्मा चित्त मधुसूदनी। शकरानन्दी। श्रीधरी। सदानन्दी भाष्यो: कर्ष आनन्दगिरि। अज्ञ माने ज्ञान से शून्य और ज्ञान साधनाओं से रहित अथवा ज्ञान विरोधि विपरीत ज्ञान। राघवेन्द्री

आत्मवन्तम् ४। ४१

आत्मवान् अप्रमत्त शांकरभाष्य आनन्दगिरि। कर्म गुणरूप से चेष्टा रूप से दृष्ट निबन्ध नही करते है माने अनिष्ट इष्ट एवं मिश्रफल को पैदा नही करते है। आत्मवान् मनस्वी रामानुजभाष्य। आत्मा की सेवा करने के लिए जिसने आत्मा को भगवान् को प्रकट कर लिया अतः आत्मवान् माने आत्मस्वरूपज्ञ अमृत तरंगिणी। आत्मवान् शमदमादि साधनों में तत्पर नीलकण्ठी। आत्मवान् तत्त्वविषय रूप से जिसका मन अवस्थित है। कर्म विधिविहित अथवा स्वाभाविक। तत्त्वप्रकाशिका। आत्मवान् अप्रमादी सर्वदा सावधान। कर्म लोकसंग्रह के लिए किये गये अथवा वृथा चेष्टा रूप। मधुसूदनी श्रीधरी। परमार्थप्रपा। आत्मवान् अप्रमत्त। कर्म संचित या आगामी। पक्षान्तर में आत्मवान् ब्रह्मवित् कर्म स्वप्न की तरह आत्मस्वरूप या जिनका प्रयोजन एकमात्र शरीर यात्रा निर्वाह करना ही है ऐसे देह को चेष्टा रूप शंकरानन्दी। आत्मवान् परमात्मा का भक्त। छिन्न संशय; आत्मा देहादि रूप है या उन देह इन्द्रिय प्राण चेष्टा से भिन्न है। भिन्न भी विभु है या अविभु है। विभु भी व्यापक है या सर्वमूर्त्तद्रव्य संयोगी है। अर्थात् मूर्त्तद्रव्येतर आकाश से संयोग जिसका नहीं हो वह है। वह कर्त्ता है या अकर्ता है। कर्त्ता भी भोगकर्त्ता है या भोगकर्त्ता नहीं है। अभोक्ता भी वह एक है या अनेक है। वह भी सविशेष सावयव सगुण साकार सगंध सविकार है या निर्विशेष निरवयव, निर्गुण, निराकार असगंध, निर्विकार है। कर्म से समुच्चित निर्विशेषज्ञान से मुक्ति है या केवल ज्ञान से है। प्रपञ्च भी सत्य है या मिथ्या है। मिथ्यात्व भी भावात्मक है या अभावात्मक है। इत्यादि।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानासिना आत्मनः ४।८२

आत्मविषयक ज्ञानाख्य खड्ग से तत्त्वप्रकाशिका। आत्मविषयक ज्ञान माने निश्चय मधुसूदनी। आत्मा माने अपने हृत् माने चित्त में रहने वाले संशय मुक्ति का साधन ज्ञान है या और कुछ। वह ज्ञान भी परोक्ष है या अपरोक्ष। ज्ञान से अविद्या एवं उसके कार्यों की निःशेष निवृत्ति होती है या नहीं। इत्यादि शंकरानन्दी। ज्ञान माने निर्विकार अद्वितीय परब्रह्म में अप्रतिबद्ध आत्मप्रत्यय मैं ब्रह्म ही हूं ऐसी अपनी समझ। शंकरानन्दी। आत्मा के माने अपने। सदानन्दी भाष्योत्कर्ष। परमार्थप्रपा राघवेन्द्री। शांकर भाष्य।

इति चतुर्थाध्याय समाप्त हुई

अथ पञ्चमाध्याय का आरम्भ करते हैं।

विजितात्मा, विशुद्धात्मा सर्वभूतात्मभूतात्मा ५।७

विशुद्ध आत्मा सत्व। विजित स्वाधीन आत्मा देह जिस योगी का आत्मा प्रत्यक्चेतन ब्रह्मादि स्तम्ब पर्यन्त सब भूतों का आत्मभूत है आत्मा स्वरूप है। वह सर्वभूतात्मभूतात्मा है अर्थात् सम्यग्दर्शी है। विशुद्ध आत्मा बुद्धि सत्व। विजित स्वाधीन आत्मा कार्यकारणसंघात देह। आनन्दगिरि। शांकरभाष्य। सर्वात्मभूतः परमेश्वरः। परमेश्वर सर्वभूतों का आत्मभूत कैसे है इसके उत्तर में कहते हैं। कि यत् आप्नोति आप्लृ व्याप्तौ से आप्नोति बनता है अतः इस निर्वचन के आधार पर जो सर्वत्र व्याप्त है वह सर्वभूतों का आत्मभूत है। वह कौन है इसके उत्तर मे कहते है कि वह आत्मा है जो अपने समीप में प्रत्यादान करता हैं। आनन्द तीर्थ मध्वभाष्य। यहां प्रश्न एवं उत्तर के रूप में मेरी यह व्याख्या जयतीर्थ के आधार पर है। विशुद्धात्मा विशुद्धमनाः। विजितात्मा माने अपने अभ्यस्त कर्म में मन के व्याप्त होने से विजितमना। आत्मा की यथात्मता के अनुसन्धान में निष्ठ होने से कर्म को करने वाले कर्ता की आत्मा देवादि सर्वभूतों की आत्मा है। अर्थात् देवादि की और उस अपनी आत्मा है। एकाकार रामानुज भाष्य। विशुद्धात्मा जिसका आत्मा अन्तःकरण विशेषरूप से शुद्ध है कामादि दोषों से रहित है। विजितात्मा जिसने आत्मा को भगवत स्वरूप को जीत लिया है अपने वश मे कर लिया है। सर्वभूतात्मभूतात्मा जिसका आत्मा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जिसका स्वरूप सम्पूर्ण भूतों का आत्मभूत है भगवान् है अमृततरंगिणी। विशुद्धात्मा जिसका आत्मा प्रत्यक् चेतन विशुद्ध है वत्तिसारूप्य दोषों से हीन है यहां यह कहा कि निर्विकल्पावस्था में ही अन्य अवस्था मे नही केवल चेतन है। क्यों कि वृत्ति के अभाव में निर्विकल्पावस्था में द्रष्टा भगवान् के स्वरूप में अवस्थित होता है। और वृत्तिकाल में वृत्ति के स्वरूप में रहता है। इस कारण उसका आत्मा चित्त विजित है। सर्वभूतात्मभूतात्मा सभी भूतों का ब्रह्म से लेकर स्तम्ब पर्यन्त प्राणी का तथा आकाशादिकों का अर्थात चेतन और अचेतन सबका आत्मभूत है उपादान कारण है अतः जिसका आत्म प्रत्यक्चेतन सम्पूर्ण भूतों का आत्मभूत हैं स्वरूपभूत है। जैसा कनक, कुण्डल वगैरह का उपादान कारण है अतः कुण्डलादि कनक स्वरूप ही हैं क्योंकि कार्य कारण स्वरूप है कारणाभिन्न है नीलकण्ठी। योग से फलसंकल्परहित भगवदाराधनरूप शास्त्रीय कर्म से युक्त जिस पुरुष ने आत्मा मन को रजोगुण और तमोगुण के दब जाने पर सत्वगुण की वृद्धि के द्वारा विशुद्ध विमल कर लिया। इसी लिये वह विजितात्मा है माने उसने आत्मा अहंकार को और उसके कार्य क्रोध को जीत लिया है। सर्वभूतात्मभूतात्मा जिसका आत्मा स्वरूप देव दानव मानवादि सम्पूर्ण भूतों का आत्मभूत है आत्मवल्लभ है तत्त्वप्रकाशिका। विशुद्धात्मा आत्मा अन्तःकरणरूप सत्व विशुद्ध है रज एवं तम से अकुलषित है। विजितात्मा शविक्रृतदेह। सर्वभूता मभूतात्मा जिसका आत्मा स्वरूप सर्वभूत है और आत्मभूत है। अर्थात् जड़ और चेतन सब कुछ आत्मा ही है, जिसका आत्मा सम्पूर्ण भूतों आत्मभूत है ऐसी यदि व्याख्या करें तब सर्वभूतात्मा इसी से ही उतना अर्थ मिल जाता है तब आत्मभूत यह पद अधिक हो जाता है। अगर सर्वभूत पद और आत्मभूत पद को क्रमशः जड़ वाचक और चेतन वाचक मानते है तब इन पदों का सामञ्जस्य हो जाता है। फलाभिसन्धिरहित भगवदर्पणादि गुणों से युक्त शास्त्रीय कर्म योगशब्द का अर्थ है। मधुसूदनी। विशुद्ध आत्मा मन। योग कर्म से युक्त है अर्थात् जिसने चिर काल तक कर्मयोग का अनुष्ठान किया है। अथवा मुनिर्ब्रह्माधिगच्छति में संन्यास के अधिगम को मुख्य कहा है अतः योग से माने ब्रह्मनिष्ठालक्षण संन्यासयोग से युक्त माने जिसने चिर काल तक समाधियोग का अनुष्ठान किया

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। विजितात्मा जिसने आत्मा को माने वाह्यवासना लक्षण स्वभाव को जीत लिया है निकाल दिया है। सर्वभूतात्मभूतात्मा जिसका आत्मा प्रत्यक्चेतन स्वात्मा ब्रह्मादि स्तम्वपर्यन्त सभी भूतों का प्राणियों का आत्मभूत है स्वरूपभूत है अतः वह ब्रह्मवित्तम है। शंकरानन्दी। विशुद्ध आत्मा चित्त। विजित आत्मा शरीर। जिसका आत्मा सम्पूर्णभूतों का आत्मभूत है। श्रीधरी। मधुसूदनी के ही अक्षरों को सदानन्दी में लिखा है। विशुद्धात्मा विशुद्धान्तःकरण। विजितात्मा विजितदेह। सर्वभूतात्म-भूतात्मा अर्थात् अखण्डाकारसाक्षात्कारवान्। यहां मधुसूदनी का खण्डन किया है कहते हैं कि जिसका आत्मा सर्वभूत है जड़भूत है और आत्म भूत है अजड़भूत है ऐसा विग्रह जो किसी ने (मधुसूदनीने) दिखाया है वह प्रमाद है। क्यों कि आप कहते हैं कि सर्वभूतात्मभूतात्मा कह कर जो अर्थ आप लेते हैं वह अर्थ सर्वभूतात्मा कहने से ही मिल जाता है अतः आत्मभूत पद अधिक है। हम कहते हैं आप का अभीष्ट जड़ और अजड़ रूप अर्थ सम्पूर्ण अर्थ के वाचक सर्व पद से ही मिल जाता है तब आप के यहां भी अन्य पदों का आधिक्य है। अतः दोनों बराबर हुए। भाष्योत्कर्ष।। शांकर भाष्य के अक्षर परमार्थप्रपा में हैं। शंकरानन्दी के और राघवेन्द्री के अक्षर समान हैं।

आत्मशुद्धये ५। ११

आत्मशुद्धये चित्तशुद्धये तत्त्वप्रकाशिका। मधुसूदनी। शंकरानन्दी। श्रीधरी। सदानन्दी। परमार्थप्रपा। नीलकण्ठी। आत्मशुद्धि सत्त्वशुद्धि शांकरभाष्य आनन्दगिरि भाष्योत्कर्ष। आत्मशुद्धि मनःशुद्धि राघवेन्द्री। आत्मशुद्धि पापालेप जयतीर्थ। आत्मशुद्धि प्राचीन कर्मबन्धन विनाश। आत्मशुद्धि भावस्वरूप प्राप्ति अमृत तरंगिणी

आत्मनः ५। १६

आत्मा के भगवान् के ज्ञान से इस तरह आत्मा का ज्ञान से अन्वय है अमृत तरंगिणी। आत्मा का आवरण करने वाला अज्ञान इस तरह आत्मा का अज्ञान से अन्वय है नीलकण्ठी। आत्मा के चित्तवृत्तिरूपज्ञान से इस तरह आत्मा का ज्ञान से अन्वय है तत्त्वप्रकाशिका। मधुसूदनी। आत्मा का ज्ञान महावाक्यजन्य है श्रवणादि-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परिपाक से निर्मलान्तः करण वृत्तिरूप है। शुद्ध सच्चिदानन्द अखण्डैकरस विषयक निर्विकल्पक साक्षात्कार है। यहां अज्ञान से आवृत और ज्ञान से नाशित इस कथन से यह मालूम हुआ कि आवरण और नाश इन दो धर्मों वाला अज्ञान ज्ञानाभावरूप नहीं है। क्योंकि अभाव किसी को आवृत नहीं कर सकता है। और न ज्ञानाभाव ज्ञान से नष्ट हो सकता है। वह तो स्वभावतः नाशरूप है। अज्ञान भावरूप है यह तथ्य मैं अज्ञ हूं अपने और अन्य को नहीं जानता हूं इत्यादि साक्ष्य से प्रत्यक्ष सिद्ध है।

अज्ञान यद्विषयक और यदाश्रयक होगा उसकी निवृत्ति तद्विषयक तदाश्रयक प्रमाणभूत ज्ञान से होती है यह न्यायप्राप्त नियम है। जैसे देवदत्त घर को नहीं जाता है तब घर विषयक एवं देवदत्तनिष्ठ अज्ञान की निवृत्ति घर विषयमक और देवदत्तनिष्ठ प्रत्यक्षादिप्रमाण से होगी। अस्तु। यह आवरक अज्ञान दो प्रकार का है एक वह है जहां वस्तु है तब भी नहीं है ऐसा मालूम होता है। दूसरा वह है जहां वस्तु है तब भी भान नहीं होने पाता है। इनमें पहला सत् से असत्त्वापादक आवरण परोक्ष एवं अपरोक्ष प्रमाण जन्य ज्ञान मात्र से निवृत्त हो जाता है। जैसे पर्वत में वह्नि का ज्ञान अनुमान रूप परोक्ष प्रमाण से हुआ। यहाँ पर्वत में वह्नि नही है ऐसा भ्रम नहीं होता है क्योंकि अनुमानरूप परोक्ष प्रमाण से वह आवरक अज्ञान नष्ट हुआ है। और भी जैसे ब्रह्म सत्य है अनन्त है ज्ञान स्वरूप है ऐसा निश्चय सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, इस श्रुतिवाक्यरूप परोक्ष प्रमाण से हुआ है। यहां ब्रह्म नही है ऐसा भ्रम नष्ट हो जाता है। ब्रह्म है परन्तु मुझे मालूम नही पड़ता है ऐसा भ्रम जनक द्वितीय अभानापादक अज्ञान अपरोक्ष प्रमाण से ही साक्षात्कार से ही नष्ट होता है। जो साक्षात्कार निर्विकल्पक है। मधुसूदनी सदानन्दी। आत्मा बुद्धि। इनका कहना है चक्षुः पटल के द्वारा चक्षु का आवरण या अनावरण जैसे होता है वैसे ही ज्ञान और अज्ञान भी बुद्धि के ही धर्म है। आत्मा के नहीं शंकरानन्दी। आत्मा भगवान् श्रीधरी। आत्मा ईश्वर परमार्थप्रपा। आत्मा भगवान्। राघवेन्द्री ज्ञान दो प्रकार का है स्वरूप ज्ञान और वृत्ति ज्ञान। स्वरूज्ञान अज्ञान से आवृत होने पर अज्ञान का नाशक नहीं है। किन्तु वृत्तिजन्य परोक्षज्ञान अज्ञान का नाशक है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मानम् । यतचित्तात्मा ६ । १०

आत्मा अन्तः करण। चित्त अन्तः करण। आत्मा देह शांकरभाष्य। आत्मा मन। आनन्दतीर्थ। जयतीर्थ मध्वभाष्य। यतचित्तात्मा यतचित्तमनस्कः। रामानुजभाष्य। आत्मा भावात्मकरूप। आत्मा देह अधिकरण। अमृत तरंगिणी। आत्मा वुद्धि। आत्मा सेन्द्रिय शरीर नीलकण्ठी। आत्मा मन आत्मा देह तत्त्व प्रकाशिका। श्रीधरी। आत्मा चित्त। चित्त अन्तःकरण आत्मा देह मधुसूदनी। आत्मा चित्त। आत्मा देहेन्द्रिय संघात। शंकरानन्दी। आत्मा चित्त। आत्मा देह सदानन्दी। आत्मा अन्तःकरण। आत्मा देह। यतचित्तात्मा में चित्त का माने चिन्तन रूप अन्तःकरण का परिणाम माने अनुभूत अर्थ के विषय की चिन्ता से व्यावर्त्तना। देह का यमन माने मक्षिकाओं के द्वारा किये गये दंशन से एवं पिपीलिकादिबाधा से कम्पित नहीं होने थता चिरकाल तक आसन पर वैठने से होने वाले दुःख की अनुभूति से शून्यता भाष्योत्कर्षदीपिका। योगी युञ्जित पहले उद्वेगजनक शीत उष्ण सुख दुःख में तथा हर्ष क्षोभ जनक मान अपमान में समानभाव से रहने वाला, लोढा पत्थर एवं सोने को सम समझने वाला, सुहृत् मित्र अरि उदासीन मध्यस्थ द्वेष्य वन्धु साधु एवं पापी को सम समझने वाला, पीछे आत्मा को सम्पूर्ण भूतों में आत्मा में सम्पूर्ण भूतों को अर्थात् सबको सम समझने वाला, सम्पूर्ण भूतों में स्थित मुझको सम समझाने वाला, अपनी तुलना करता हुआ सब को सम समझता हैं वह योगी है इससे सिद्ध हुआ कि समता योग है इसी लिए अर्जुन ने कहा कि योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन! समत्वं योग उच्यते। हे मधुसूदन! साम्य समता को योग कहा इस तरह पहले पीछे परमात्मा के साथ किये जाने वाला या होने वाला सम्बन्ध योग है अतः सर्वं दुःखं मनस्विनः के अनुसार परमात्मेतर सब दुःख है। उस दुःख के सम्बन्ध का अभाव योग होता है। इसी लिए यावत् चित्त वृत्तियो के निरोध को अभाव को "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः इस सूत्र के द्वारा पतञ्जलि ऋषि ने लिखा है।

यहां योगशास्त्र में तीन प्रकार का योग बतलाया है। प्राण और अपान का योग १ मन और पवन का योग २ जीव और ब्रह्म का योग ३। इन तीनों को क्रमशः प्राप्त करने की इच्छा करने वाला योगी आत्मा मन को सतत समाहित करे।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पृष्ठ २३६ से आगे

[क]

तदात्मानः ५।१७

तदात्मानः विषयान्तर के निरास से तत्प्रवणमनसः। तत्त्वप्रकाशिका। तदात्मा तन्मनस्क रामानुजभाष्य। श्रीधरी। तदेव परं ब्रह्म आत्मा प्रत्यक् चैतन्य परमार्थप्रपा। वही आत्मा आदानादिकर्ता स्वामी। राघवेन्द्री। तदात्मा वही ईश्वर आत्मा अमृततरंगिणी। तदात्मा वही प्रत्यक् चेतनतत्त्व नीलकण्ठी।

असक्तात्मा, आत्मनि, ब्रह्मयोगयुक्तात्मा ५। २१

आत्मा अन्तः करण (तीनों जगहों में) शांकरभाष्य। आत्मा मन (३ में) रामानुजभाष्य। आत्मा अन्तः करण १। आत्मनि भावात्मक स्वस्वरूप। २। अमृत तरंगिणी। आत्मा चित्त १। आत्मनि प्रत्यगद्वयानन्दे २ आत्मा बुद्धि ३ नीलकण्ठी। आत्मा चित्त १। आत्मनि अन्तः करणे। आत्मा मन तत्त्वप्रकाशिका। आत्मा चित्त १। आत्मनि अन्तः करणे अथवा आत्मनि प्रत्यगात्मनि त्वं पदार्थे २। आत्मा अन्तः करण ३ मधुसूदनी। आत्मा मनः १। आत्मनि बुद्ध्यादि साक्षिणि प्रतीचि सक्षात्कृते २ आत्मा मन ३। शंकरानन्दी। आत्मा चित्त १। आत्मा अन्तःकरण। श्रीधरी। आत्मा चित्त १ आत्मा मन सदानन्दी। आत्मा अन्तः करण १ आत्मा त्वंपदलक्ष्य २। आत्मा अन्तः करण ३। भाष्योत्कर्ष। आत्मा मन २। आत्मा अन्तः करण २। परमार्थप्रपा। आत्मा मनः १ आत्मा स्वरूप राघवेन्द्री।

यतात्मानः ५। २५

यतात्मा नियमितमनाः। तत्त्वप्रकाशिका। यतात्मा परमात्मन्येव एकाग्रचित्तः। मधुसूदनी। आत्मा मन शंकरानन्दी। आत्मा चित्त श्रीधरी। यतात्मा एकाग्रचित्त सदानन्दी। यतात्मानः संयतानि समनस्कानि इन्द्रियाणि येषां ते। भाष्योत्कर्ष। आत्मामन परमार्थप्रपा। आयतात्मानः दीर्घमनस्काः। यहाँ यत के स्थान में आयत पाठ माना है। अथवा यतात्मा वशीकृत मनस्कः। राघवेन्द्री।

विदितात्मनाम् ५। २६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विदितात्मनां ज्ञातात्मतत्वानां । तत्वप्रकाशिका श्रीधरी । सदानन्दी । भाष्योत्कर्ष परमार्थप्रपा । विदितात्मा साक्षात्कृत परमात्मा मधुसूदनी । विदित आत्मा निर्विशेष परमात्मा । विदितात्मा ब्रह्मज्ञानी । राघवेन्द्री ।

इति पंचमाध्याय समाप्त हुआ ।

अथ अब षष्ठ अध्यायको शुरू करते हैं ।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः । ६।५ आत्मा से मन से आत्मा का जीव का उद्धार करे । आत्मा का जीव का । आत्मा ही मन ही आत्मा का जीव का बन्धु है । आत्मा मन ही आत्मा का जीव का शत्रु है । तत्वप्रकाशिका । मधुसूदनी । श्रीधरी । राघवेन्द्री । रामानुज । आत्मना अपने से आत्मा का अपना । आत्मा स्वयं ही स्व का बन्धु है । शत्रु है । स्वयं ही अपना शत्रु है । शंकरानन्दी । सदानन्दी । भाष्योत्कर्ष । परमार्थप्रपा । नीलकण्ठी । आत्मना पुरुषोत्तमरूप से आत्मा जीव का उद्धार करे । आत्मा जीव ही जीव का मित्र एवं शत्रु । अमृत तरंगिणी ।

जितात्मनः, परमात्मा ६।७

आत्मा कार्यकारणसंघात (देह) परमात्मा समाहित साक्षादात्मभाव से वर्तमान है । शांकरभाष्य । भाष्योत्कर्ष । आत्मा मन । परमात्मा समाहित है । हृदय में सन्निहित है । आनन्द तीर्थ । जयतीर्थ । रामानुजभाष्य । जितात्मा वशीकृतभावात्मा । परमात्मा पुरुषोत्तम । अमृत तरंगिणी । जित आत्मा चित्त । आत्मा चित्त परम् उत्कर्ष से समाहित समाधि को प्राप्त हो जाता है नीलकण्ठी । आत्मा मन परम स्वयं प्रकाश स्वरूप आत्मा । तत्वप्रकाशिका । जितात्मा जितेन्द्रिय । परमात्मा स्वप्रकाशज्ञानस्वभाव । मधुसूदनी । जित आत्मा मन । परमात्मा परब्रह्म । शंकरानन्दी । राघवेन्द्री । परमार्थप्रपा । जितात्मा भक्ति से जिसे भगवान् के स्वरूप को वश में कर लिया है राघवेन्द्री ।

तृप्तात्मा ६ । ८

आत्मा चित्त । तत्त्वप्रकाशिका मधुसूदनी श्रीधरी । नीलकण्ठी । सदानन्दी आत्मा अन्तःकरण शांकरभाष्य । अमृत तरंगिणी । भाष्योत्कर्ष । तृप्तात्मा तृप्तमन रामानुजभाष्य ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मा देह परमार्थप्रथा। प्रमाण १ विपर्यय २ विकल्प ३ निद्रा ४ स्मृति ५ ये पांच वृत्तियां है। एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण है यह चार्वाक का मत है। प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण है यह वैशेषिक और बौद्धों का मत है। प्रत्यक्ष अनुमान और आगम ये तीन प्रमाण हैं यह सांख्य एवं योग का मत है। प्रत्यक्ष अनुमान आगम और उपमान ये चार प्रमाण हैं ऐसा गौतम नैयायिकों का मत है। ये चार और अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि ये ६ प्रमाण हैं ऐसा मानने वाले वेदान्ती एवं याज्ञिक हैं। ये ६ और संभव तथा ऐतिह्य ये आठ प्रमाण है ऐसा मानने वाले पौराणिक हैं।

जिनमें शब्द जीवभूत आप्तों के निर्मित शास्त्र अपूर्ण एवं लौकिक होने के कारण ही उन शास्त्रों के विषय में कहा जाता है कि (विवादास्तेषु केवलम्) शास्त्रों में केवल विवाद ही हैं। जैसे—

कपिलो यदि सर्वज्ञः कणादो नेति का प्रमा।
ताबुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः॥

यदि कपिल महर्षि सर्वज्ञ हैं सिद्ध हैं तब कणाद गौतम वगैरह सर्वज्ञ नहीं है इसमें क्या कारण है। नहीं-नहीं इनमें सन्देह नहीं करना चाहिए दोनों सर्वज्ञ हैं। यदि दोनों सर्वज्ञ हैं तब इनमें मत भेद क्यों हैं।

जैसे—कपिलानुयायी उपमान को पृथक् प्रमाण नहीं मानते हैं वे कहते हैं कि उपमान का अनुमान में अन्तर्भाव है। वैशेषिक दर्शन के भाष्यकार प्रशस्तपादाचार्य भी उपमान को पृथक् प्रमाण नहीं मानते हैं। आगम में उसका अन्तर्भाव करते हैं। किन्तु अन्य आचार्य उपमान को प्रमाण मानते हैं। उपमान को प्रमाण मानने वालों में भी मतभेद है जैसे—नैयायिक कहते हैं संज्ञा एवं संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान जिससे होता है वह सादृश्य दर्शन उपमान प्रमाण है। इसका आशय कि गवय पिण्ड में जो गौ के सादृश्य का गौ के समान धर्म का दर्शन होता है कि यह गवयपिण्ड गौ के जैसा है इस गौ के सादृश्य दर्शन का फल प्रमा है यहाँ गवय पिण्ड गवय शब्द का अर्थ है माने गवय पिण्ड संज्ञी है और गवय शब्द संज्ञा है। मीमांसक कहते हैं कि सादृश्य ही उपमान है। अर्थात् गोसदृश गवय के देखने पर इस गवय की जैसी मेरी गौ है ऐसी जो उपमिति होती है वह प्रमा है उसका हेतु जो गवय में देखा जाने वाला सादृश्य है वही उपमान प्रमाण है। शब्द को जो प्रमाण मानते हैं। वे उसका लक्षण भिन्न २ करते हैं। जैसे—कपिलानुयायी सांख्य वाले

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आप्तश्रुतिराप्तवचनम् कहते हैं। वे कहते हैं कि आप्तवचन रूप शब्द का लक्षण आप्तश्रुति है। यद्यपि अन्य स्थलों में जैसे—श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः इस अमरकोष में तथा आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः के समन्वयकारी श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः इन में श्रुति शब्द का अर्थ है वेद तद्यपि हमारे यहां (श्रूयते इति श्रुतिः) जो सुनी जाय वह श्रुति है यह साधारण शब्द है। इसके सिवाय हमारे यहाँ चित्तवृत्ति ही प्रमाण है और जिससे जाना जाय वह चित्तवृत्ति ज्ञानरूप है अतः श्रुतिपद का अर्थ है वाक्य जन्य वाक्यार्थ ज्ञान। फलतः वही ज्ञान प्रमाण है। अन्य लोग कहते हैं (आप्त वाक्यं शब्दः) कि शब्द का लक्षण है आप्त वाक्य।

ईश्वर वादियों में से एक मत है कि शब्द रूप वेद पौरुषेय है दूसरा मत है कि वेद पुरुष प्रणीत होने पर भी पौरुषेय नहीं है अपौरुषेय है। तीसरा अनीश्वरवादियों का मत है कि पुरुष के ईश्वर के अभाव में वेद के विषय में पौरुषेय एवं अपौरुषेय का विचार प्राप्त ही नहीं है। जिन में सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ "इस सूत्र में कथित पुरुषाद्वधविकारसमूहतेन कृतेषु" इस वार्तिक के द्वारा बताये हुए अर्थों में पुरुष शब्द से ढञ् प्रत्यय होने पर पौरुषेय बनता है। अतः पौरुषेय शब्द का अर्थ है पुरुष के द्वारा कृत प्रणीत। इसी पाणिनि महर्षि के मत के अनुसार नैयायिकों का भी मत है। वे कहते हैं कि वेद पौरुषेय हैं क्यों कि वे नित्य स्वतन्त्र एवं सर्वज्ञ परमेश्वर के बनाये हुए हैं और जो कृतक होता है वह अनित्य होता है इस सिद्धान्त के अनुसार वेद अनित्य हैं अतः त्रिक्षणावस्थायी है अर्थात् विनाशी हैं।

वेदान्ती वेद को पुरुष प्रणीत होने पर भी अपौरुषेय मानते हैं वे कहते हैं कि "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः" इति, तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत। प्रजापतिर्वा इदमेक आसीत्, स तपोऽतप्यत। तस्मात्तपस्तेपानात् त्रयो देवा असृज्यन्त अग्निर्वायुरादित्यः। ते तपोऽतप्यन्त, तेभ्यस्तेपानेभ्यः त्रयो वेदा अजायन्त अग्नेः ऋग्वेदः, वायोर्यजुर्वेदः आदित्यात्सामवेदः। इत्यादि श्रुतियों के अनुसार निःश्वासवत् वेद की उत्पत्ति और विनष्टि होती है अतः वेद अनित्य है किन्तु नैयायिकों के मतानुसार तीन ही क्षण ठहरने वाला है। ऐसा नहीं है क्योंकि वेद को क्षणत्रय स्थायी मानना प्रत्यभिज्ञा के विरुद्ध है। यदि वेद क्षणिक होता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तो जिस वेद को देवदत्तने पढ़ा उसी को यज्ञदत्त ने पढ़ा और मैंने भी पढ़ा ऐसा कथन नही होता किन्तु ऐसा कथन होता है अतः वेद क्षणिक नहीं है।

ब्रह्मा विश्वं विनिर्माय सावित्र्यां वर योषिति।
चकार वीर्याधानञ्च कामुक्यां कामुको यथा ।।
सा च दिव्यं वर्षशतं धृत्वा गर्भं सुदुःसहं।
सुप्रसूता च सुपुवे चतुर्वेदान् मनोहरान् ।।

प्रश्न—उक्त सिद्धान्त के अनुसार वेद क्षणिक नहीं है तब यह कहना कैसे बनेगा कि हमारे मत में तो वेद अनित्य है। उत्तर—जैसे आकाश काल दिशा एवं मन सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न होते हैं और प्रलय काल में विनष्ट हो जाते हैं उसी तरह वेद के विषय में भी उत्पत्ति एवं विनष्टि को जानें। अन्य प्राणियों की तरह बार २ वेद उत्पन्न एवं विनष्ट नहीं होते है अतः वेद क्षणिक नहीं है इसका यह अर्थ नहीं है कि वेद नित्य हैं अपि तु वेद अनित्य है क्योंकि उत्पन्न होते हैं।

प्रश्न—वेद क्षणिक नहीं है ठीक है, किन्तु आपके कथन के अनुसार यही सिद्ध होता है कि आकाशादि की तरह परमेश्वर वेद का प्रणयन करता है जो कृतक होता है जो प्रणीत होता है वह पौरुषेय होता है ऐसी हालत में वेद अपौरुषेय है यह तुम्हारा सिद्धान्त भग्न हो गया। उत्तर; वेद आनुपूर्वीविशिष्ट शब्द रूप है। यह सर्व विदित है और शब्द के प्रणयन के माने उच्चारण ही है शब्द की साधनिका भी उच्चारण ही है। उच्चारण से अतिरिक्त प्रणयन शब्द का नहीं होता है और यदि इस उच्चारण को नव निर्माण मान लेंगे और ऐसे नव निर्माण के बदौलत वेद को पौरुषेय मान लेंगे तब तो हे मीमांसक! आपके यहां भी अध्यापक परम्परया उच्चार्यमाणत्वरूप नवनिर्माण होने से वेद पौरुषेय कहलायेगा। कहने का सारांश यह है कि शब्द का स्वरूप ही उच्चार्यमाणत्व हैं अतः जो स्वरूप के अन्तर्निहित है यदि उच्चारण नही किया जाय तो शब्द को शब्द कहना ही गायब हो जायगा अतः उसके विषय में नवत्व या नवत्वाभाव पुराणत्व या पुराणत्वाभाव की चर्चा या चिन्तना व्यर्थ है अतः शब्द रूप वेद के पौरुषेय होने का प्रश्न नही हो सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नही नही ऐसी बात नही है कि पुरुषेणोच्चार्यमाण ही पौरुषेय है यदि पुरुषेणोच्चार्यमाण ही पौरुषेय होता तो पुरुषाधीनोत्पत्तिक कथन नही होता किन्तु वेद के विषय में भी तस्माद यज्ञान् इत्यादि रूप से ऐसा कथन होता है अतः पुरुषाधीनोत्पत्तिक होना ही पौरुषेय है। प्रकृत में शब्द रूप वेद की उत्पत्ति उच्चारण पुरुष के अधीन होने से वेद पौरुषेय है। प्रश्न—यहां पुरुषाधीनोत्पत्तिक शब्द का आशय क्या है। उत्तर—लोक में "अमुक कार्य है इसको अमुक पुरुष ने किया' ऐसा व्यवहार जिस कार्य के विषय में होता है वह कार्य पुरुषधीनोत्पत्तिक कहलाता है। क्योंकि वह कार्य पुरुष के आश्रित है। अर्थात् इस कार्य को पुरुष ने बुद्धि पूर्वक समझ बूझकर अपनी इच्छा से प्रयत्न के द्वारा किया है इस तरह जिसकी उत्पत्ति पुरुष के अधीन है पुरुष के आश्रित है उसको पौरुषेय कहते हैं। किन्तु जिसकी उत्पत्ति में पुरुष की बुद्धि इच्छा एवं प्रयत्न लगा हो ऐसा पुरुषाधीनोत्पत्तिकत्व पौरुषेयत्व वेद में नही है। क्योंकि यद्यपि वेद की उत्पत्ति में पुरुष द्वार है किन्तु उसकी उत्पत्ति में पुरुष की बुद्धि वगैरह का सम्पर्क नही है। और जिसमें उनका सम्पर्क नही रहे उसे पौरुषेय कहना बनता नही है। इसीलिए कहा भी जाता है कि मुझसे हो गया मैंने किया नही। प्रश्न—क्या ! वैसा भी कार्य है जिस में पुरुष द्वार तो है किन्तु उसमें उसकी बुद्धि वगैरह का सम्पर्क नही रहे। उत्तर—हां ! वैसा कार्य है निःश्वासः जो सोने के समय स्वतः ही बिना बुद्धि इच्छा एवं प्रयत्न के पुरुष से किया जाता है। फलतः यस्य निःश्वसितं वेदाः के अनुसार ये वेद श्रुति के प्रामाण्य के आधार से उत्पत्तिमान् होते हुए भी अपौरुषेय हैं किन्तु पुरुषाधीनोत्पत्तिक नही है। अब एवं वेद नित्य हैं इसका भी विरोध नहीं हुआ। क्योंकि इसके उच्चारण में पुरुष का स्वातन्त्र्य नही है। यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता ऐसा कहा है।

विपर्यय वृत्ति का स्वरूप है मिथ्या ज्ञान अतत् मे तद्बुद्धि शुक्ति है अथवा रजत है इस तरह का प्रमा एवं भ्रम से विलक्षण। भाष्योत्कर्ष। आत्मा मन। चित्त मन। आत्मा देह राघवेन्द्री।

आत्मनः ६।११

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मनः अपना शांकरभाष्य सदानन्दी मधुसूदनी शंकरानन्दी श्रीधरी आनन्दगिरि । नीलकण्ठी । राघवेन्द्री । परमार्थ प्रपा । भाष्योत्कर्ष । आत्मा का भगवान् का अमृत तरंगिणी ।

आत्मविशुद्धये । ६।१२

आत्मविशुद्धि अन्तःकरणविशुद्धि शांकरभाष्य । भाष्योत्कर्ष । आत्मविशुद्धि बन्धनविमुक्ति रामानुजभाष्य । तत्वप्रकाशिका । आत्मशुद्धि भावस्वरूपसिद्धि । अमृततरंगिणी । आत्मविशुद्धि चित्तशुद्धि नीलकण्ठी । आत्मा की अन्तःकरण की विशुद्धि, सम्पूर्ण विक्षेपों से रहित होकर अतिसूक्ष्मरूप से ब्रह्म साक्षात्कार कर सकने की योग्यता । मधुसूदनी । अविद्या एवं उसके कार्य देह इन्द्रिय वर्गरह में तथा अन्यत्र भी जो मैं और मेरा इत्यादि असत्प्रत्यय तथा असद् ज्ञान की वासनाएं हैं उनकी निवृत्ति ही आत्मा की अन्तःकरण की विशुद्धि शंकरानन्दी । आत्मा की मन की विशुद्धि । आत्मविशुद्धि ब्रह्मसाक्षात्कारैकसिद्धि । सदानन्दी । आत्मा मन परमार्थप्रपा । आत्मा की मन की विशुद्धि सर्वमलों का दहन करना या अपनी सांसारिक मलों से निवृत्ति । राघवेन्द्री ।

प्रशान्तात्मा ६।१४

आत्मा चित्त पर० प्रपा । त० प्रका० । श्रीधरी । आत्मा अन्तःकरण शा०भा० भाष्योत्कर्ष मधुसूदनी । शंकरानन्दी । सदानन्दी । आत्मा मनः राघवेन्द्री । हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते इति शतपथश्रुतिः ।

आत्मानम् ६ । १५

आत्मा मनः आनन्द गिरि । पर० प्रपा० राघवेन्द्री । आत्मशब्दो मनोविषयः इस व्याख्या के अनुसार शांकरभाष्य में आत्मा माने मन । भा०र्ष० । श्रीधरी । स० नन्दी । रामा० भा० । नी० ण्ठी० । त० प्र० म० सूदनी । आत्मा अन्तःकरण शं० न्दी ।

आत्मनि ६।१८

आत्मा में अपने में । शांकर । आनन्द । आत्मा भगवान् आन० जय० । आत्मा में भावात्मक स्वरूप में अमृ० त० । आत्मा प्रत्यगात्मा प्रत्यक् चैतन्य नी०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कं० । म० सू० । आत्मा नित्यानन्दैकरस प्रत्यगभिन्न ब्रह्म । सम्पूर्णवासनाओं । और सम्पूर्ण कामनाओं की विध्वस्ति हो जाने के बदौलत अपने आप उत्तम वासनाओं से वासित होकर सर्वदा सब कालों में अपने रूप में रहता है योगी ।
शं० । श्रीधरी । स० नन्दी । भा० उत्कर्ष ।

आत्मनः ६ । १९

आत्मा के भगवान् के विषय में योग स० नन्दी । शंकरी । श्रीधरी । राघवेन्द्री । प० प्रपा० । आ० तीर्थ । आत्मा का भगवान् के साथ योग अमृ० त० । आत्मा आत्म स्वरूप त० प्रका० । आत्मा अन्तःकरण म० सू० । शांकर । भाष्योत्कर्ष ।

आत्मना आत्मानम् आत्मनि ६।२०

आत्मा से समाधिपरिशुद्ध अन्तःकरण से । आत्मा को परचैतन्यज्योतिः स्वरूप को आत्मा में अपने में त्वं पदवोध्य में । शां० भा० । आ० गि० । भाष्योत्कर्ष आत्मा से आत्मा में देह में आत्मा को भगवान् को देखता हुआ तुष्ट होता है । ऐसा अन्वय किया । इसका मतलव है कि आत्मा में आत्मा को देखता हुआ तुष्ट होता है । दूसरे लोगों ने आत्मा को देखता हुआ आत्मा में तुष्ट होता है ऐसा अन्वय किया है । आन० तीर्थ । जय तीर्थ । आत्मा से मन से आत्मा को अन्यनिरपेक्ष को देख कर आत्मा में । राम० भा० । आत्मा से भावरूप से आत्मा को भावरूप को आत्मा में भावरूप में अमृ० तर० । आत्मा से चित्त से आत्मा को निर्विकल्प को आत्मा में अपने में नी. क. । आत्मा से शुद्ध मन से आत्मा को देखकर अन्य निरपेक्ष हुआ अपने में ही । त. प्र. । आत्मा से रज एवं तम से अनभिभूत शुद्ध सत्त्मात्र अन्तःकरण से आत्मा को प्रत्यक् चैतन्य परमात्मस्वरूप सच्चिदानन्द घन अद्वितीय को पश्यन् वेदान्तप्रमाण जन्य वृत्ति से साक्षात्करता हुआ आत्मा में परमानन्द घन में ही न कि देहेन्द्रिय संघात में और न उनसे भोग्य वस्तुओं में तुष्ट होता है । तुष्ट ही होता है क्यों कि परमात्मा के दर्शन होने के बाद या करने के बाद असन्तोष का कोई हेतु नहीं है मधुसूदनी । सदानन्दी । श्रीधरी । आत्मा में निर्मल अन्तः करण में आत्मा को आकाश में पूर्णिमासी के चन्द्र विम्ब की तरह प्रकाशमान वृत्ति में आरुढ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिदानन्दैकरस पर ब्रह्म को। आत्मा से मैं ब्रह्म ही हूं इस तरह अपने स्वरूप से देखता हुआ साक्षात् प्रत्यक्ष करता हुआ तुष्ट होता है कृतार्थ हूं मुक्त हूं इस प्रकार मस्त होता है। स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा। यह श्रुति है। शंकरानन्दी। आत्मा से शुद्धान्तः करण से आत्मा को देखता हुआ ज्ञान दृष्टि से अनुभव करता हुआ आत्मा में ही सुखस्वरूप में ही तुष्ट होता है सुखस्वरूप से रहता है। पर० प्रपा०। आत्मा से मन से आत्मा को भगवान् को पश्यन् आत्मा में देह में संतोष को प्राप्त होता है राघवेन्द्री।

आत्मसंस्थम् ६।२५

आत्मा में संस्थित माने आत्मा ही सब कुछ है आत्मा से अतिरिक्त कुछ नही है इस प्रकार मन को आत्मसंस्थित करके शा मा.। मा० कथं। बुद्धि का सहारा लेकर धीरे धीरे उपराम करे माने मन का निग्रह करे और आत्मा में रमण करे आ. ती.। ज. ती.। आत्मा में स्वरूप में संस्था स्थिति वाला मन। नी. क.। आत्मनि निरुपाधिके प्रतीचि संस्था समाप्तिर्यस्य तदात्मसंस्थं सर्वाकारवृत्तिशून्यं स्वभावसिद्धात्माकारमात्रविशिष्टं मनः आत्मा में निरुपाधिक प्रत्यक् चैतन्य में जिसकी संस्था समाप्ति है ऐसे सर्वविध कृतियों से शून्य स्वभाव सिद्ध केवल आत्माकार विशिष्ट मन को धैर्य युक्त विवेक बुद्धि से सम्पन्न करके असंप्रज्ञात समाधि में स्थित होकर आत्मा या अनात्मा किसी का भी चिन्तन न करे यानी किसी को भी वृत्ति का विषय न करे क्योंकि अनात्माकारा वृत्ति करेगे तो व्युत्थान हो जायगा आत्माकारा वृत्ति होने पर संप्रज्ञात समाधि हो जायगी अतः असंप्रज्ञात समाधि को स्थिर करने के लिए किसी भी चित्त वृत्ति को उत्पन्न न करे मधुसूदनी। शंकरानन्दी। श्रीधरी। सदानन्दी। पर प्रपा.। आत्मसंस्थं भगवन्निष्ठं मनः। राघवेन्द्री।

आत्मन्येव ६।२६

आत्मामें भावात्मक भगवान् में अ. त. रं.। आत्मा में स्वरूप में। नी. क.। आत्मा में स्वप्रकाश परमानन्द घन में म. सू.। स. न्दी.। आत्मा में भगवान् में राघवेन्द्री।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मानम् ६।२८

आत्मा को मन को म. सू.। श्रीधरी। सदानन्दी। नी. क.। प. प्रपा। आत्मा को भाव को अ. तरं। आत्मा को अन्तः करण को भा. षं.। आत्मा को युञ्जन् ध्यायन् राघवेन्द्री।

आत्मा, आत्मानम्, आत्मनि ६।२९

आत्मा अन्तः करण। आत्मा को अपने को। आत्मा में अपने में शांकर। आत्मा मन। आत्मा को परमेश्वर को। आत्मा में परमेश्वर में। आ. तीर्थ। आत्मा मन आत्मा को अपने को आत्मा में अपने में। रामा.। आत्मा मन। आत्मा को भगवान् को आत्मा में भगवत्स्वरूप में। अ. त.। आत्मा चित्त। नी. क.। आत्मा मन। आत्म स्वरूप में। आत्मा को त. प्र.। आत्मा अन्तः करण। आत्मा को एक नित्य विभु प्रत्यक् चेतन साक्षी परमार्थ सत्य आनन्द घन को। आत्मा में साक्षी में मधुसूदनी। आत्मा मन अन्तःकरण। आत्मा को अपने को। आत्मा में परिपूर्ण सच्चिदानन्दैकरस निर्विकल्प निराकार निर्विशेष स्वस्वरूप में। शंकरी। आत्मा चित्त। आत्मा को अपने को अविद्याकृतदेहादिपरिच्छेदशून्य को। श्रीधरी। आत्मा को चिदघन अपने को। आत्मा चित्त। सदानन्दी। आत्मा अन्तःकरण आत्मा को अपने को। भा० षं०। आत्मा मन। आत्मा को समष्टि रूप को। आत्मा में स्थूल समष्टिरूप में। प० प्रपा०। आत्मा मन। आत्मा को परमात्मा को आत्मा में परमात्मा में। राघवेन्द्री।

आत्मौपम्येन ६। ३२

आत्मा की अपनी उपमा उसका भाव आत्मौपम्य स्वसादृश्य। त० म०। आत्मा ही औपम्य उपमा माने आत्मदृष्टान्त मधुसूदनी। सब प्राणियों के सुख दुःखों के जानने रूप कर्म में आत्मा स्वयं ही उपमा दृष्टान्त है। उसका भाव आत्मौपम्य स्वसादृश्य। शंकरी। श्रीधरी आत्मौपम्य स्वदृष्टान्त सदानन्दी। आत्मा स्वयमेव। भा० षं०। आत्मा अपना ही उपमा राघवेन्द्री। आत्मा स्वयं ही औपम्य है उपमीयते तुल्य किया जाय जिससे वह उपमा। उसका भाव औपम्य शांकर। आत्मा आ० गि० आत्मा अपना नी० क०। आत्मा स्व औपम्य सादृश्य अभिनव गुप्ती।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असंयतात्मना वश्यात्मना ६।३६

आत्मा अन्तः करण। वश्यात्मा स्वाधीनात्मा। शांकर। आ० गि०। आत्मा चित्त नी० क० आत्मा अन्तः करण दोनों जगह में मधुसूदनी। आत्मा मन आत्मा चित्त दोनों जगहों में भा० पं०। श्रीधरी त० प्र०। शंकरी। असंयतात्मा असंयतमना। वश्यात्मा स्वाधीनान्तःकरण सदानन्दी। आत्मा चित्त दोनों जगहों में। प० प्रपा। आत्मा चित्त। आत्मा मान राघवेन्द्री।

अन्तरात्मना ६।४७

अन्तरात्मा चित्त त० प्र०। आत्मा अन्तः करण शांकर। आ० ती०। मधुसूदनी भाष्योत्कर्ष राघवेन्द्री। आत्मा चेतः। श्रद्धा नाम विपरीतभावनाराहित्येन भूतानि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः "वासुदेवः सर्वम्" इत्युक्तार्थानुवृत्तबुद्धिवृत्तिविशेषः। अन्तरात्मना चेतसा शंकरी आ० गि०। जयतीर्थ। आत्मा मन श्रीधरी। प० प्रपा। रामा० भा०। आत्मा भावात्मकस्वरूप अमृत तरंगिणी। आत्मा चित्त नी० क०।

इति यह षष्ठाध्याय समाप्त हुआ।

अथ अब सप्तमाध्याय का आरम्भ करते हैं

आत्मैव। युक्तात्मा ७।१८

आत्मा ही है मुक्त से अन्य नहीं है। युक्तात्मा समाहित चित्तः शांकर भाष्य। आत्मा में ही हूं रामा० भा०। आत्मा ही है मदात्मक ही है। युक्तात्मा है मुझसे संयोग करता है अमृ० त०। आत्मा ही है मैं ही हूं ऐसा उसका आत्मा है चित्त हैं नी० क०। ज्ञानी मेरा आत्मा ही है मन ही है देह ही है अथवा। युक्तात्मा एकान्ती भक्त है। त० प्रका०। आत्मा ही है मुझसे अन्य नहीं है मैं ही हूं। युक्तात्मा समाहित चित्त है। मधुसूदनी। युक्तात्मा अभिनिविष्टमनाः शंकरी युक्तात्मा समाहितमना सदानन्दी। युक्तात्मा मदेकचित्तः श्रीधरी। आत्मा ही है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मैं हूं। आत्मा चित्त। भाष्योत्कर्ष। आत्मा ही है मेरा स्वरूप ही है परमार्थ प्रपा। आत्मा ही है स्वरूप ही है। आप्नोति इति आत्मा मुझको प्राप्त करने वाला। युक्तात्मा समाधि युक्तमना राघवेन्द्री।

महात्मा ७।१६

सब की आत्मा मुझको समझता है वह महात्मा है। शांकर भाष्य भा० कर्ष महान् सर्वोत्कृष्ट आत्मा वैभव जिसका है वह महात्मा है आनन्दगिरि। महात्मा महामना रामानुज भाष्य। महान् आत्मा मैं हूं या मेरे लिए है अमृत तरंगिणी। महात्मा ब्रह्मभूत। नी० क०। महात्मा महान् आत्मा विवेक सम्पन्न बुद्धि जिसकी है। त० प्रक०। महात्मा अत्यन्त शुद्धान्त करण होने से जीवन्मुक्त मधुसूदनी। महात्मा ब्रह्मविद्वरिष्ठ पुरुष अथवा महान् सर्वदा ब्रह्माकार से ही रहता है अतः महान् उत्कृष्ट आत्मा अन्तः करण जिसका ऐसा महात्मा महानुभाव। शंकरी। महात्मा अपरिच्छिन्न दृष्टि। श्रीधरी पर० प्र०भा०। महात्मा शुद्ध मना सदानन्दी। सब कुछ वासुदेव है। अर्थात् सब कुछ वासुदेव के अधीन है ऐसा समझने वाला अथवा सब कुछ वस्तु वासुदेव ही है ऐसा समझने वाला जो है वह महात्मा है राघवेन्द्री।

अध्यात्मम् ७।२६

आत्मा शरीर में (अधिकृत्य) प्रकाशमान कृत्स्न उपाधि से अपरिच्छिन्न त्वं पद लक्ष्य जीव को मधुसूदनी। सदानन्दी। ब्रह्म प्रत्यय की निरन्तर आवृत्ति की महिमा से अध्यात्म ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त सम्पूर्ण उपाधियों में स्थित प्रत्यक् रूप वस्तु देहादि व्यतिरिक्त शुद्ध आत्मा को जानते है शंकरी। अध्यात्मा को प्रत्यगात्मविषय वस्तु को भाष्योत्कर्ष। अध्यात्म प्रत्यगात्मविषय वस्तु। शांकरभाष्य। अध्यात्म भजन का उपाय साधन। कर्म सेवा रूप भजन का साधन अमृत तरंगिणी। अध्यात्म आत्मा में शरीर स्थित प्रत्यगात्म विषय वस्तु शुद्ध त्वं पदार्थ। कर्म तत् पद और त्वं पदार्थ के ज्ञान के साधन श्रवणादि को सबको जानते है राघवेन्द्री

इति सप्तम अध्याय समाप्त हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ अब अष्टम अध्याय का आरम्भ करते हैं।

किम् अध्यात्मम् ८।१

आत्मा को देह को अधिकृत करके उस अधिष्ठान में रहता है। इस तरह अध्यात्म शब्द से श्रोत्रादि करण ग्राम विवक्षित है या प्रत्यगभूत ब्रह्म विवक्षित है। अधिभूत शब्द से पृथिव्यादि भूतों में वर्त्तमान कुछ ही वस्तु का ग्रहण करते हैं या समस्त अर्थात् पृथिव्यादि पंचभूतों में से किसी एक दो को लेना या समस्त को। अधिदैव शब्द से देवताओ का अनुध्यान लेना है या आदित्य मण्डलादि देवताओं में वर्त्तमान चैतन्य के ग्रहण करने की इच्छा है। साधियज्ञ यहां आधियज्ञ शब्द से यज्ञ में अधिगत विद्वानात्मा लेना है या प देवता लेना है। वह ब्रह्मत्वेन चिन्तनीय है अथवा तादात्म्येन अथवा अत्यन्त अभेद से। सर्वथा भी वह क्या इस देह में है या उससे बाहर है। यदि वह देह में है तो कौन है बुद्धि वगैरह है या उससे व्यतिरिक्त है। आनन्दगिरि। आत्मा में वह अध्यात्म है। अथवा आत्माधिकार में जो है वह अध्यात्म है आ. तीर्थ। आत्मा जीव है उसको अधिकृत करके उसके उपकारी के रूप में वर्त्तमान वस्तु। अथवा आत्माधिकार कोई ग्रन्थ है उसका प्रतिपाद्य अध्यात्म है। जयतीर्थ। अधियज्ञः यज्ञाधिष्ठाता फलदाता कौन है। अमृत तरंगिणी।

आत्मा देह को अधिकृत करके उसमें प्रधान रूप से रहने वाला अध्यात्म है। त. प्रकाशिका। आत्मा देह को अधिष्ठित करके उस अधिष्ठान में रहनेवाला श्रोत्रादिकरण ग्राम है अथवा प्रत्यक् चैतन्य। मधुसूदनी। यहां इस विषय में आनन्दगिरि और मधुसूदनी में एक ही अक्षर हैं। आत्मा देह में रहनेवाला आध्यात्म है वस भावेन्द्रियादि हो सकता है अथवा प्रत्यक् चैतन्य भी हो सकता है। अतः अध्यात्म प्राण है अथवा श्रोत्रादि है अथवा आत्मा है। कर्म नित्य नैमित्तिक काम्य एवं निषिद्ध रूप में श्रौत स्मार्त्त लौकिक हैं। भूत भी कार्यकारण के पथिकादि भेद से अनेक विध हैं। अतः अधिभूत माने क्या? देवता भी अग्नि वगैरह सभी हैं या एक ही है या उनकी कोई क्रियायें हैं। अतः अधिदेव माने क्या। शंकरी। मधुसूदनी के अक्षर सदानन्दी में हैं। आनन्दगिरि एवं भाष्योत्कर्ष में समान अक्षर है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नियतात्मभिः ८।२

आत्मा चित्त त. म. । म. सू. । श्रीधरी, भाष्योत्कर्ष । आनन्दगिरि । अमृ. त. । इस देह में जो यज्ञ किया जाता है उसमें अधियज्ञ अधिष्ठाता प्रयोजक और फलदाता कौन है ? इस तरह स्वरूप को पूछकर अधिष्ठान के रहने के प्रकार को पूछता है कि किस प्रकार से इस देह में स्थित होकर अधिष्ठाता है । श्रीधरी ।

आत्मनः ८।१२

आत्मा का स्वना अन्वय प्राण में किया है । शांक. । भाष्योत्कर्ष । राघवेन्द्री परमार्थप्रपा । आत्मा का अन्वय योगधारण में । अमृ. त. । मधुसूदनी । इसमें इतना और लिखा कि आत्मपद का उपन्यास देवतादि की व्यावृत्ति करने के लिए किया है अर्थात् आत्म विषय समाधिरूप धारणा है आत्मा से अन्य किसी देवता के बारे में समाधि नहीं है । यह मधुसूदनी है । सदानन्दी ।

महात्मानः ८।१५

महात्मा महाविवेक से जिनका अन्तःकरण सम्पन्न है । त. प्रका. । महात्मा रज और तम के मल से जिनका अन्तःकरण रहित है अर्थात शुद्ध सत्त्व है अतएव जिनको सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान उत्पन्न हो गया है । मधुसूदनी । सदानन्दी । महात्मा महानुभाव यति । अथवा महान् नित्य निरन्तर की गई ब्रह्मनिष्ठा से जिनके रज एवं तम तथा उनके कार्य निःशेष नष्ट हो गये हैं । अत एव जिनका आत्मा मन प्रकृष्ट केवल शुद्ध सत्त्वभाव को प्राप्त है वे महात्मा हैं सुप्रसन्न अन्त.करण वाले हैं । शंकरी । महात्मा मद्भक्त श्रीधरी । महात्मा विशुद्धचित्त भाष्योत्कर्ष । महात्मा महानुभाव पर. प्रपा. । महात्मा ज्ञानी राघवेन्द्री । महात्मा यति शांकरी । महात्मा मकृष्टसत्त्वविशिष्ट यति । आनन्द. । महात्मा महामना रामा. भा. । महात्मा योग के द्वारा चित्त को जीतने वाले योगी । नी. क. ।

इति अष्टम अध्याय समाप्त हुआ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ अब नवम अध्याय का आरम्भ करते हैं ।

मम आत्मा ६ । ५

जैसे यहां राहोः शिर की तरह अर्थात् धड़ का कवन्धका नाम केतु है शिर का नाम राहु है तब राहु का शिर कहना कैसा । परन्तु भेद विवक्षा करके राहु को अलग मान कर राहु का शिर कहा जाता है उसी तरह सब कुछ आत्मा है उससे भिन्न कुछ नहीं है तब मेरा अर्थात् देहादिसंघात का आत्मा । वस्तुतः आत्मा से अन्य आत्मा कोई नहीं है । शांकर भाष्य आनन्दगिरि । मम कारणशरीरस्य । आत्मा प्रत्यगानन्द नी० क० । आत्मा परमार्थस्वरूप सच्चिदानन्दघनः म० सू० । आत्मा परस्वरूपः श्रीधरी । भा० पं० । आत्मा मन त० प्र० । आत्मा अव्यक्तमूर्ति प्रत्यग्लक्षणः शंकरी आत्मा चिदानन्दघन स० न्दी० । मम आत्मा स्वरूपम् प० प्र० । मम आत्मा देह । राघवेन्द्री । आत्मा देह मध्वभाष्य । आत्मा संकल्प रामा० भा० । ममात्मा मत्स्वरूपम् अ० त० ।

महात्मानः ६ । १३

आत्मा चित्त शांकर । नी० क० । त० प्र० । शंकरी । श्रीधरी । भा० पं० । आत्मा सत्त्वं आ० गिरि । आत्मा अन्तः करण म० सू० । आत्मा धी बुद्धि स० न्दी० । आत्मा मन प० प्र० राघवेन्द्री ।

प्रयतात्मनः ६ । २६

प्रयत शुद्ध आत्मा मन । त० प्र० । रा० भा० । प्रयतात्मा शुद्धबुद्धि शांकर । स० न्दी । म० सू० । प्रयतात्मा शुद्धवृत्ति शंकरी । शुद्धचित्त श्रीधरी । प० प्र० । प्रयतात्मा उपरतमना विरक्त राघवेन्द्री । शुद्धचेताः आ० गिरि० । प्रयतात्मा मदेकपरतया वशीकृतचेता अ० त० ।

संन्यासयोगयुक्तात्मा ६ । २८

आत्मा चित्त त० प्र० प० प्र० । युक्त शोधित आत्मा अन्तः करण शांकर । म० सू० । भा० पं० । संन्यास परमेश्वर में फलत्याग । वही योग माने कर्म के बन्धन से छूटने का उपाय । उसी उपाय में युक्त आत्मा मन शंकरी । यही श्रीधरी में है । किन्तु मन की जगह चित्त है । यहीं सदानन्दी में है किन्तु युक्त का अर्थ समाहित

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

योग्यता को प्राप्त किया है। संन्यास फल त्याग एवं योग कर्मानुष्ठान से युक्तात्मा विमुक्त हुआ राघवेन्द्री। युक्तात्मा समाहित चित्त नी० क०। आत्मा मन रा० भा०। संन्यास कर्मों का भगवान् में अर्पण। उससे योग भगवद्भक्ति। उससे युक्त आत्मा अन्तः करण अ० त०।

धर्मात्मा ९। ३१

आत्मा चित्त शांकर भा० षं०। मध्व०। ज० ती०। आत्मा मन रा० भा०। धर्मात्मा मेरी सेवा करने के योग्य। रा० भा०। धर्मात्मा महाभागवत लक्षण सम्पन्न त० प्र०। धर्मात्मा धर्मानुगतचित्त म० सू० स० न्दी०। श्रीधरी। धर्मात्मा पुण्यात्मा शुद्ध चित्त शंकरी। प० प्र०। राघ०।

आत्मानम् ९। ३४

आत्मा चित्त शांकर। आत्मा सर्वान्तर नी० क०। आत्मा अन्तःकरण म० सू०। भा० र्ण०। आत्मा मन स० न्दी०। श्रीधरी। त० प्र० राघव। आत्मा परमात्मा शंकरी। अथवा आत्मा समस्तभूतप्रत्यगात्माभिन्न परमात्मा। भा० र्ण०। प० य०।

इस तरह नवम अध्याय समाप्त हुआ।

अब दशम अध्याय का आरम्भ करते हैं।

आत्मभावस्थः १०।११

आत्मभाव बुद्धिवृत्तिः श्रीधरी। प. प्र. तत्त्व०। आत्मा स्वप्रकाश चैतन्यानन्दाद्वयः। तदाकारो भावः अन्तःकरणवृत्तिः। तत्र विषयतया स्थितः। म.सू.। स. न्दी.। आत्मा प्रत्यक् चैतन्यानन्द। उसमें भाव भावना ध्यानात्मिका वृत्ति। उसमें स्थित माने मेरी ध्यानाकार वृत्ति का सम्यक् विषय हुआ। अथवा आत्मा अन्तःकरण। उसकी वृत्ति उसका भाव। उसमें स्थित प्रत्यक् रूप से आविर्भूत शंकरी। आत्मा चैतन्य उसका भाव अन्तःकरण का आशय अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति। शांकर। भा. षं.। रा. भा.। आत्म भावस्थ स्वीयत्व भावयुक्त। अ. त.। आत्मनो भावः अन्तःकरणगृहम्। नी. क.। तदीय चित्तवृत्ति आत्मभाव राघव।

आत्मानम् आत्मना १०।१५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्माको निरतिशय ऐश्वर्य ज्ञान इच्छा बलादि शक्ति सम्पन्न ईश्वर को शांकर। भा. षं.। आत्मा को प्रत्यक् स्वरूप होने से अविषय निरुपाधिक रूप को। आ. गिरि। आत्मा से स्वरूप से अ. त.। आत्मा से आत्मविषयक असाधारण ज्ञान से। त. प्र.। आत्मना स्वरूप से। आत्मा को निरुपाधिक को सोपाधिक को। प्रत्यक् स्वरूप होने के कारण विषय नहीं होता है अतः निरुपाधिक है। और निरतिशय ज्ञानादि मान् होने से सोपाधिक है। शंकरी। म. सू.। स. न्दी.। आत्मा को आत्मा से अपने से। श्रीधरी। आत्मा से स्वरूप से आत्मा को प्रमाणान्तर से विषय नहीं होने वाले को। प. प्र.। आत्मा से अपने सामर्थ्य से। आत्मा को राघव।

आत्मविभूतयः १०।१६ आत्मनः १०।१८। आत्मविभूतयः १०।१९। आत्मा परमेश्वर सभी टीका एवं भाष्य।

आत्मा १०।२०

आत्मा परमेश्वर शां। आ.। म. सू.। त. प्र.। शंकरी। श्रीधरी। स. न्दी। आत्मा हिरण्यगर्भ प. प्र.। अततीति आत्मा व्यापक नी. क.।

अध्यात्म विद्या १०।३२

जीवात्मा और परमात्मा के विषय की प्रतीति करानेवाली अध्यात्म विद्या त. प्र.। अध्यात्मविद्या मोक्षहेतु अध्यात्म तत्वविद्या म. सू.।

इस प्रकार दशम अध्याय समाप्त हुआ।

अब ११ वें अध्याय को आरम्भ करते हैं।

अध्यात्मसंज्ञितम् ११।१

आत्मा देहेन्द्रियादि संघात से पृथक् है इस प्रकार आत्मा के विषय में विवेचना करने वाली या वाला विद्या या शास्त्र है। ऐसा अध्यात्म शब्द से कहा जाता है, यह सभी टीकायें एवं भाष्य है।

माहात्म्यम् ११।२

महात्मा परमेश्वर का भाव। महान् सर्व व्यापक आत्मा स्वरूप वाले परमेश्वर का निरतिशयैश्वर्य। ऐसा सभी भाष्यों एवं टीकाओं में हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मानम् ११।३।४

आत्मा स्वस्वरूप शांकर। आ० गिरि०। रा० भा०। अ० त०। आत्मा जगदाधार नी० क०।

महात्मनः ११।१२

महात्मा विश्वरूप पुरुषोत्तम। सभी भाष्य एवं टीकाऐ हैं।

प्रव्यथितान्तरात्मा ११।२४

अन्तरात्मा अन्तः करण त० प्र०। अन्तरात्मा मन म० सू०। श्री०। सदा०। भा० र्ष०। प० प्र०। राघ०। शांकर। अन्तरात्मा अन्तरंग शंकरी। चित्त नी० क०।

महात्मन् ११।३७

महात्मन् परमोदार चित्त म० सू०। महान् महत्तर सर्वोत्कृष्ट आत्मा स्वभाव। नाम एवं रूप से जिसका निर्देश होता है वह सत् है कार्य जन्य जगत् है। उससे विलक्षण असत् है। शंकरी। महात्मन् परमोदार चिद्घन स० न्दी। महात्मन् परमात्मन् भा० र्ष० अक्षुद्रचित्त आ. गि.। महान् पूर्ण आत्मा।

यच्चाप्नोति, यदादत्ते, यच्चात्ति विषयानिह

यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति भण्यते। महाभारत मध्वभाष्य। आत्मा का अर्थ जीव है ऐसा कोई अर्थ न ले लेवे इसका वारण करने के लिए महाभारत के श्लोक का उद्धरण करते हैं। आप् धातु से मन् प्रत्यय और पकार को तकार हो गया है अतः आप्नोति इति आत्मा। आङ् पूर्वक दाञ् धातु से मन् प्रत्यय, दा के आकार का लोप तथा द् को तकार हो गया है अतः आदत्ते इति आत्मा। आङ् पूर्वक अद् धातु से मन् प्रत्यय द को त है अत्तीति आत्मा। आङ् पूर्वक तनु धातु से मन् प्रत्यय तन् की टि अन का लोप हो गया है अतः आतनोति इति आत्मा। जयतीर्थ राघवेन्द्री। महात्मन् महताम् आत्मस्वरूप अ. त.।

आत्मयोगात् ११।४७

आत्मा के ऐश्वर्य के योग से सामर्थ्य से शांकर। भा. र्ष.। आत्मा के सत्य संकल्पत्व रूप योग से युक्त होने से रा. भा.। त. प्र.। आत्मयोग से स्वकीय-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्व योग से अ. त. आत्मयोग से स्वसामर्थ्य से । नी. क. । आत्मा माने अपने । योग माने असाधारणसामर्थ्य म. सू. । स. न्दी । आत्मा अपने । योग से मायायोग-सामर्थ्य से शंकरी । आत्मा मेरे । योग से योगमायासामर्थ्य से । श्रीधरी । आत्मयोग से निजमाया वैभव से पर. प्र. । आत्मयोग से स्वरूप सामर्थ्य से राघव. । शक्यः अहम् में सन्धि नहीं है । ४८ ।

महात्मा ११।५०

महात्मा सत्यसंकल्प रा. भा. । अथवा महान् भक्तों का आत्मा अ. त. । महात्मा व्यापक नी. क. । महात्मा परमकारुणिक सार्वज्ञवात्सल्यादिमद्गुणाश्रय त. प्र. । महात्मा परमकारुणिक सर्वेश्वर सर्वज्ञ इत्यादि सकलकल्याणगुणाकर । म. सू. । स. न्दी. । अ. त. । महान् अप्रमेय आत्मा स्वभाव जिसका है । शंकरी । महात्मा विश्वरूप अथवा कृपालु । श्री. । महात्मा विष्णु विश्वरूप प. प्र. ।

इस प्रकार ग्यारहवां अध्याय समाप्त हुआ ।

अथ अब १२ वें अध्याय का आरम्भ करते हैं ।

यतात्मवान् १२।११

यतात्मवान् संयतचित्त शांकर । आ. गि. । यतात्मवान् यतमनस्क रा. भा. । राघवे. । यतात्मवान् तदेक परचित्त अ. म. । यत नियमादिमान् आत्मवान् जितचित्त नी. क. । यत संयतसर्वेन्द्रिय । आत्मवान् विवेकी म, सू. । स. न्दी । यत संयत कामसंकल्पविमुखीकृत आत्मा चित्त है जिसका नियतचित्त शंकरी । प. प्रः । श्रीधरी । यतात्मा विवेक संयत चित्त भा. र्ष ।

यतात्मा १२।१४

संयतदेहेन्द्रियः त. प्र. । भा. र्ष. । संयत देहेन्द्रियादि संघात म. सू, । नी, क. । यत संयत समकायशिरोग्रीव रूप से स्थापित । आत्मा देह शंकरी । संयत स्वभाव शांकर । श्री. । समाहित मना स. न्दी । संयतचित्त प. प्र. विषयों से उपहृतचित्तवाला राघवे. । नियमित मनोवृत्ति रा. भा. । वशीकृतस्वभाव । अ. त. ।

इस प्रकार १२ वां अध्याय समाप्त हुआ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ अब १३ वें अध्याय का आरम्भ करते हैं

आत्मविनिग्रह १३।७

आत्मा का देहेन्द्रिय संघ का विनिग्रह शास्त्र विरुद्ध असत्य वृत्ति से निवर्त्तन । त. प्र. । देहेन्द्रिय संघात का स्वभाव प्राप्त मोक्ष के प्रतिकूल होने वाली प्रवृत्ति को रोक कर मोक्ष के साधन में व्यवस्थित करना म. सू. । स. न्दी । भा. षें. । आत्मा का विषयों के योग करने की वासना से ग्रस्त अन्तःकरण का विनिग्रह विषयों के श्रवण मनन दर्शन स्पर्शन आदि की तरफ जाने वाली प्रवृत्ति का निरोध । शंकरी । आत्मनिग्रह शरीरसंयम श्रीधरी । अ. त. । प. प्र. । आत्मा का मनका विनिग्रह विशेष रूपसे नियमन राघव । आत्मा का अपकार करने वाले आत्मशब्दवाच्य कार्यकारणसंघात का विनिग्रह सन्मार्ग में निरोध शांकर । आत्मनिग्रह आत्मस्वरूप के व्यतिरिक्त विषयों से मनका निवर्त्तन म० । अ० । आत्म निग्रह देहेन्द्रियादि के प्रचार का संकोच । नी. क. ।

अध्यात्मज्ञाननित्यत्व १३।११

अध्यात्म आत्मा को अधिकृत करके याने आत्मा के विषय में प्रवृत्त होनेवाला ज्ञान अध्यात्मज्ञान अर्थात् अनात्मपदार्थों से विविक्त आत्मा का यथार्थ ज्ञान । उसमें नित्यत्व माने उसी मे रहना । त. प्र. । म. सू. । श्रीधरी । स. न्दी । भा. षं । प. म. । राघव । शांकर । अ. गि. । अध्यात्म माने आत्मा में रा. भा. । अध्यात्मज्ञान आत्मस्वरूप ज्ञान अ. त. । अध्यात्मज्ञान वेदान्तशास्त्रजन्य ज्ञान नी. क. । अध्यात्मज्ञान वेदान्त शास्त्र उसमें नित्यत्व निरतत्व शंकरी ।

परमात्मा १३।२२

आत्मशब्द से विवक्षित देह इन्द्रिय मन एवं वुद्धि में श्रेष्ठ क्षेत्रज्ञ आन्तरिक एव विज्ञानमय होने से परमात्मा है क्योंकि इससे एवं उससे अन्य विज्ञानमय अन्तरात्मा है यह श्रुति । त. प्र. ।

अविद्या के कारण आत्मरूप से कल्पित देहादि वुद्धिपर्यन्त पदार्थों में परम प्रकृष्ट है एवं जो उपद्रष्टा अनुमन्ता भर्त्ता भोक्ता एवं महेश्वर है वह परमात्मा है शांकर । म. सू. । भा. षं. स. न्दी । परमात्मा अन्तर्यामी श्रीधरी । प. प्र. । इस देह में अस्म-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्यत्यय का अर्थ बुद्धि एवं उसकी वृत्ति का साक्षी जो पुरुष है, जिसमें प्रकृति के सान्निध्य से कर्त्ता भोक्ता भर्ता आदि संसार कल्पना से और उपद्रष्ट्रत्वादि विशेषणों के विचार करने पर जो प्रकृति एवं उसके विकार उसके धर्म और उसके कर्मों के सम्बन्धलेशसे शून्य असं सारी नित्य कूटस्थ असङ्ग तथा चिद्रूप है वह आत्मा परमात्मा है शंकरी। परमात्मा परमचेतन राघव.। देह इन्द्रिय एवं मनके प्रति परमात्मा रा. भा.। जैसे उपद्रष्टा अनुमन्ता भोक्ता भर्त्ता एवं महेश्वर है उसी प्रकार उन उपद्रष्टृत्वादि धर्मवालों का मित्र परमात्मा इस देह में है अ. त.।

जो जगत की सृष्टि स्थिति एवं संहृति कर्ता अन्तर्यामी प्रभु है वही गुणों को छोड़ कर शुद्ध स्वभाव परमात्मा है। नी. क.

आत्मनि आत्मना आत्मानम् १३।२४

आत्मा में देह में। आत्मा से मन से। आत्मा को प. प्र.। त. प्र.। श्रीधरी। आत्मा में बुद्धि में। आत्मा से ध्यान संस्कृत अन्तः करण से। आत्मा को प्रत्यक् चैतन्य को शंकरी। म. सू.। भा. र्ष.। आत्मा में बुद्धि में। आत्मा से स्वस्वरूप से। आत्मा को परमात्मा को शंकरी। स. न्दी। आत्मा में शरीर में अवस्थित आत्मा से मन से ध्यान से भक्तियोग से। रा.भा.। आत्मा में हृदय में आत्मा से मन से आत्मा को आत्म रूप भगवान् को अ.त.। आत्मा में देह में आत्मा को परमेश्वर को आत्मा से बुद्धिसे भी. क.। राघ.।

आत्मना आत्मानम् १३।२८

अपने से अपने को शांकर। म. सू.। त,प्र.। स. न्दी। भा. र्ष.। अपने आत्माको सच्चिदानन्दरूपपरमात्मा को श्री.। आत्मा से मन वाणी शरीर सब प्रकार से आत्मा को अपने को प. प्र.। आत्मा से बुद्धि से आत्मा को अपने आपको राघ.। आत्माको परमेश्वर को रा. भा.। नी. क.।

आत्मानम् १३।२९

आत्मा को क्षेत्रज्ञ को शांकर। म. सू.। त. प्र.। स. न्दी। सभी में यही अर्थ है। आत्मा को जीव को अ. त.।

परमात्मा १३।३१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देह इन्द्रिय मन एवं बुद्धि को भी आत्मशब्द से कहते हैं ये भी आत्मशब्द के वाच्य है जो इनसे भी श्रेष्ठ है वह क्षेत्रज्ञ परमात्मा है। त. प्र.। परमात्मा परमेश्वराभिन्न प्रत्यगात्मा म. सू.। देह इन्द्रिय मन एवं बुद्धि आदि स्थूल सूक्ष्म पदार्थों के विनष्ट होनेपर भी सभी अवस्थाओं में सभी कालों में मैं हूं ऐसी आत्मसत्ता का अनुभव सभी को होता है। अतः निरवयव निराकार नित्य परिपूर्ण एवं परम श्रेष्ठ तत्त्व यह परमात्मा है। शंकरी। स.न्दी। देहादि अपर आत्माओं से अन्य और कोपपञ्चक से अतीत अत एव परम श्रेष्ठ आत्मा परमात्मा है नी. क.। यह परमात्मा शरीर में स्थित है अतः शरीर का अभिमानी होने से और शरीरगत सुख दुःखादिका भोक्ता होने से जीव हो सकता है किन्तु जीव भी नहीं है शरीरस्थ भी नहीं है। राघव.।

आत्मा १३।३२

आत्मा परमात्मा सभी टीका एवं भाष्यों में हैं।

· इस प्रकार तेरहवां अध्याय समाप्त हुआ।

अब १४ वें अध्याय का आरम्भ करते हैं

आत्मसंस्तुतिः १४।२४

आत्मा अपनी। सभी टीकाऐं एवं सभी भाष्यों में एक ही अर्थ है।

इस प्रकार १४ वां अध्याय समाप्त हुआ।

अथ १५ वें अध्याय का आरम्भ करते हैं

अध्यात्मनित्याः १५।५

अध्यात्मनित्याः परमात्मस्वरूपालोचननित्याः तत्पराः शांकर, म. सू.। स.न्दी.। अध्यात्म आत्मा में नित्याः माने निष्ठावाले अर्थात् आत्मा के ध्यान में तत्परा नी. क. अध्यात्मा के परमात्मा के स्वरूप के आलोचन में नित्य तत्पर भा. षं। अध्यात्म में आत्मज्ञान में नित्य परिनिष्ठित श्रीधरी प.म.। अध्यात्मनित्याः आत्मा के बारे में जो ज्ञान वह अध्यात्म है उसमें नित्य माने रत त.प्र.। अध्यात्मनित्या अध्यात्मज्ञान में अर्थात् भगवान् के श्रवण मनन दर्शन स्पर्शन निदिध्यासन में निरत राघ.। अध्यात्म याने आत्मज्ञान अर्थात् तो में मो में खङ्ग खम्भ में यहां वहां सर्वत्र ब्रह्म को देखने वाले समझनेवाले आत्माराम शंकरी। अध्यात्मनित्या जो आत्मनियतज्ञान है वह अध्यात्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है उसमें नित्य माने आत्मध्यान में रत । रा.भ० । अध्यात्मनित्याः भगवान् के स्वरूप के विचार करने में परिनिष्ठित । अ.त. ।

आत्मनि । आत्मानः । १५।११

आत्मनि अपनी बुद्धि में । आत्मानः बुद्धियां शांकर । आ. मध्यमाष्य । जयतीर्थ । आत्मनि शरीर में । आत्मानः मन । रा.भा. । अकृतात्मा सत्संगादि भक्ति रहित अ.त. । आत्मा में बुद्धि में । अकृतात्मा यज्ञयागादि के करने पर भी जिनका आत्मा चित्त शुद्ध नहीं हुआ हैं नी.क. । म.सू. । स.न्दी. । आत्मा में देह में । अकृतात्मानः मेरी प्रपत्ति के शरणागति के विना अपने ज्ञान के अभिमान से जिनका आत्मा अन्तः करण शुद्ध नहीं हुआ है त.प्र. । आत्मा में बुद्धि में । आत्मा चित्त शंकरी । यहां लौकिक वासनाओं के द्वारा । चित्त को बाहर की तरफ प्रवाहित किया जा रहा है ऐसा अर्थ प्रवाहायमानः से विवक्षित है । आत्मा में देह में । आत्मा चित्त श्रीधरी । आत्मा में वुद्धि में । आत्मा अन्तः करण भा .षं । आत्मा में देह के भीतर हृदयाकाश में । अकृतात्मा अनधिगत तत्वार्थ प. म. । अकृतात्मा अशुद्ध वुद्धि ।

परमात्मा १५।१७

वेदान्त शास्त्र में प्रत्यक् चेतन को परमात्मा कहा है । शांकर । अविद्या से जिनको आत्मा कहा है ऐसे अन्नमय प्राणमय मनोमय विज्ञानमय एवं आनन्दमय पांच कोषों के अपेक्षा परम प्रकृष्ट तथा अकल्पित स्वाभाविक ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा इस श्रुति के द्वारा सर्वभूतों में आत्मा के रूप से वतलाया गया प्रत्यक् चेतन ही वेदान्त शास्त्रोक्त परमात्मा है । म. सू. । भा.षं. । नी. क. । सं. न्दी. । शंकरी. । परमात्मा परमचेतन राघ. । परम सर्वोत्कृष्ट आत्मा अविकृत इस प्रकार जिसको श्रुति आदि ने वतलाया वह परमात्मा है । अ. त. ।

इस प्रकार १५ वां अध्याय समाप्त हुआ ।

अथ १६ वें अध्याय का आरम्भ करते हैं

नष्टात्मानः १६।९

नष्टात्मा नष्टस्वभाव । शांकर । अदृष्ट देहातिरिक्तात्मा रा. भा. । नष्टात्मा अदृष्टात्मस्वरूप अ. त. । कालादिवश से नष्टधैर्य नी. क. । भ्रष्ट परलोकसाधन स.न्दी आ. गि. । म. सू. । भा. षं । मलिन चित्त श्रीधरी । देहातिरिक्त आत्मा नहीं है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त. म.। नष्ट विवेक बुद्धि शंकरी। नष्टात्मा विधि निषेध वर्जित प. प्र.। दुष्ट चित्त राघवेन्द्री।

आत्मसंभाविता १६।१७

सर्वं गुणसम्पन्न हम हैं इस तरह आत्मा से अपने से ही सम्भावित शांकर। रा. भा.। प. प्र.। स. न्दी। शंकरी। म. सू.। श्रीधरी.। भा. षं। त. प्र.। अपने में ही संभावित अपने धर्म के आविष्कार के द्वारा लोगों में उत्तमता को पूज्यता को प्राप्त अ. त.। अपने से ही अपने को महान् मानने वाले नी. क.। राघव.।

आत्मपरदेहेषु १६।१८

आत्मदेह अपने देह में। शांकर। आ. गि.। रा. भा.। अ. त.। नी. क.। म. सू.। भा. षं.। श्रीधरी.। स. न्दी। प. प्र.। राघवे.।

आत्मनः १६।२२

आत्मनः स्वस्य अपने कल्याण का आचरण करता है सभी टीकाओं एवं सभी भाष्यों में एक ही अर्थ हैं।

इस प्रकार १६ वां अध्याय समाप्त हुआ।

अथ १७ वें अध्याय का आरम्भ करते हैं

आत्मविनिग्रह १७।१६

मनोनिरोध शांकर। नी. क.। आ. गि.। मनोवृत्ति का ध्येय में अवस्थापन रा. भा.। आत्माका मनका विशेषरूप से सर्व वृत्ति निरोध असंप्रज्ञात समाधि म. सू. भा षं। श्रीधरी। मनका असत्प्रवृत्तियों से अवष्टम्भन त. प्र.। शंकरी। विषयों से प्रत्याहार प.प्र.। आत्मा में परमात्मा में मनका विशेषरूप में अवस्थापन राघवः।

आत्मनः १७।१९

अपना श्रीधरी शंकरी. त.प्र.। देहेन्द्रियसंघात म. सू.। स. न्दी.। शरीर प. प्र.। आ. गि.। नी. क.। जीव. अ. त.। अपना यही अर्थ अन्य सबमें प्राप्त होता है।

इस प्रकार १७ वां अध्याय समाप्त हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ १८ वें अध्याय का आरम्भ करते हैं।

आत्मानम् १८ । १६

अपने को शंकर। त. प्र.। शंकरी। जीव को रा. भा, अ. त.। चेतन को नी. क.। सर्व जड़ प्रपञ्च का भासक सत्तास्फूर्ति प्रद स्वयंकाश परमानन्द को म. सू। स. न्दी। भा. र्ष। निरुपाधिक असङ्ग आत्माको श्री घरी। प. प्र.।

हिंसात्मकः १८।२७

आत्मा स्वभाव शांकर। आ. गि.। रा. भा.। राघवेन्द्री। अ. त.। नी क.। म. सू.। भा. र्ष.। श्री घरी। त० प्र०। (शील स्वमव एक ही है) शंकरी। स० न्दि। आत्मा मनः प. प्र.।

आत्मवुद्धिप्रसादजम् १८ । ३७।

अपनी वुद्धि या आत्मविषया आत्मालम्वना वुद्धि शांकर। आ. गि.। स. न्दि। त. प्र.। म. सू.। भा. र्ष। श्री घरी। रा. भा.। आत्मसम्वन्धिनी मदंशसम्वन्धिनी वुद्धि अ. त.। अपनी वुद्धि नी. क.। जिस वुद्धि से सत् चित्त आनन्द स्वरूप आत्मा का यह मैं हूं ऐसा साक्षात्कार होता है उस ज्ञान का प्रसाद शंकरी। आत्मविषया व्यवसायात्मिका वुद्धि प. प्र। आत्मा के विष्णु के प्रसाद से अनुग्रह से हुआ। बुद्धि के प्रसाद से यहां वुद्धि के प्रसाद का अर्थ है। स्वत एव विषयों में अप्रवृत्ति। रा० वे०।

आत्मनः १८। ३६

अपने का जीव का अ. त.। आत्मा का वुद्धि का नी. क.। शंकरी। अपना स. न्दी। राघवेन्द्री। अन्तः करण का प० प्र।

परिचर्यात्मकम् १८।४४

शुश्रूषालक्षणम् शंकरी। शुश्रूषास्वभावम् शांकर। भा. र्ष। सेवारूपम् राघवेन्द्री।स्वभावजं स्वभावप्रभवम् रजउपसर्जनतमोगुणेन प्रविभक्तमित्यर्थः भा. र्ष। परिचर्यारूपम् रा. भा।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जितात्मा १८।४९

आत्मा अन्तः करणम् शांकर । म. सू । भा. र्ण । अ. त. । चैत । आ. गि. । शान्तचित्तः नी०क० जितमनाः रा. भा. । स. न्दि । राघव त. म. । शंकरी । जितात्मा निरहंकारः श्रीधरी प. प्र ।

आत्मानम् १८।५१

मनः त. प्र. रा. भा, राघवे । शरीरेन्द्रियसंघात नी. क. । म. सू. । कार्यकरण-संघात शांकर । भा, र्ण । श्रीधरी । देहा दिसंघात स. न्दी । आत्मानं बुद्धिम् श्रीधरी प. प्र. । आत्मानं जीवम् अ. त.. ।

प्रसन्नात्मा १८।५४

लब्धाध्यात्मप्रसाद शांकर । अध्यात्मं प्रत्यगात्मा तस्मिन् प्रसादः सर्वानर्थनिवृत्या परमानन्दाविर्भावः स लब्धो येन स तथा आ गि. प्रसन्नचेताः नी, क. ।

शुद्धचित्त म. सू. । प्रसन्नचित्त त. प्र. । प. प्र. । श्रीधरी । प्रसन्नः कर्तृत्वादि-विमुक्त आविर्भूतानन्द आत्मा प्रत्यगात्मा । भा. र्ण । क्लेशकर्मादिकोंसे अकलुषस्वरूप रा. भा. प्रसन्न आनन्द युक्त आत्मा चेतः अ. त. । ी. क. । प्रसन्न केवल शुद्ध सत्त्वभा-वापन्न सभी में केवल ब्रह्म का ज्ञान करने से प्रशान्त एवं विपरीत प्रत्यय में निर्मुक्त आत्मा अन्तः करण जिसका हो गया है वह प्रसन्नात्मा माने समाधि की निष्ठा से जिसका विज्ञान परिष्कृत हो गया है। शंकरी । प्रसन्नात्मा विशुद्धधी स. न्दी । स्वतः ही विषयों में जिसका आत्मा मन प्रवृत्त नहीं होता है रा. घ. ।

महात्मनः १८।७४

महानुभाव शंकरी । अक्षुद्रस्वभाव भा. र्ष. । महान् आत्मा मन जिसका है राघव. अक्षुद्रबुद्धि आ. गि. । महाबुद्धि रा. भा. । महात्मा भगवद्भक्त अ. त. ।

इस प्रकार १८ वां अध्याय समाप्त हुआ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गीता के १८ अध्यायों में आत्म शब्द का प्रयोग १४० बार हुआ है। उसमें आत्मा आत्मान् आत्मनि का बहुत बार प्रयोग है। पाठक सूची में ही देख लें। किन्तु इन अध्यायों में परमात्मा ४ बार, अध्यात्म शब्द ८ बार, महात्मा ८ बार, आत्मविनिग्रह २ बार आया है। धर्मात्मा १ बार प्रयुक्त हुआ है। श्रेयः शब्द १३ बार आया है।

यहां श्रेयः का अर्थ लोक कल्याण है। जिस श्रेयः को 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः। तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते। प्रेयो हि मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते।' इस श्रुति ने मोक्ष कहा है वह श्रेय यहां नहीं है। यहां तो योग क्षेम का निमित्त जो प्रेय है उसी को श्रेयः शब्द से कहा है।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुतिष्ठतात्। यह पाठ ३।३५ में आया है और १८।४७ में भी आया है। किन्तु इन दोनों श्लोकों का उत्तरार्द्ध भिन्न है। जैसे—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।३।३५।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।१८।४७

इस तरह पाठ भिन्न होने पर भी अर्थ भिन्न-भिन्न नहीं हुए। जैसे—

परधर्म के अनुसार किये गये अनुष्ठान से माने कर्म से जो पाप होता है अर्थात् पापजनित भय होता है वह स्वभाव नियत स्वधर्म प्राप्त कर्म के करने से नहीं होता है।

नियत शब्द यहां गीता में १० बार प्रयुक्त हुआ है। नरके नियतं वासः इस श्लोक में सभी भाष्यकारों एवं टीकाकारों ने ऐसा ही पाठ माना है किन्तु शंकरानन्दी में अकारप्रश्लिष्ट 'ऽनियतं' ऐसा पाठ माना है। इस पाठ के मानने में हमारी समझ से दो दोष हैं। उनमें पहला तो यह है कि अनियत कहने से पापी का नरक में अवश्य ही वास होगा इसमें कोई नियम नहीं रहेगा। जो बड़ी भारी गलती हो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जायेगी। दूसरा यह है कि पापी का नरक में वास के लिए काल की युग मन्वादि की अवधि नहीं रहेगी तो यह भी गलती रहेगी। क्योंकि सर्वं सावधि निश्चितम् जब सबकी अवधि निश्चित है तब इसकी अवधि क्यों नहीं होगी। जब अवधि नही रहेगी तब भोगादेव क्षयः भोग से सब पापों का क्षय हो जाता है यह नियम भी कट जायगा अतः अकार रहित ही पाठ ठीक है।

समाधि शब्द तीन बार आया है। पहले में समाधि का अन्तः करण अर्थ है। दूसरे में परमात्मा है। तीसरे में सामान्य है। यहां जानना जरूरी है कि समाधि शब्द का जो वितर्क (सवितर्क एवं निर्वितर्क) विचार (सविचार एवं निर्विचार) सानन्द एवं सस्मित रूप चतुर्विध भेद युक्त संप्रज्ञात समाधि, सबीज समाधि, सालम्बन समाधि और विचारादि चारों से रहित वैराग्यमूलक निर्वीज निरालम्बन असंप्रज्ञात समाधि अर्थ प्रसिद्ध है वह यहां नही है। योग शब्द का अनेकों वार प्रयोग किया गया है किन्तु चित्तवृत्ति निरोधरूप योग का निरूपण तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योग संज्ञितम् से किया है।

संन्यास शब्द स्पष्ट रूप से संन्यास इस अपने आकार में तथा संन्यस्त और संन्यस्य इस अस्पष्ट रूप से १८ वार प्रयुक्त हुआ है। इन में सम्यक् नितराम् आस इस व्युत्पत्ति के आधार पर निर्विकल्पक समाधि एवं सविकल्पक समाधि तथा काम्य कर्मो का त्यग इस तरह तीन प्रकार के अर्थ किये हैं। इसके सिवाय संन्यास और ज्ञानयोग निष्ठा दोनों पर्याय भी माने गये हैं। संन्यास और त्याग दो भिन्न २ पदार्थ भी माने हैं जैसे संन्यास सर्वकर्म त्याग रूप है और त्याग सर्व कर्म फल त्याग है।

कूटस्थ शब्द तीनवार प्रयुक्त हुआ है। कूट उसे कहते हैं जिस पर रखकर हथोडे से लोहा तांवा चादी एवं सोना आदि धातुएं कूटी जाती हैं उस पर कितना ही कूटो परन्तु वह कम्पित नही होता है। इस लिए कूट की तरह अकम्पित स्थित है माने अप्रकम्थ। ठीक है किन्तु यह वाच्यार्थ नही होकर भाव रूप अर्थ है। अस्तु। किन्तु कूटस्थ का जो कूट की तरह निर्विकार स्थित है ऐसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्थ करते है वह जरा विचारणीय है। क्योंकि जिसके यहां ब्रह्म के सिवाय समस्त पदार्थ वस्तु विकृत हैं तव यह कूट कैसे निर्विकार हो सकता है। अतः इसको ऐसा कह सकते हैं कि जिस पर जिन सोना चांदी आदि धातुओं को कूटते हैं उस पर उन धातुओं का उससे कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है। यानी उस पर उनका कोई चिह्न नहीं होता है अतः उसे निर्विकार कह सकते हैं।

अन्नकूट में कूट शब्द राशिका ढेर का वाचक है अतः कूट की तरह स्थित है यह कौन अर्थ हुआ। ब्रह्म में किस की राशि है अथवा कूट साक्ष्य में कूट कार्षापण आदि में कूट शब्द माया का वाचक है इस लिए कूट में माया में स्थित है यह कौन अर्थ है जो ब्रह्म सव का अधिष्ठान है उसकी अधिष्ठान माया यह कैसी बात है। और कूट का अर्थ वंचना कुटिलता जिह्मता माया है अतः जो माया की आवरण एवं विक्षेप शक्ति रूप से स्थित है वह अक्षर है यह कौन अर्थ है। अतः हमारा किया हुआ अर्थ ठीक है।

नित्य शब्द २६ वार प्रयुक्त हुआ। जिन में कूटस्थनित्यत्व, त्रिकालाबाधित स्वरूप नित्यत्व, आभूतसंप्लवावस्थायित्व रूप नित्यत्व, परिणामि नित्यत्व, औपचारिक नित्यत्व भी है। (यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् इतिन्यायात्) इतने नित्यत्व है। किन्तु यहां नित्यः सर्वगतः में त्रिकालाबाधितस्वरूप नित्यत्व है। अध्यात्मज्ञान नित्यत्व और अध्यात्मनित्याः में नित्यत्व निरतत्वरूप है। अन्यत्र सव जगहों में सर्वदा अर्थ नित्य शब्द का है।

उपासन शब्द ५ बार आया है। उस का अर्थ है चिन्तन यानी निदिध्यासन जो श्रवण एवं मनन के बाद होता है। क्यों कि श्रवण द्वारा प्रमाणगत और मनन द्वारा प्रमेयगत दोषों को दूर करके विपरीत भावना एवं असंभावना को मिटाने के लिए ध्यान करते हैं चिन्तन करते हैं। यह ध्यान विजातीय ज्ञान से अन्तरित नहीं होता है क्योंकि विरुद्ध ज्ञानों का तिरस्कार हो जाता है। बाद में उपास्य देव को मन में ग्रहण करके ऐसी भावना करे कि मैं उसके समीप जा रहा है। तैलधारा की तरह अविच्छिन्न अटूट समान या सजातीय प्रत्यय का ज्ञान का प्रवाह इसमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है। इसी के लिए आत्मविनिग्रह चेतोनिरोध अपेक्षित है। जो गीता में पूर्ण रूप से निरूपित है।

पण्डिताः समदर्शिनः ५।१८ निर्दोषं हि समं ब्रह्म ५।१६

इस तरह ६।६।१२।१३।१८ अध्यायों में दश वार सम शब्द आया है उसका अर्थ है ब्रह्म।

सदसच्चाहमर्जुन ! ६।१६ सदसत्तत्परं यत् ११।३७

न सत् तन्नासदुच्यते १३।१२

यहाँ सत् और असत् शब्द आये हैं। इसमें बड़ा तमाशा है। भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि मैं सत् हूं और असत् हूं। फिर कहते हैं कि न मैं सत् हूं और न असत् हूं। इस तरह तो यह सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय माया स्वरूप ही हुआ।

ब्रह्मनिर्वाणम् इत्यादि में निर्वाण शब्द का ५ वार प्रयोग हुआ। इसका आशय है कि (गतागतं कामकामा लभन्ते) कामनाओं में ग्रस्त हुए लोग गतागत को प्राप्त करते हैं किन्तु जो कामनाओं से रहित हैं वासनाओं से शून्य है निर्वाण को अर्थात् वान माने गति से निर् माने रहित हो जाते हैं। वा गति गन्धनयोः धातु से क्तप्रत्यय होने पर वान बनता है। अतः वान माने गति आवागमन है। ब्रह्म के लिए कहा जाता है (यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम) जहां जाकर फिर लौटता नहीं है वह स्थान ब्रह्म का है अतः निर्वाण युक्त ब्रह्म इसका अर्थ है।

अक्षर शब्द का १० वार प्रयोग हुआ है जिसका अर्थ ब्रह्म भी है। पुरुष तो है ही।

यहाँ भी तमाशा ही है। क्योंकि अक्षरं ब्रह्म परमम् ८।३। इत्यादि कई पद्यों में कह कर फिर (अक्षरादपि चोत्तमः पुरुषस्त्वन्यः) १५।१८ मे अक्षर से भी उत्तम पुरुष अन्य है। भला ब्रह्म से उत्तम कौन है। भाई साहब कहीं तो विश्राम करियेगा ही। अतः क्वचिद्विश्रामो वाच्यः के अनुसार विश्राम स्थान एक है जो ब्रह्म ही है। कहा भी है विश्रामस्थानमेकं कविवर वचसाम्।

इस तरह सप्तम अष्टम अध्याय की सम्मिलित समीक्षा समाप्त हुई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ नवमोऽध्यायः

अथ अब नवम अध्याय का आरम्भ करते हैं।

श्रीभगवानुवाच

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञान विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।

बालक्रीड़ा

श्री भगवान् बोले, हे अर्जुन ! अनसूयु समझाने-बुझाने के लिए कहे हुए पर बुरा मानकर दोषारोपण नही करने वाले तुम्हारे लिए इस गुह्यतम एव सविज्ञान माने अनुभव किए हुए ज्ञान को प्रवक्ष्यामि अवश्य कहूंगा।

यहां विज्ञान का अनुभव अर्थ सभी टीकाकरों को सम्मत है किन्तु कोष में मोक्षविषयक ही बुद्धि को ज्ञान और शिल्प एवं शास्त्र की धी को विज्ञान कहा है। अथवा मोक्षनिमित्तक शिल्प कला माने योग कला एवं शास्त्र की धी को ज्ञान कहा है और मोक्ष से भिन्ननिमित्तक धी को विज्ञान कहा है । मोक्ष का निमित्त ज्ञान है यही अर्थ ठीक है क्योंकि ज्ञानादेव तु कैवल्यम्, ऋते ज्ञानान्न मोक्षः, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय इत्यादि श्रुतियां इसी में संगत होती है।

प्रश्न ७।२ ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः में जब विज्ञान के सहित माने अनुभव किये हुए ज्ञान को निःशेषरूप से कह दिये हैं और प्रतिज्ञा भी किये हैं कि जिसके जान लेने के बाद जानने लायक कुछ बचता भी नहीं है तब कौन सा ज्ञान बचा जिसको यहां कहेंगे।

एक विचार है। ८।१० भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव। में योग को बल कहा है। और पातञ्जल योग दर्शन में भी योग को बल माना है इसका आशय है कि योग इतना बलवान् है कि सञ्चित एवं क्रियमाण कर्म को नष्ट करने वाली

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥
अश्रद्दधाना: पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥

बालक्रीड़ा

ज्ञानाग्नि जिसको नष्ट नहीं कर सकती है अतः उस प्रारब्ध कर्म को भी नष्ट कर देता है। १।

यह ज्ञान राजाओं का ज्ञान है। या यह ज्ञान ज्ञानों का राजा है अर्थात् ज्ञानों में श्रेष्ठ है। और अतिशय गोपनीय है इस ज्ञान से सब पाप क्षीण हो जाते हैं अतः यह ज्ञान पवित्र है। उत्तम है और अव्यय है अनश्वर है। तथा धर्म से युक्त है धर्म्य है अर्थात् धर्म से अपेत रहित नहीं है अत एव (धनाद् धर्मस्ततः सुखम्) धन से धर्म होता है और धर्म से सुख इस सिद्धान्त के अनुसार धर्म संयुक्त इस ज्ञान के द्वारा ब्रह्म का प्रत्यक्षावगम साक्षात्कार सुख से किया जा सकता है।

यद्यपि टीकाकारों ने प्रत्यक्षावगमम् के अनेक विलक्षण अर्थ किये हैं तद्यपि धर्म्यं प्रत्यक्षावगमं सुसुखम् कर्त्तुं ऐसा अन्वय करके उपरि निर्दिष्ट हमारा अर्थ ही औचित्यपूर्ण है।

इस बात को अवश्य जान लेना चाहिए कि अवगमम् में गम् के और अव बोध में बुध् साथ प्रयुक्त होने वाला अव शब्द ज्ञानार्थक ही है निन्दार्थक नहीं है। किन्तु ज्ञानार्थक ज्ञा के एवं मन के साथ प्रयुक्त हुआ वही अवशब्द अवज्ञा में अव-जानन्ति में और अवमन्ता में निन्दार्थक है। यह शब्द का स्वभाव है। क्योंकि सिद्धान्त है कि पुनि पुनि अक्षर वही परत अर्थ और ही और।२।

हे परन्तप ! इस तरह सुख से परमात्मा का साक्षात्कार करा देने वाले साक्षात् धर्मस्वरूप ज्ञान में श्रद्धा आस्था नहीं रखने वाले पुरुष मुझको नहीं प्राप्त करके मृत्युकारी संसार मार्ग में लौट आते हैं अर्थात् बार बार जन्म मरण को प्राप्त करते हैं।

यहां अव्यवहित पूर्व श्लोक में जिस ज्ञान को धर्म्य कहा है उसी को इस अव्यहित उत्तर श्लोक में धर्म शब्द से कह कर ज्ञान का गौरव बढ़ा दिया है।३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥ ४ ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।

बालक्रीड़ा

पहले अष्टमाध्याय में सम्मुखरूप से उक्त येन सर्वमिदं ततम् का और यस्यान्तः स्थानि भूतानि का स्पष्टीकरण करते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् अव्यक्त स्वरूप वाले मुझसे तत है व्याप्त हैं।

अभी ९।२ इस श्लोक में आपने कहा था कि धर्म्य ज्ञान के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार सुख से किया जा सकता है और यहां कहते हैं वह अव्यक्त मूर्ति है यह कैसे ? क्योंकि जिसका साक्षात्कार कर लिया या हो गया वह तो व्यक्त मूर्ति ही हुआ अव्यक्त स्वरूप वाला नहीं। उत्तर-गौ के दूध में घी है। इस तथ्य को सब जानते हैं परन्तु साक्षात्कार उस घी का किसी को भी नहीं है क्योंकि वह घी अव्यक्तरूप से दूध में ही है। किन्तु जब उसका मन्थन किया जाता है तब वह सब की दृष्टि का विषय हो जाता है। इसी तरह ईश्वर सर्वत्र कण-कण में व्याप्त है ऐसा कहा है किन्तु उसका साक्षात्कार किसी को भी नहीं होता है क्योंकि वह अव्यक्त रूप से विश्व में है परन्तु जब उस परमेश्वर की सेवा उपासना भजन किया जायगा तब वह अपने सेवक, उपासक, भक्त के ही गोचर होते हैं। सब के नहीं होते हैं अतः ईश्वर साक्षात्कार्य भी है और अव्यक्तमूर्ति भी है।

आप सभी भूतों मे तत है व्याप्त हैं इस में क्या प्रमाण है। इस पर कहते हैं कि सभी भूत मुझ में स्थित हैं किन्तु मैं उनमें नहीं हूं यानी सम्पूर्ण भूतों का आश्रय मैं हूं मेरा आश्रय कोई नहीं है।४।

भगवन्। सर्वं खलु इदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन यह श्रुति कहती है कि यह सब कुछ ब्रह्म है ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं है। किन्तु आप कहते हैं कि सब भूत मुझमें है मैं सब भूतों में नहीं हूं। इसका आशय हुआ कि आप आधार हैं भूत आधेय हैं। अर्थात् दोनों भिन्न-भिन्न हैं किन्तु यह तो श्रुति के विरुद्ध हुआ इस पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥ ५ ॥
यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥
सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥
न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ।

बालक्रीड़ा

भगवान् कहते हैं कि नहीं नहीं सब भूत भी मुझ में नहीं हैं ! इस पर अर्जुन कह सकता है कि यह तो वदतो व्याघात हुआ एक बार कहते हैं सब भूत मुझ में हैं दुवारा कहते हैं किं सब भूत मुझ में नहीं हैं । इस पर भगवान् कहते हैं कि मेरे योग के सामर्थ्य को देखो यह सब मेरी क्रीडा है जो यह भेद तुमको मालूम पड़ता है । वस्तुतः ये भूत मेरी आत्मा है अर्थात् मत्स्वरूप सब भूत हैं । मैं भूत भावन हूं मै भूतों को पैदा करता हूं मैं भूतभृत् हूं सब भूतों का धारण पोषण करता हूं ।५।

जैसे नित्य ही आकाश में रहने वाला महान् वायु सब जगहों में जाता है किन्तु उसका कुछ भी कोई भी लगाव किसी से नहीं होता है वैसे ही वेलगाव अर्थात् आधाराधेय भाव सम्बन्ध के विना सब भूत मुझमें हैं । ऐसा समझो ।६।

इतनां ही नही है कि सब भूतों की स्थिति मुझमें है अपितु सब भूतों का लय मुझमें है सब भूतों की उत्पति मुझसे है क्यो कि कल्प के क्षय के समय सब भूत मेरी प्रकृति में लीन हो जाते हैं और फिर कल्प के आरम्भ में सब भूतों की सृष्टि मैं करता हूं ।७।

क्यों कि प्रकृति के वशसे सामर्थ्य से अवश हुए असमर्थं हुए इन सम्पूर्ण भूतों को मैं प्रकृति के सहारे पर प्रकृति के बल पर पुनः पुनः उत्पन्न करता हूं । ८ ।

हे धनञ्जय ! यद्यपि मैं इन भूतों की उत्पत्ति स्थिति एवं लीनता करता हूं ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥

बालक्रीड़ा

तद्यपि इन उत्पत्ति आदि क्रियाओं के कर्मों के करने पर भी ये कर्म मुझको बाँध नहीं सकते हैं। क्यों कि मैं इन उत्पत्ति वगैरह क्रिया में आसक्त नही हूं। अतः उदासीन की तरह रहता हू। ९।

क्यों ! ऐसी क्या बात है कि आप कर्म करते हैं तब भी कर्मों का बन्धन नही होता है इस पर कहते हैं कि सब कुछ कर्म प्रकृति करती है मैं तो केवल साक्षी हूं इस लिए यह सिद्धान्त है कि मेरी देख रेख में यह प्रकृति चराचर जगत् की उत्पत्ति करती है यही कारण है कि जिससे जगत् का इतना परिवर्तन हो रहा है। १०।

सम्पूर्ण भूतों के ऊपर मेरे महान् एवं उत्कृष्ट ईश्वर भाव को नही जानने वाले ये मूढलोग मुझे मनुष्य शरीर धारी समझ कर मेरी अवज्ञा करते हैं। ११।

इन अवज्ञा करने वालों की आशाएं आकांक्षाएं मोघ हैं व्यर्थ हैं। इनके कर्म मोघ हैं निष्फल है इनका ज्ञान मोघ है दुष्प्रवृत्तिजनक है क्यों कि ये विचेता हैं मूर्ख हैं। मुह वैचित्ये के पर्याय हैं। इनके मूर्ख होने का हेतु है कि इन लोगों ने मोह में डालने वाली राक्षसी माने सुरविरोधिनी प्रकृति स्वभाव का आश्रयण कर रखा है ।१२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३ ॥
सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्चमां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥
अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम् ।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥

बालक्रीड़ा

किन्तु हे पार्थ ! जो तो महात्मा है जिनका आत्मा आशय महान् है उन लोगों ने दैवी प्रकृति का आश्रय किया है अत एव मुझको भूतों का आदि कारण एवं अविनाशी समझकर मुझसे अन्य विषयों से मन को हटा कर अनन्य भाव से मेरा भजन करते है । १३ ।

अत एव वे लोग मुझे प्रसन्न करने के लिए सतत निरन्तर मेरा कीर्त्तन, मेरी प्राप्ति के लिए यत्न, दृढता के साथ व्रतोपवासादि का अनुष्ठान और प्रणाम करते हुए निष्ठा के साथ योग में मनको लगाकर नित्य मेरी उपासना करते हैं । १४ ।

अन्य लोग ज्ञान यज्ञ से भजन करते हुए कभी एक रूप से अभेद भाव से और कभी भेद भाव से वहुत प्रकार से सर्वतो मुखी मेरी उपासना करते हैं । १५ ।

उपासना में सर्वतो मुखत्व को वतलाते हैं कि मैं क्रतु हूं अग्निष्टोमादि श्रौत कर्म हूं । मैं यज्ञ हूं देवताओं के उद्देश्य से द्रव्यादित्याग स्वरूप स्मार्त कर्म हूं । या मैं स्वधा हूं पितरों के लिए दीयमान अन्न हूं । मैं औषध हूं आरोग्यप्रद अनुकूल प्रतिकूल द्रव्य हूं । मैं मन्त्र हूं जिसका उच्चारण करके पितरों को कव्य और देवताओं को हवि दी जाती है वह उच्चारणीय ऋगादि वैदिक शब्द मैं हूं । मैं आज्य हूं हवि हूं । मैं अग्नि हूं जिसमें हवन किया जाता है या (अग्निर्वै देवानां मुखम्) देवताओं का मुख हूं । मैं हुत हूं हवन कर्म हूं हवन क्रिया हूं ॥१६॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥
गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥

बालक्रीड़ा

मैं इस जगत् का पिता रक्षक 'माता जननी' धाता प्राणियों के कर्मफल का विधाता, पितामह पिता का भी पिता, वेद्य जानने के योग्य, पवित्र पापों का नाशक तप आदि, ओंकार प्रणव, ऋग्वेद सामवेद एवं यजुर्वेद हूं ॥१७॥

मैं गति (गम्यते प्राप्यते) प्राप्तव्य कर्मफल हूं, भर्त्ता कर्मों के फलों को देकर पोषण करने वाला हूं। मैं प्रभु स्वामी अमी मम स्वम् ये मेरे अपने हैं ऐसा स्वीकार करने वाला हूं। मैं साक्षी प्राणियों के शुभ एवं अशुभ कर्मों का गवाह हूं। मै निवास हूं भोगायतन शरीर हूं। मैं शरण हूं रक्षक हूं। 'शाधि मां त्वां प्रपन्नः' ऐसी प्रपत्ति करने वालों की पीडा का हरण करने वाला हूं। मैं सुहृत् हूं बदला प्राप्त करने की भावना नहीं रखकर उपकार करने वाला हूं। मैं प्रभव हूं स्रष्टा हूं। मैं प्रलय हूं संहरता हूं। मैं स्थान हूं आधार हूं। मैं निधान हूं कालान्तर में उपभोग्य प्राणियों के कर्म जन्य शुभाशुभ फलों के रखने का खजाना हूं। मैं बीज हूं उत्पत्ति का कारण हूं। मैं अव्यय हूं अविनाशी हूं। बिना बीज के अंकुर नहीं होता है जिसका अंकुर देखते हैं वह बीज कभी नष्ट नहीं होता है ॥१८॥

मैं तपता हूं आदित्य बनकर ग्रीष्मऋतु में लोक को तप्त करता हूं। मैं वर्षा का वृष्टिका निग्रह करता हूँ रोकथाम करता हूं। मैं वृष्टि का उत्सर्ग कर्ता वर्षा कर्ता हूं। मैं अमृत हूं। मैं मृत्यु हूं। हे अर्जुन मैं सत् हूँ मैं असत् हूं। अर्थात् यह है इस तरह जिसका नाम एवं रूप से निर्देश होता है वह व्यक्त नामरूपात्मक कार्य सत् कहलाता है उससे विलक्षण उस से विपरीत अव्यक्त नामरूपात्मक कारण असत् कहलाता है। वह दोनों मैं हूं। और इन दोनों के निषेध करने पर निषेध की अवधि के रूप में स्थित कार्यकारण भाव से रहित निर्विषय निर्विशेष जो पर वस्तु

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है वह मैं हूं। इससे यह सूचित किया कि अहं क्रतुः, अहं यज्ञः यहां से लेकर सदसच्चाहम् यहां तक की सब वस्तु ब्रह्मरूप हैं अतः मुमुक्षु जिस वस्तु को ब्रह्मरूप से उपासना करेगा वही वस्तु उपास्य ब्रह्म होगा उससे उसकी चित्तशुद्धि एवं मोक्ष प्राप्ति क्रम से होगी। इस पर प्रश्न होता है कि अब्रह्म की ब्रह्म रूप से उपासना फलवती कैसे होगी। तथा आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः इस श्रुति निर्दिष्ट दृश्य श्रव्य मन्य एवं निदिध्यास्य वह कैसे होगा। उत्तर। हम आपसे पूछते हैं कि जिसको आप दृश्य कहते हैं वह है या नहीं है। यदि कहें कि वह नहीं है अर्थात् वह है ही नहीं तब यह अमुक है यह अमुक है यह व्यवहार कैसे होगा। अर्थात् सब व्यवहार ही बन्द हो जायगा। अगर कहें कि वह दृश्य वस्तु है तब हम पूछते हैं कि वह सत् है या असत् है। यदि कहें कि असत् है तब तो खरहे के सींग की तरह असत् वस्तु का यह है इस रूप से दृश्यत्वेन निर्देश कैसे होगा। क्योंकि यह है ऐसा दृश्यत्वेन निर्देश तो सत् वस्तु का ही हो सकता है यदि उसे सत् कहेंगे तब सत् तो ब्रह्म ही है। ब्रह्म के सिवाय अन्य किसी वस्तु को सत् नहीं कह सकते हैं। फलतः सिद्ध हुआ कि दृश्य सब कुछ ब्रह्म ही है।

फिर इस पर प्रश्न होता है कि यदि सब कुछ घट पट देवदत्त यज्ञदत्त आदि ब्रह्म ही है तब देव दत मरगया तो क्या ब्रह्म मरगया ऐसा व्यवहार होगा। उत्तर नहीं, ऐसा व्यवहार नहीं होगा। किन्तु भ्रम से कल्पित अंश में ही मरने का व्यवहार होगा। वस्तुतः तथ्य अंश में मरने का व्यवहार नहीं होगा। जैसे किसी ने दंडे से या पत्थर से घड़े को तोड़ दिया और कैंची वगैरह से कपड़े को चीरदिया या फाड़ दिया तो वहाँ घटरूप कल्पित अंश का ही नाश हुआ मिट्टी का नाश नहीं हुआ। या पट रूप कल्पित अंश का ही नाश हुआ रूई का नाश नहीं हुआ। उसी तरह देवदत्त मर गया यहां पर भी करचरणादिमत्वेन कल्पित नाम रूप वाले व्यक्ति का ही नाश हुआ तथ्य वस्तु का नाश नहीं हुआ। यदि तथ्य वस्तु का भी नाश हो गया कहेंगे या मान लेंगे तब तो दृश्य श्रव्य मन्य निदिध्यास्य कोई वस्तु ही नहीं रह जायगी अतः दृश्यादि या अदृश्यादि सब कुछ सत् एवं असत् रूप से ब्रह्म ही है। जैसा कि कहा है—यथा हि भगवानेव वस्तुतः सदसच्च यत्। पातु सर्वैः स्वरूपैर्नः सदा सर्वत्र सर्वगः। न सन् नचासन् निषेध शेषो जयतादशेषः भा० ६ स्क० ३ अ०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥ १९ ॥
त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोक मश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे-पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

बालक्रीड़ा

भा० स्क० ८ अ० फलतः ब्रह्म आदि असत् पर्यन्त किसी भी वस्तु की ब्रह्म रूप से की जाने वाली उपासना फलदायक होती ही है। क्योंकि भावना के अनुरूप फल होता है। जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरत तिन देखी तैसी। यही सिद्धान्त है ॥१९॥

इस तरह मुझ को सर्वात्मा समझकर निष्काम भाव से उपासना करते हैं। वे चित्तशुद्धि को प्राप्त करके क्रमशः मोक्ष को प्राप्त करते हैं जो तो काम भावना ग्रस्त हैं वे कामों को सिद्ध करने के लिए कर्मों के अनुष्ठान में संलग्न हैं उनकी स्थिति को बतलाते हैं कि जो ऋक् यजुः सामरूप तीन विद्याओं का अध्ययन करते हैं अतः वे सब जो उन विद्याओं को जानते हैं तदनुसार सोम यज्ञ में सोम के पानकरने से निष्पाप होकर यज्ञों के द्वारा मेरा यजन करके स्वर्ग गमन रूप फल को प्राप्त करने की प्रार्थना करते हैं वे पुण्य के फल सुरेन्द्र लोक में जाकर वहां देवताओं के योग्य दिव्य भोगों को भोगते हैं ॥२०॥

किन्तु जब तक पुण्य है तब तक विशाल स्वर्ग लोक का भोग करते हैं इसके बाद पुण्यों के क्षीण होने पर मर्त्य लोक में पुनः वापिस लौट आते हैं। इस प्रकार त्रयीधर्म का वेदत्रयी प्रोक्त कर्मों का अनुष्ठान करने वाले भौतिक दैविक कामों की विषयों की कामना करने वाले अर्थात् विषय भोग लेकर कामी पण्डित मीमांसक लोग गतागत को पुनः पुनः जन्म और पुनः पुनः मरण को प्राप्त करते हैं ॥२१॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।। २२ ।।
येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।। २३ ।।
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ।। २४ ।।
यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ।। २५ ।।

बालक्रीड़ा

जो लोग 'मेरो तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई रे' की तरह अनन्यभाव से चिन्तन ध्यान करते हुए, नित्य मेरी उपासना करते हैं। ऐसे नित्य अभितः हर तरह से योग के करने में लगे हुए लोगों के योगक्षेम का निर्वाह मैं करता हूं। माने जो प्राप्त नहीं है उसको प्राप्त करा देने और जो प्राप्त हो गया है उसके संरक्षण करने के भार को मैं वहन करता हूं।२२।

और भी जो मेरे सिवाय अन्य देवताओं के भक्त हैं अत एव श्रद्धा समन्वित होकर उनका यजन करते हैं। वे भी हे कौन्तेय ! अविधिपूर्वक मेरा ही यजन करते हैं। विधि शब्द का अर्थ यहां वेद विहित अपूर्वविधि गुणविधि नहीं है अपितु ज्ञान है अतः अविधिपूर्वक माने अज्ञानपूर्वक।२३।

अव उनके अज्ञान और अज्ञान के फल को कहते हैं कि वे पूर्वश्लोक में वतलाये हुए लोग यह नहीं जानते हैं। मैं ही इन सब यज्ञों के फल का भोक्ता यजमान हूं प्रभु हूं एवं फल का दाता हूँ। अत एव इस रहस्य को नहीं जानने के वदौलत ही वे लोग तत्त्व से च्युत होते हैं।२४।

देवताओं के व्रत पूजन, भोजन नियम करने वाले देवताओं को प्राप्त करते हैं पितरों का व्रत नियम श्राद्ध तर्पण आदि करने वाले पितरों को प्राप्त करते हैं। भूतों की यक्ष राक्षस, विनायक, चतुःषष्टि मातृगण की इज्या पूजा करने वाले भूतों को और मेरा भजन करने वाले मुझे प्राप्त करते हैं।।२५।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥
यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥
समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्वा मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥

बालक्रीड़ा

अधिक क्या कहूं जो भी व्यक्ति पत्र पुष्प फल और जल मुझे भक्ति से प्रीति से देता है उस शुद्ध बुद्धि के द्वारा भक्ति पूर्वक समर्पण किये हुए पत्रादि को मैं खाता हूं ।२६।

अतः जो तुम खाते हो पीते हो जो करते हो जो हवन करते हो जो देते हो और जो तुम करते हो उस सबको मुझे समर्पण कर दो ।२७।

इस प्रकार करने से बन्धनकारी शुभ एवं अशुभ कर्मों के शुभ एवं अशुभ फलों से मुक्त हो जाओगे। इस तरह विशेष रूप से मुक्त हुए तुम सर्व कर्मफल के संन्यास माने भगवान् के समर्पण रूप योग से आत्मा को अन्तः करण को मेरे में लगाकर मुझको प्राप्त कर लोगे ।२८।

क्योंकि मैं सबके लिए सम हूं। अर्थात् सब मैं समान भाव रखता हूं। न कोई मेरा द्वेष्य है और न कोई मेरा प्रिय बन्धु है जो मेरा भजन करते हैं। वे अपनी भक्ति के कारण मुझ में हैं और मैं भी उन में हूं ।२९।

प्रश्न—भगवन् पहले आपने कहा है न च मत्स्थानि भूतानि, न च भूतस्थोऽहम्। न भूत मेरे हैं और न भूतों में मैं हूँ। ममात्मा सर्वभूतानि। सब भूत मेरी आत्मा है मेरे स्वरूप है अतः अभेद है। यह उसमें है वह इसमें है यह आधाराधेय भाव सम्बन्ध दो में होता है भेद में होना है। किन्तु यहां कहते हैं कि वे मुझ में हैं मैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय ! प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ ३१ ॥

मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्ययास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।

बालक्रीड़ा

उनमें हूं। उत्तर। यहां भी वही भाव है। भगवान् कहते हैं भक्त मुझे इतने अतीव प्रिय हैं कि मैं अपने स्वरूप को भूल जाता हूं कि मैं अलग हूं और ये अलग हैं। मैं इनमें हूं या ये मेरे में हैं। अतः भक्त मेरे सब कुछ हैं मैं भक्तों का सब कुछ हूं अधिक क्या कहूं अगर सुदुराचार भी महाघोर पापी भी अनन्य भाव से मेरा तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई के रूप में भजता है प्रेम करता है। तो उसको साधु ही सज्जन ही मानना चाहिए क्योंकि वह सम्यक् व्यवसाय से युक्त है। या उचित मार्ग में संलग्न है ।३०।

इसे याद रखो जो भी व्यक्ति भेद भाव को छोड़ कर मेरे से अन्य को किसी को भी कुछ नहीं समझ कर मेरे में प्रेम करता है वह तत्काल धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वती शान्ति को प्राप्त करता है। अतः हे कौन्तेय। तुम प्रतिज्ञान करो निश्चित जानो कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं हो सकता है। नष्ट नहीं होगा नहीं होगा नहीं होगा ।३१।

हे पार्थ ! मेरा आश्रयण करने वाले स्त्री, वैश्य तथा शूद्र तथा जो भी पापियों की योनि में पैदा हुए हैं वे सभी उत्तम गति को श्रेष्ट फल को प्राप्त करेंगे।३२।

जब पाप योनि भी मेरा आश्रयण करने से उत्तम गति को प्राप्त कर सकते हैं तब पवित्र ब्राह्मणों और भक्त राजर्षियों के बारे में तो कहना ही क्या है वे तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ ३३ ॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥

बालक्रीड़ा

अवश्य ही उत्तम गति को प्राप्त करेंगे ही। इस लिए हे अर्जुन ! इस अनित्य क्षणभंगुर एवं असुख सुखों से रहित इस मर्त्यलोक को प्राप्त करके सर्वपुरुषार्थों की सिद्धि के हेतु दुर्लभ मनुष्य योनि को प्राप्त कर मेरा भजन करो।३३।

अब भजन का प्रकार बतलाते हैं कि तुम मेरे में मन लगावो। मेरे में प्रेम करो। मेरा यजन करो। मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार अपने चित्तको समाहित कर के मत्परायण हो जावो अर्थात् मेरे तो भगवान् ही पर उत्कृष्ट अयन गति हैं ऐसा मान तोओ मुझको प्राप्त कर लोगे ।३४।

यही श्लोक उत्तरार्द्ध में कुछ पाठ भेद से १८वीं अध्याय में भी (६५) आया है—

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।

इति श्री मधुसूदनशास्त्री की कृति श्रीमद्भागवद्गीता की टीका बालक्रीडा में यह नवम अध्याय समाप्त हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ नवमाऽध्यायस्य समीक्षा

★

मधुसूदनी

६।१ अत्र विज्ञान शब्दस्य अनुभवोऽर्थः इति सर्वेषां टीकाकाराणां सम्मतम्। किन्तु अमरकोषे मोक्षे धीर्ज्ञानम्। अन्या शिल्पशास्त्रविषयिका धीः विज्ञानम्। अथवा मोक्षनिमित्ति का शिल्पशास्त्रयोः धीः ज्ञानमुच्यते। अन्यनिमित्तिका शिल्प शास्त्रयोः धीः विज्ञानमुच्यते। इति।

प्रश्नः- ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ७।२ इत्यत्र यदा सविज्ञानम् अनुभव सहितं ज्ञानम् अशेषतः उक्तमेव प्रतिज्ञा च कृता।

यज् ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते इति तदा कतमं ज्ञानमवशिष्टम् यदत्र वक्ष्यति। इति।

एको विचारः- भक्त्या युक्तो योगवलेन चैव ८-१० इत्यत्र योगो वलरूपेण प्रोक्तः। तथा पातञ्जले योगदर्शने च योगो वलमित्युक्तम्। एतस्याशयः-योग एतादृशो वली यस्य प्रारब्धकर्मणो विषय एवमुच्यते यत् प्रारब्धकर्मणो भोगादेव नान्यस्मात् क्षयः, तत्कर्म तथा यच्च सञ्चितक्रियमाणकर्मणोः नाशको ज्ञानाग्निर्न नाशयितुं शक्तः तदपि कर्म योगो नाशयति। इति।

प्रत्यक्षावगमम् इति। अत्र टीकाकाराः प्रत्यक्षेण सुखादेरिव अवगमः लाभः प्राप्तिरिति शंकराचार्याः। अवगम्यते अनेन इत्यवगमः प्रमाणम्। अवगम्यते यः स अवगमः फलम्। प्रत्यक्षं प्रमाणं यस्मिन्निति प्रत्यक्षावगमम्। इति स्वरूपतः साक्षिवेद्यत्वम्। इति वहवः। प्रत्यक्षं प्रमाणम् वैदुष्यम्। एवं हि विद्वत्प्रत्यक्षमिति शंकरानन्दः। प्रत्यक्षावगमम्, अक्षेषु प्रति प्रतिस्थितः (प्रतिष्ठितः) प्रत्यक्षो भगवान्। कुगतिपादयः समासः नाव्ययीभावः। अवगम्यते साक्षात् क्रियते येन तदवगमम्। ग्रह वृह निश्चि गमश्च इति करणे गमेरप् प्रत्ययः। तेन प्रत्यक्षस्य हरेर्भगवतः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अवगमनम् सर्वेन्द्रियप्रेरकभगवदपरोक्षज्ञानसाधनम् । इति राघवेन्द्रः । इत्येवं व्याचख्युः परमस्माभिः धर्म्येण धर्मयुक्तेन ज्ञानेन ब्रह्मणः प्रत्यक्षावगमः साक्षात्कारः सुखेन कर्त्तुं शक्यः । इतिभावानुरोधेन धर्म्यं प्रत्यक्षावगमं कर्त्तुं सुसुखम् इत्यन्वयः कृतः । सोऽयमौचित्यपूर्णः ।

इदमपि बोध्यम् । अवगमम् इत्यत्र गमेन सह, अवबोध इत्यत्र बोधेन सह प्रयुक्तः अवशब्दः निन्दारूपार्थं नैव बोधयति परं स एव अवशब्दः ज्ञानार्थकेन ज्ञाधातुना मन् धातुना च सह प्रयुक्तो निन्दारूपमर्थं बोधयति । अवज्ञा तिरस्कारः । अवमन्ता तिरस्कर्त्ता । अवजानन्ति निरस्कुर्वन्ति इति । अत्र शब्दस्वभाव एव शरणम् नान्यत् । यतो हि राद्धान्तः पौनःपुन्येन अक्षराणि तान्येवापतन्ति अर्थाः पुनरन्ये अन्ये इति ।

धर्म्यं ज्ञानमिति पूर्वत्र पद्ये उक्तम् । अत्र तृतीये पद्ये धर्मस्य आत्मज्ञानस्यत्येवं धर्म इति उक्तम् । धर्मस्वरूपं ज्ञानमिति गौरवम् वर्द्धितम् ।

सम्प्रत्येव ९।२ पद्ये भगवता अभिहितम् यत् प्रत्यक्षेण अवगमं कर्त्तुं सुसुखम् पुनश्च ४ र्थे पद्ये कथ्यते अव्यक्तमूर्तिनेति । तत्कथम् यस्य साक्षात्कारः कृतो वा जातो वा स अव्यक्तमूर्तिः कथम् । उत्तरम्—

दुग्धे घृतमिदं तथ्यं सर्वो जनो जानाति । परन्तु दुग्धे सम्मुखं प्राप्तेऽपि घृतसाक्षात्कारः कस्यापि न हि भवति । यतो हि तद् घृतमव्यक्तरूपेण दुग्धेऽस्ति । तस्यैव दुग्धस्य यदा मन्थनं क्रियते तदा तद् घृतं सर्वेषां दृष्टिविषयतामाप्नोति । तद्वैव ईश्वरोऽपि सर्वत्र कणे कणे व्याप्तः परं तस्य साक्षात्कारः कस्यापि नहि भवति । यतः स अव्यक्तरूपेण विश्वस्मिन्नस्ति । परन्तु तस्यैव यदा सेवा उपासना भजनं क्रियते तदा स स्वीयस्य सेवकस्यैव भक्तस्यैव उपासितुरेव प्रत्यक्षतां गच्छति न हि सर्वस्य । अतः स साक्षात्कार्यः अथ च अव्यक्तोऽपि ।

यत्तु अव्यक्तः सर्वकरणाविषयत्वान्न व्यज्यते इति अव्यक्तोऽयमात्मा । अतएव सर्वकरणाविषयत्वादेव अचिन्त्योऽयम् । यद्धि इन्द्रियगोचरं वस्तु तच्चिन्ताविषयत्वमापद्यते इति भगवच्छङ्करपादैः समीहितं तत्तु चिन्त्यमेव । यतो हि सर्वकरणागोचरत्वात्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अव्यक्तः अचिन्त्य इति च यदुच्यते तन् मनसैवानुद्रष्टव्यमिति श्रुतेः शास्त्राचार्योप-देशकृताभ्याससंस्कृतं मनः आत्मनो दर्शने करणम्। मनसश्च मनः षष्ठानीन्द्रियाणि इति, इन्द्रियाणां मनश्चास्मि इति च भगवदुक्तेः करणत्वम् इन्द्रियत्वम्। तथा च करणगोचरत्वसाधकस्य इन्द्रियविषयत्वप्रयोजकस्य श्रुतिस्मृतियुक्तिविशेषस्य सत्वात् कथमव्यक्तोऽचिन्त्यश्चात्मेति।

एकवारं भगवान् कथयति ९।४ र्थेपद्ये "मत्स्थानि सर्वभूतानि" परमहं तेषु नावस्थितः" इति द्वितीयवारं कथयति ५ मे "न च मत्स्थानि भूतानि" इति। पुनः ६ ष्ठे 'तथा सर्वाणि भूतानि मत्संस्थानीत्युपधारय" इति। पुनः ९।२९ ऊनत्रिंशे पद्ये " मयि ते तेषु चाप्यहम् इति। एवम् ऐश्वरं योग प्रदर्शयति भगवान् अन्यत् किं वा वक्तव्यम् स्यात्। पूर्वे कि मध्ये किं पर्यन्ते किम् सर्वत्रैवं राजते राजधर्मः इति।

पूर्वं २।४२श्लोके वेदवादरताः ४३ श्लोके च स्वर्गपराः कामात्मानः इत्युक्तम् पुनश्च ९।२० श्लोके त्रैविद्याः स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते तथा ९।२१ पद्येऽपि त्रयीधर्ममनु-प्रपन्नाः कामकामाः गतागतं लभन्ते। एवं सर्वत्र वेदस्य विषये अनास्थां सूचयित्वा भगवान् कथयति त्रैगुण्यविषया वेदाः सांसारिकं व्यवहारं बोधयन्ति अतः त्रैगुण्य रहितो वेदरहितो भवेत्युक्तम्। तत्तु यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः तदर्थं कर्म कौन्तेय! मुक्तसङ्गः समाचर इति सहयज्ञाः प्रजा इति। देवान् भावयता इति दास्यन्ते यज्ञभाविता इति। यज्ञशिष्टाशिनः इति तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् इति। य एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयति स मोघं जीवति इति। यज्ञशिष्टामृतभुजः इति यज्ञ दानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। इति सर्वं ज्ञात्वा समन्वयध्वम् नान्यथा मनुध्वम्। अन्यथा वेदोऽखिलो धर्ममूलमिति स्मृत्युक्तं वेदस्य धर्ममूलत्वमपहस्तितं स्यात्। वेदस्य त्यागे धर्मस्यैव त्यागः स्यात् ततश्च—

न जातु कामान्न भयाद् धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः। इति। नाहं कामान्न संरम्भान्न द्वेषान्नार्थकारणात्। न हेतुवादाल्लोभाद्वा धर्मं जह्यां कथञ्चन। इति। मम प्रतिज्ञाञ्च निबोध सत्यां सर्वं न धर्मस्य कलामुपैति। तं सन्धिमास्थाय सतां सकाशे को नाम जह्यादिह राज्यहेतोः। इत्यादिकं च सर्वं व्यर्थतामुपैष्यति।

अत्र ९।२९ पद्ये न मे द्वेष्यो न मे प्रिय इत्युक्तमग्रे १८।६५ पद्ये प्रतिजाने प्रियोऽसि मे। इति एकवारं न प्रियः पुनः प्रियः इत्येवं राजते राजधर्मः।

इति नवमाध्यायस्य समीक्षा समाप्ता।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ दशमोऽध्यायः

अथ अब दशम अध्याय का आरम्भ करते हैं।

भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
तत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥
न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

बालक्रीड़ा

श्रीभगवान् बोले। हे महाबाहो। अर्जुन! अर्जुन क्षत्रिय है क्षत्रिय में बाहुओं का महत्त्व सामर्थ्य ही है अतः हे युद्धसामर्थ्यसम्पन्न! अर्जुन को कहा। भूय एव फिर भी, यद्यपि तुम मेरे वचन को सुन चुके हो तद्यपि फिर भी मेरे परम उत्कृष्ट उस वचन को सुनो। जिस वचन को मैं तुमसे कहूंगा।

पछले नवम अध्याय में अर्जुन को भगवान ने अनसूयवे कहा था यहां दशम अध्याय में उसको प्रीयमाणाय कहा। मेरे वचन को सुनकर तुम प्रसन्न होते हो अतः मैं भी हितकी कामना से तुमको कहूंगा अतः सुनो। १।

देवता लोग एवं महर्षि लोग मेरे प्रभव को प्रभाव को एवं उत्पत्ति को नही जानते हैं। मैं उनका सब प्रकार से आदि हूं कारण हूं। या उत्पादक होने के नाते अथवा ज्ञान के कारण और अनुभव के हिसाब से भी मैं उनमें आदि हूं प्रथम हूं। २।

जो व्यक्ति लोक महेश्वर दुनिया के महान् शासक मुझको अज और अनादि समझता है वह किसी भी प्रकार से मूढ नही है। यहां 'किसी भी प्रकार से' यह अर्थ 'सम् उपसर्ग का किया गया है। वह असंमूढ है इतना ही नही बल्कि वह इस जानने के बदौलत सम्पूर्ण पापों से छूट जाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।

असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।

सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।

बालक्रीड़ा

जो अनादि है जिसका कोई आदि नही है कारण नही वह अज ही तो होगा। पैदा नही होगा। क्यों कि कारण से कार्य होता है जब कारण ही नही है तब कारण के विना कार्य किससे पैदा होगा। अनादि क्यों है उसका कारण क्यों नही है इसका उत्तर है वह कारणों का भी कारण है 'चेतनों का भी चेतन है मूले मूलाभावादमूलं मूलम् इति क्वचिद् विश्रामो वाच्यः' इसी लिए कहा कि जो इस तथ्य को जानता है मनुष्यों में समझदार है। अथवा अनादि पद में अन और आदि दो शब्द हैं। उनका अर्थ है चेष्टयिता सबको चेष्टा करा देने वाला। और आदि का अर्थ है कारण। यहां अन शब्द में अन्तर्णीत ण्यर्थ है। अतः चेष्टयिता प्राणयिता अर्थ है पचाद्यच् से बना है ॥ ३ ॥

लोक महेश्वरत्व को बतलाते हैं कि पद्य में बुद्धि से लेकर अयशः तक गिने हुए बीस २० भाव ही मनोवृत्तियां या स्वभाव हीं क्या पृथक् पृथक् सात्विक राजस तामस रूपसे नाना प्रकार के प्राणियों के विकार मुझसे ही होते हैं। बुद्धि स्थूल एवं सूक्ष्म आदि पदार्थों के विषयों के समझने में विवेक करने में अन्तः करण की सामर्थ्य। ज्ञान आत्मरूप तद्भिन्न अनात्मरूप पदार्थों की अभिज्ञता अवबोध। असंमोह प्रत्युत्पन्नमतित्व अर्थात प्रत्युत्पन्न प्रत्युपस्थित होनें वाले कर्त्तव्य कार्यो एवं बोद्धव्य अर्थों में विना व्याकुलता के विवेक के साथ सम्यक् प्रवृत्ति। क्षमा आक्रोश निन्दा एवं ताडनादि का सहना सहिष्णुता। सत्य यथार्थ भाषण। दम वाह्येन्द्रियें का विषयों से निवर्त्तन, शम अन्तरिन्द्रियों का संमय विषयों की तरफ होने वाली प्रवृत्ति का रोकना। सुख चित्तमें आह्लाद चित्त का आनन्द। दुःख चित्तका सन्ताप प्रतिकूल अनुभव। भव उत्पत्ति। अभाव विनाश। भय त्रास। अभय त्रासाभाव। अहिंसा स्वपर प्राणियों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥
महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥
एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥
अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ ८ ॥

बालक्रीड़ा

का अपीडन। समता राग द्वेषादि का चित्त में नहीं होना। तुष्टि प्राप्त भोगों में अलं प्रत्यय। तप शास्त्रीय मार्ग से शरीर एवं इन्द्रियों का शोषण। दान सत्पात्र में समर्पण। यशः विद्या एवं शौर्य से होने वाली श्लाघा प्रशंसा। विद्यादिजनितं यशः। दानादिप्रभवा कीर्तिः। अयश अधर्मनिमित्ता लोकनिन्दा। इसके सिवाय अबुद्धि। अज्ञान। असंमोह। अक्षमा। असत्य। अदम। अशम। हिंसा। असमता। असन्तोष। अतप। अदान। काम। क्रोध। लोभ। मोह। दम्भ। दर्प। असूया। अहंभाव इत्यादि विकार भी प्राणियों में मुझसे ही होते हैं॥ ४।५ ॥

भृगु प्रभृति सात महर्षि, पूर्वे पुराने सनकादि महर्षि और चतुर्दश मनु ये सब मेरे में भाव माने भावना करने वाले मानस पुत्र पैदा हुए हैं। इस लोक में प्रजा इनकी ही है ॥ ६ ॥

जो मेरी इस विभूति को ऐश्वर्य को या विस्तार को योग को युक्ति को अथवा योगज ऐश्वर्य सामर्थ्य एवं सर्वज्ञत्वको जानता है वह अविकम्प माने विघ्न बाधाओं से विचलित नही होने वाले योग से मद्विषयक समाधि से युक्त हो जाता हैं वह अवश्य ही कृत कृत्य हो जाता है इसमें कोई संशय नही है ॥ ७ ॥

भाव से परमार्थ तत्त्व में अभिनिवेश रूप भावना से समन्वित कुछ लोग ऐसा समझ कर मेरा भजन करते हैं। ऐसी कौन सी समझ है उसको कहते हैं मैं प्रत्यगात्मा सम्पूर्ण जगत् का प्रभव हूं उत्पादक हूं और मुझसे यह सम्पूर्ण जगत् प्रवृत्त होता है ॥ ८ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥ ९ ॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ १० ॥
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥
परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।

बालक्रीड़ा

मेरे में चित्त लगाने वाले और मेरे ऊपर प्राणों को न्योछावर करने वाले सभी लोग परस्पर में एक दूसरे को मेरे विषय में समझाते हुए कहते हुए सन्तुष्ट होते हैं और रति को प्राप्त करते हैं ॥ ९ ॥

इस प्रकार सतत निरन्तर जो मेरे में अभियोग करते हैं तथा प्रीति पूर्वक मेरा भजन माने सेवा करते हैं उनको मैं उस वुद्धि योग का ज्ञानरूपी उपाय का उपदेश देता हूं जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते है ॥ १० ॥

इन्हीं नित्याभियुक्त अत एव प्रीति पूर्वक भजन करने वालों के ऊपर अनुकम्पा करके मैं उनके अन्तः करण मैं स्थित होकर देदीप्यमान ज्ञानरूपी दीपक के द्वारा अज्ञानजनित अविवेकोत्पन्न तम को मिथ्या प्रत्ययलक्षण मोहान्धकार को नष्ट कर देता हूं ।

यहां आत्मभावस्थ एवं ज्ञानदीप दो पदों का स्वारस्य यह है कि पहला वृत्तिरूप ज्ञान है जिसको वुद्धि से इद्ध हुआ वोध कहते हैं । दूसरा वोध से इद्ध हुई वुद्धि है । माने वाक्य जन्य वुद्धि वृत्ति में अभिव्यक्त चिदात्मा ज्ञान का प्रवर्त्तक है। और ज्ञान ही अज्ञान का निवर्त्तक है । ११ ।

ऐसा सुनकर अर्जुन बोले कि हे भगवन् ! भवान् आप पर ब्रह्म हैं । प्रश्न-ब्रह्म शब्द वृह वृंहि धातु से मन् करने पर बहति पूर्ण होता है बढता है वृंहयति बर्द्धयति पूर्णयति पूर्ण करता है इस अर्थ में बनता है। इसके अनुसार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥

बालक्रीड़ा

भवान् आप ब्रह्म हैं माने पूर्ण हैं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते । इस श्रुति के अनुसार पूर्ण ही हैं अधूरे नही है तब ब्रह्म को पर कहने की क्या आवश्यकता है । उत्तर । आप पर ही है अपर नही हैं अधूरे नही हे अर्थात् ईश्वर नही है क्योंकि ईश्वर मायासम्वलित होने से अधूरा है । ईश्वर के साथ ही उपास्य उपासक भाव सम्बन्ध है तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते । जो पूर्ण है उसको तुम ब्रह्म समझो. यह ब्रह्म नही है; जिसकी आप उपासना करते हैं । आप पर धाम है ज्योति रूप पर ज्ञान है नकि अपर वृत्ति रूप ज्ञान है । धीर्ह्रीः श्रीरित्येत्सर्वं मन एव इस श्रुति के अनुसार अपर ज्ञान वृत्तिरूप है । आप परम पवित्र है न कि तीर्थादि की तरह अपर पवित्र है पावन है ।

भृग्वादि सभी ऋषि, देवताओं का ऋषि मन्त्रद्रष्टा नारद सर्वमोक्षप्रद । असित भगवद्धर्मस्वरूप । देवल देवानुग्रहकारी और व्यास ज्ञानवतार ने आप को पुरुष परमात्मा । शाश्चत सर्वदा एकरूप । दिव में परम व्योम में स्वस्वरूप में रहने वाला । दिव्य सर्वप्रपञ्चातीत । आदि सर्वकारण । देव द्योतनात्मक स्वप्रकाश । अज मूलरहित नही पैदा होने वाला तथा विभु व्यापक या विविध होने वाला कहा है । विभुः यभु प्रथमं मेहनावतः इस श्रुति के अनुसार मेहनावान् आसेचनक भगवान् का प्रथम रूप विभु है—सह्येव प्रभावाद विविधोऽभवत् यह श्रुति कहती है कि वही भगवान् अपने प्रभावसे सामर्थ्य से विविध हो गया विभु हो गया है और स ह्येव प्राभवत् वही प्रकर्ष से सम्पन्न हुआ प्रभु माने समर्थ हो गया है ऐसा कहा है । इसके सिवाय आप स्वयं कहते हैं कि मैं सब भूतो का आदि हूं । १२।१३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव !
न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥
स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम !
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥ १५ ॥

बालक्रीड़ा

हे केशव ! ऋषियों ने जो कुछ कहा और आप भी जो कहते है उस सब को मैं ऋत मानता हूं सत्य मानता हूं। हे भगवन् आपकी व्यक्ति को प्राकट्य को देवता और दानव भी नहीं जानते हैं तब मनुष्य जानते] हैं यह तो कहना भी असंभव है। १४।

तब कौन जानता है इस पर कहते हैं कि आप स्वयं वह भी अपनी इच्छा से न कि किसी दूसरे की प्रेरणा से वह भी अपने से स्वस्वरूप से अपने आपको जानते हैं। दूसरे आप को क्यों नहीं जानते हैं इसको कहते हैं क्योंकि आप पुरुषोत्तम हैं निरतिशय धर्म ज्ञान ऐश्वर्य एवं यश से सम्पन्न श्रीमान् उत्तम पुरुष है। तब कैसे कोई जानने में समर्थ हो सकता है। प्रश्न—यदि कोई भी आप को नहीं जान सकता है तब (मामजमनादिं च वेत्ति) जो मुक्त को जानता है ऐसा कैसे कहा (उत्तर) ददामि बुद्धियोगं तम्। मैं उस को बुद्धि देता हूं तब वह मुझे जानता है। इसलिए आपको पुकारते हैं कि हे भूतभावन ! आप भूतों को भावना युक्त स्वभावस्थ रखते हैं। ऐसा कैसे रख सकते हैं कहते हैं कि हे भूतेश ! आप भूतों के ईशन कर्त्ता स्वामी है भूतों पर अपना ईशन शासन रखते हैं। ईशन क्रिया भी आप की ऐसी क्यों हैं इस पर कहते हैं हे देवदेव ! आप दैवताओं के भी देव हैं पूज्य हैं अतः उनके द्वारा की गई पूजा से सन्तुष्ट होकर ऐसा करते हैं। यदि ऐसी बात है तब भी देवताओं पर ही सन्तुष्ट होना उचित है। इसपर कहते हैं कि हे जगत्पते। आप सम्पूर्ण जगत् के पति हैं पालक हैं रक्षक हैं अतः रक्षा के लिए ऐसा करते हैं। १५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।
याभिर्विभूतिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।

बालक्रीड़ा

हे भगवन् आप सम्पूर्ण जगत् के पति हैं और सम्पूर्ण जगत् के अन्तर्गत मैं भी हूं मेरे भी पति आप हैं अतः मैं आपका हूं मेरे ऊपर अवश्य अनुग्रह करें जिससे आपके स्वरूप को जानकर आपका प्रपन्न होऊं आपके शरण में आऊं इस लिए दिव्य जिनको ग्रहण करके आप विश्व में क्रीडा लीला करते हैं उन अपनी विभूतियों को तथा भिन्न २ कार्यों को करने के लिए जिस अंशरूप से अवतरित होते हैं उन सबको आप ही कह सकते हैं क्यों कि दूसरे को जब उनका भी पता ज्ञान नही है तब उसको आप का साक्षात् ज्ञान कैसे हो सकता है इस तरह आप ही अपने को जानते हैं अतः कृपा करके उन विभूतियों को कहें। जिन विभूतियों के द्वारा इन लोकों को अपने समझ कर उनमें रहते हैं । १६ ।

इन विभूतियों को क्यों सुनना चाहते हो उसके कहने का क्या फल है इस पर कहते हैं कि हे योगिन् ! निरतिशय ऐश्वर्यादि शक्तियों से सम्पन्न सर्व व्यापक सब कुछ करने में समर्थ आपका मैं सदा बाहर भीतर इधर उधर चिन्तन करता हुआ उन विभूतियों को कैसे जानूंगा। यहां का भाव यह है कि आप के चिन्तन करने के समय विभूतियों के जानने के लिए मन को लगाऊंगा तो चिन्तन में विच्छेद हो जायगा तब मैं आपको कैसे जानूंगा। प्रश्न—जब तुम्हारे में जानने की सामर्थ्य नही है तब विभूतियों के बारे में क्यों पूछते हो। उत्तर। आप ही ने कहा है कि जो इन विभूतियों को जान लेगा वह मेरे को प्राप्त कर लेगा अतः आपको प्राप्त करने के लिए इनको जानने के वास्ते पूछता हूं इस लिए अधिकार के अनुसार जो मेरे लिए आवश्यक है उसको कहिये कि किन लोगों में किन देवताओं में किन भावों में हे भगवन् ! षडैश्वर्य सम्पन्न ! अपने गुणों से सर्वत्र व्याप्त आपका मैं चिन्तन करूं। पहले अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम् इस २ अध्याय २५ वें श्लोक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन !

भयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।

प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ ! नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९।

बालक्रीड़ा

में जिसको अचिन्त्य कहा है उसी को यहां चिन्त्य कहा है। अतः पूर्वापर कथन भी चिन्त्य है। १७।

हे जनार्दन ! सन्त महात्मा एवं देवताओं के प्रतिपक्ष भूत असुरों को नरकादि में पहुंचाने वाले ! अपने सेवकों की सम्पूर्ण अविद्या के नाशक अथ च अभ्युदय एवं निःश्रेयस रूप पुरुषार्थ को प्रयोजन को जिससे सभी लोग मांगते हैं वह आप। अर्द गतौ याचने च धातु सं ल्युट प्रत्यय से बना है। अपने योग को योग सम्बन्धी शक्ति विशेष की और अपनी विभूति को विस्तार के साथ कहिए। यद्यपि आप सप्तम एवं नवम अध्याय में कह चुके हैं किन्तु आप का वाक्य अमृत है मृत्यु का निवारण करनेवाला है अतः उसके सुनते २ मुझे तृप्ति अलंप्रत्यय नही होता है सुनता हुआ मैं अघाता नही हूं। इस लिए पहिले कहने पर भी फिर से कहिए। १८।

हन्त अपने स्वरूप को जानने के लिए ऐसी प्रार्थना से प्रसन्न हुए श्रीभगवान् बोले हे कुरुश्रेष्ठः ! अब मैं अपनी दिव्य उत्कृष्ट श्रेष्ठ विभूतियों को प्रधानता से माने असाधारण रूप से योग की उपकारियों को कहूंगा क्यों कि यदि विस्तार से उनको कहूंगा तो मेरी विभूतियां इतनी विस्तृत हैं कि उनका अन्त नहीं होगा। यहां प्राधान्यतः का यह भाव है कि अर्जुन ने प्रार्थना की थी कि हे जनार्दन ! अपने योग को और अपनी विभूतियों को फिर से कहें। किन्तु भगवान् ने केवल अपनी विभूतियों को कहा योग को नही कहा ऐसी कोई शंका नही करे इस लिए कहा कि प्राधान्यत; । यानी योग में उपकार करने वाली सबीज समाधि के उपयोग में आने वाली विभूतियों को भगवान् पहले कह रहे हैं योग को तो आगे कहेंगे ही। यहां पहले कहना प्राधान्य शब्द का अर्थ है। १९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ।। २० ।।
आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान ।

बालक्रीड़ा

विभूतियों का प्रदर्शन करना प्रस्तुत है अतः परमेश्वर के पारमर्थिक रूप को देखने के लिए उद्यत अर्जुन के मन को समाहित करने के वास्ते अतन्द्रित भाव से सुनो यह वताने के लिए भगवान् कहते हैं कि हे गुडाकेश हे जितनिद्र। सम्पूर्ण भूतों के हृदय के भीतर निवास करने वाला आत्मा सत् चित् एव आनन्द मैं हूं। अतः मेरे ही सम्बन्ध से सम्पूर्ण जीवों को विषयानन्द से लेकर ब्रह्मानन्द पर्यन्त के आनन्दों का अनुभव होता है। अन्यथा नही है। क्यो कि भूतों का आदि उत्पतिकारण मैं हू मध्य स्थिति शरण मैं हूं और अन्त लयस्थान मैं हूं। यहां का तत्त्व यह है कि सम्पूर्ण भूतों के अन्तंहृदय में प्रत्यगात्मा आनन्द स्वरूप मैं हूं अतः मैं ही ध्येय हूँ मेरा ही ध्यान करना चाहिए। यदि इसमें अशक्त होते होतो मेरी विभूतियों का चिन्तन करो। मैंने अपनी इच्छासे क्रीडन करने के लिए इन भूतों को पैदा किया जव तक क्रीडा करना है तवतक इनको रखा पाला और जव संहार की इच्छा हुई तव अपने में लीन कर लिया अतः मैं ही मुख्य हूं मेरा ही ध्यान करो। २०।

अब आदित्यानां श्लोक से आरम्भ करके अध्याय की समाप्ति पर्यन्त योगोपयोगिनी विभूतियों को कहते हैं। अदिति के पुत्र विष्णु शक्र, अर्यमा, धाता, त्वष्टा पूषा, विवस्वान्, सविता, मित्र, वरुण, अंश और भग इन बारह आदित्यों में मैं हूं माने व्याप्त होकर प्रवेश करने वाला हूँ तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् इस श्रुति के अनुसार यह अर्थ है। विष्लृ व्याप्तौ और विश प्रवेश ने धातुओं से विष्णु शब्द बना है। ज्योतियों में बाह्य जगत को प्रकाशित करने वालों के मध्य में अंशुमान् सर्वप्रकाशक रश्मियों से अत्यन्त प्रतप्त करने वाले ग्रीष्म ऋतुके मध्यान्ह में तीव्र आतप से युक्त रवि सूर्य मैं हूं। मरुतों में ४९ वायुओ में मरीचि नामक वायु मैं हूं। अथवा आवह प्रवह विवह परावह उद्वह संवह एवं परिवह ये सात मरुद्गण हैं। उनमें किरणों का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥
वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥
रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥
पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ ! बृहस्पतिम् ।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥

बालक्रीड़ा

सम्पर्क डालने वाला मैं हूं। नक्षत्रों में क्षत नही होने वाले तारों में शशी मैं हूं। यहां शशी कहने का भाव है कि रोहिणी में आसक्ति करने से शृंगार रसात्मा मै हूं। २१।

ऋगु यजु साम एवं अथर्व चारों वेदों में साम वेद मैं हूं गाने से प्राप्त होने वाले आनन्द रस में साम मधुर गुण मैं हूं। देवताओं में वासव वसु धनका अधिपति मैं हूं। चक्षुरादि एकादश इन्द्रियों में संकल्प विकल्पात्मक प्रेरणाओं का स्रोत हेतु मनो हि हेतुः सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्त्तने के अनुसार मन मैं हूं। भूतों में चेतनाधारियों में चेतना जीवाधिष्ठित कार्य कारण संघात में जब पञ्च महाभूत है तब तक सर्वत्र व्यापिनी एवं चैतन्य की अभिव्यञ्जिका ज्ञान रूपशक्ति बुद्धिवृत्ति मैं हूं। २२।

वीरभद्र शंभु गिरिश अज एकपाद अहिर्बुध्न्य पिनाकी भवानीपति कपाली दिक्पति स्थाणु एवं रुद्र इन एकादश रुद्रों में शं करने वाला शम्भु मैं हूं। ज्ञान एवं भक्तिका उपदेश देकर सुख देने वाला शं भावयति अन्तर्णीत ण्यर्थ है। शं सुख-रूपों भवति इति वा। शं भवत्यस्मात् ऐसी यव्युत्पत्ति तो अपादान में ड्प्रत्यय के अभाव में अशुद्ध है। यक्ष राक्षसों में वित्तेश कुवेर मैं हूं। ध्रुव अध्वर अप सोम अनिल अनल प्रत्यूष एवं प्रकाश इन आठों में अग्नि मैं हूं। शिखरियों में शिखरों से सुशोभित होने वाले उच्च श्रेणियों में मेरु मैं हूं। २३।

हे पार्थ ! पुरोधाओं राजपुरोहित बृहस्पति मुझे समझो। यद्यपि पौरोहित्य कर्म निन्दित है तद्यपि उसमें बुद्धयादि शक्तिरूप से रहता हूं इसलिए उसको मत्स्व-रूप समझो। सेनानियों में मुख्य सेनापति स्कन्द मैं हूं। सरों में स्थिर जलाशयों में सागर मैं हूं। २४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥
अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥
उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥
आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥

बालक्रीड़ा

महान् उत्कृष्ट ऋषियों में मन्त्रद्रष्टाओं में अति तेजस्वी ऋषि भृगु मैं हूं। पद वाक्यात्मक वाणियों में एक अक्षर प्रणव मैं हूं। यज्ञों में उत्कृष्ट जप यज्ञ मैं हूं। स्थावर स्थितिशालियों में हिमवान् मैं हूं।२५।

वृक्षों में अश्वत्थ मैं हूं। देवर्षियों में अर्थात् जो देवता होते हुए भी मन्त्र-द्रष्टा होने से ऋषि हो गये हैं उनमें नारद मैं हूं। गन्धर्वों में चित्ररथ गन्धर्व मैं हूं। सिद्धों में कपिल मैं हूं। क सुख जिसमें हैं वह सुख रूप क मैं हूं। जो जगत् का पालन रक्षण (पा रक्षणे किः) करता है वह पि रक्षक मैं हूं। लाति आदान करनेवाला ल मैं हूं। २६।

अश्वों में उच्चैःश्रवा अश्व मैं हूं। अमृत की प्राप्ति के लिए मन्थन किये गये समुद्र से उत्पन्न होनेवाला उच्चैश्रवा अश्व मुझे समझो। गजेन्द्रों में मुझे ऐरावत हाथी समझो। नरों में नराधिप मुझे समझो।२७।

आयुधों में दधीचि ऋषि के अस्थि से समुद्भूत वज्र मैं हूं। धेनुओं में हविका प्रपूरण त्यजन दान करनेवाली गौओं में कामधेनु कामनाओं का पूरण करनेवाली गौ मैं हूं। प्रजनन करनेवाला काम मैं हूं। सर्पों के मध्य में वासुकि मैं हूं।२८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥
प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥
पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन !
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥

बालक्रीड़ा

नागों में अनेक शिरवाले निर्विष सर्पों में अनन्त मैं हूं। यादों में वरुण मैं हूं। पितरों में मुख्य अर्यमा मैं हूं। संयमन दण्ड देने वालों में यम मैं हूं।२९।

दैत्यों में प्रह्लाद मैं हूं। कलन गणना करनेवालों के मध्य में कल्प मुहूर्तादि रूप काल मैं हूं। सभी कार्यों के परिणाम का हेतु काल मैं हूं। मृगों में जंगली जन्तुओं में मृगेन्द्र मैं हूं। पक्षियों में वैनतेय गरुड़ मैं हूं।३०।

पावन करनेवालों में पवन वायु मैं हैं। शस्त्रधारियों में राम दाशरथि मैं हूं। मछलियों में मकर मैं हूं। नदियों में जाह्नवी मैं हूं।३१।

सर्ग का माने सृष्टि का आदि मध्य एवं अन्त मैं हूं। इसी १०वें अध्याय के २०वें श्लोक में भी आदि वगैरह मैं हूं कह चुके हैं और अब भी इसमें आदि वगैरह मैं हूं ऐसा कहते हैं अतः पुनरुक्ति हुई। अगर कहें कि पहले में सृष्टि प्रभृति कर्तृत्व भगवान् का बतलाया है और यहां उत्पत्ति प्रभृति मेरी विभूतियां हैं ऐसा बतलाया। ठीक है किन्तु यहां वा वहां ऐसा कोई विशेषण क्यों नहीं कहा जिससे बात स्पष्ट हो जाती। उत्तर। बात यह है कि पहले में जो भूत शब्द है वह जीवाधिष्ठित चेतन भूतों का बोधक है। और यहां जो सर्ग शब्द है वह सृज्यमान यावत् आकाशादि अचेतन पदार्थों का बोधक है। अतः यह भेद श्रुत है। यदि वैसे भेद को बतलानेवाले विशेषण को यहां कहते हैं तो श्रुत की हानि और अश्रुत की कल्पना करनी पड़ती जो दोष है अतः ऐसा नहीं दिया।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरी बात है कि पहले २०वें श्लोक में भी आरम्भ में आदि में आदि शब्द पुल्लिङ्ग है और अन्त में अन्त शब्द भी पुंल्लिङ्ग है। मध्य में दोनों जगहों में मध्यं यह मध्यशब्द नपुंसक क्यों दिया। मध्य शब्द अजहल्लिङ्ग भी नहीं है। यह प्रश्न ही है इसका उत्तर कुछ नहीं है। अतः भग्नप्रक्रम दोष यहां है।

जो सर्जन किये जायें वे सर्ग हैं महदादि स्थूलान्त विकार; इनका आदि उपादान कारण मैं हूं। जैसे घट एवं करवा आदि का उपादान कारण मृत्तिका है। वैसे मुझसे ही सब पैदा हुआ है। प्रश्न—सम्पूर्ण विकारों के कारण होने से आरम्भ में आपकी सत्ता होने पर भी कार्यावस्था में तो आपकी सत्ता का सद्भाव नहीं दिखाई पड़ता है अतः आप में सर्वात्मत्व एवं पूर्णत्व की सम्भावना नहीं की जा सकती है। इस आशंका मे उत्तर देते हैं कि मध्य भी मै हूं। मृत्तिका के कार्य घटादि में मृत्तिका के धर्म, गन्ध के देखने से यह घटादि में मृत्तिका का समन्वय होता है—इससे जैसे घटादि सब कार्य मृत्तिका ही है। वैसे ही महदादि में सत्ता एवं स्फूर्ति आदि मेरे धर्मों को देखने से मेरा ही समन्वय होता है इससे सब कुछ मैं ही हूं क्योंकि विकाररूप से स्थित हूं। यह सिद्ध हो गया।

प्रश्न--विकार रूप से आपकी स्थिति मान लेने पर विकार के नाश होने से आपके भी नष्ट होने का प्रसङ्ग आ जायेगा। तब सत्ता के अभाव में आप में नित्यत्व सर्वरूपत्व एव पूर्णत्व नहीं हो सकेगा। ऐसी आशंका में उत्तर देते हैं कि अन्त भी मैं हूं। कार्य का नहीं दिखाई पड़ना जो अन्त है वह भी मैं हूं। जैसे कल्पित रूप वाले घट के नाश होने पर घट में अनुस्यूत कारणीभूत मृत्तिका का नाश नहीं होता है अतः जैसे कपाल एवं उसके चूर्ण की अनुवृत्ति से युक्त मृतिका की सत्ता है ही। उसी तरह महदादि सर्व विकारों के नष्ट होने पर भी कारण के रूप में अनुस्यूत मेरी सत्ता के नाश नहीं होने से मेरा सद्भाव नित्यत्व सर्वात्मत्व एवं पूर्णत्व है ही। इसलिए विकारों की आदि मध्य एवं अन्त अवस्था मैं ही हूं मुझसे अतिरिक्त वस्तु की सत्ता का प्रमाण के लिए निरूपण करना अशक्य है अतः आदित्यादि विभूतियां और विष्णु वगैरह विशेष विभूतियां भी मैं ही हूं, यही सिद्ध हुआ।

अथवा सृष्टि उत्पत्ति स्थिति पालन एवं अन्त करने वाले जो ब्रह्मा विष्णु एवं रुद्र के नाम से प्रख्यात हैं वे आप ही एक हैं अतः सर्ग माने प्राणी; उनका आदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सृष्टि-कारण ब्रह्मा मैं ही हूं। और अन्त करने वाला संहारक रुद्र मैं ही है। तथा मध्य माने उन दोनों के बीच में रहने वाला पालनकर्त्ता विष्णु मैं ही हूं।

अभ्युदय एवं निःश्रेयस को सिद्ध करने वाली चौदह विद्याओं में अध्यात्म-विद्या मैं हूं। अर्थात् तत् माने परमात्मा और त्वम् माने जीवात्मा को अधिकृत करके आश्रय करके निःश्रेयस रूप मोक्ष की साधनभूत विद्या जो आत्माओं के स्वरूप और गुण की ज्ञापिका है वह अध्यात्म विद्या मैं हूं।

प्रवदतां माने प्रकृष्ट कथन करने वाले वादियों की जो वाद जल्प एवं वितण्डा रूप तीन कथाएं हैं उनमें वाद मैं हूं। इन तीन कथाओं के फल दो हैं, ये कथाएं दो हैं। जिनमें वाद का फल है तत्वनिर्णय और जल्प एवं वितण्डा का फल तत्त्व-संरक्षण। जैसे बोये हुए बीज को और उससे निकले हुए अंकुर को कोई नष्ट नहीं कर दे पशुपक्षी खा नहीं जायँ इसलिए उसकी रक्षा के हेतु काँटे वाले पेड़ की कँटिली शाखाओं से बीज और अंकुर के चारों ओर घेरा करते हुए प्राकार बनाते हैं वैसे ही तत्त्व को विकृत रूप में वादी समझ नहीं लेवें और दूषित मनोवृत्तियों से उसको अन्यथा उपस्थित नहीं कर सके इसके लिए जल्प और वितण्डाओं का कार्य उसकी रक्षा करता है। छल जाति एवं निग्रह के द्वारा पर पक्ष को दूषित करना जल्प और वितण्डा में बराबर है। वितण्डा में एक व्यक्ति अपने पक्ष का स्थापन ही करता है वह परपक्ष को दूषित नहीं करता है और दूसरा व्यक्ति परपक्ष को दूषित ही करता है अपने पक्ष का स्थापन नहीं करता। जल्प में दोनों व्यक्ति अपने-अपने पक्ष का स्थापन भी करते हैं और दोनों ही परपक्ष को दूषित भी करते हैं। यहाँ जल्प और वितण्डा का शरीर भिन्न-भिन्न है अतः ये एक कथा नहीं है अपितु शक्ति के अतिशय का ज्ञापन करने के लिये समय का बन्धन करके वादी प्रवृत्ति करता है। ऐसा खण्डनकार का मत है। तत्त्व के निर्णय में पर्यवसायी होने से वाद इन दोनों से श्रेष्ठ है। जल्प और वितण्डा का परिणाम केवल जय और पराजय मात्र है।

अनधिगत तत्व का अवबोध १ संशय की निवृत्ति २ और निश्चित किये गये सिद्धान्त की स्वीकृति ३ इन तीन फलों को चाहने वाले राग और द्वेष से रहित दो साथियों या गुरु एवं शिष्य का तत्त्व निर्णय के लिए प्रत्यक्षादि प्रमाण एवं तदनुग्राहक युक्तियों से तर्कों से पक्ष का साधन एवं प्रतिपक्ष का उपालम्भ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

बालक्रीड़ा

निषेध जिसमें किया जाता हो, सिद्धान्तभूत अर्थ के प्रतिपादक के रूप में स्वीकृत शास्त्र के विरुद्ध जो नहीं हो, प्रतिज्ञादि पांच अवयवों से जो सम्पन्न हो ऐसे पक्ष (हाँ ईश्वर है) और प्रतिपक्ष (ईश्वर नहीं है) का परिग्रह कथाविशेष वाद है। जहाँ दो वादियों में युक्ति माने तर्क और प्रमाणों से अपने अपने पक्ष का स्थापन और छल जाति एवं निग्रह के द्वारा परपक्ष का निरास किया जाता है उस कथा का नाम जल्प है। जहाँ वादी छल जाति एवं निग्रह के द्वारा परपक्ष को दूषित ही करता है किन्तु अपने पक्ष का स्थापन नहीं करता है वह कथा वितण्डा है। किसी दूसरे अभिप्राय से प्रयुक्त किये गये शब्द के अर्थान्तर की कल्पना करके दूषित करना छल है। यह छल वाक्छल, सामान्यछल एवं उपचार छल भेद से तीन प्रकार का है।

असत् उत्तर का नाम जाति है। वस्तुतः कोई दोष नहीं है किन्तु अपने बचने के लिये या दूसरे को दवाने के लिये असत् उत्तर को देना जाति है। वह साधर्म्य एवं वैधर्म्य आदि भेदों से अनेक प्रकार की है। जिससे अपजय हो जाय वह हेतु निग्रहस्थल है। वह भी प्रतिज्ञाहानि और प्रतिज्ञान्तर भेद से अनेक प्रकार का है। ३२।

अक्षरों में अकार मैं हूँ। समास समूह में उभय पदार्थ प्रधान द्वन्द्व समास मैं हूं। अक्षय काल मैं हूं। पहले जो काल वतलाया है वह कला काष्ठा मुहूर्त्तादि रूप काल है यह काल महाकाल है। कर्म फल विधाताओं के मध्य में विश्वतो मुख फल दाता धाता मैं हूं।

सम माने एक जगह सभा समिति में आस माने अवस्थान समास है अतः समास में सभा समिति में विदित अर्थ सामासिक है। उसके मध्य में द्वन्द्व माने रहस्य भूत अर्थ मैं हूं। इस तरह द्वन्द्व शब्द रहस्यार्थक भी है ऐसा पाणिनि के द्वन्द्व

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥
बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥
द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्वतामहम् ॥
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनंजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥

बालक्रीड़ा

रहस्य मर्यादा इस सूत्र में प्रतिपादन किया है। अगर कहें कि रहस्यार्थक द्वन्द्व शब्द नपुंसक लिङ्गवाला है और यहाँ पुलिङ्ग यह प्रयुक्त है तब भी कोई हर्ज नहीं है क्योंकि अर्शाद्यजन्त होने से पुलिङ्ग हो सकता है। ३३।

सर्व का संहार करने वाला मृत्यु मैं हूं। उत्पन्न होने वालों में उद्भव उत्पादक मैं हूं भविष्यों में भावी कल्याणों में उत्कृष्ट ऐश्वर्य मैं हूं। नारियों में स्त्रियों में कीर्ति आदि स्त्रियाँ मैं हूं। वाणी मैं हूं। वह राष्ट्री एवं मन्द्रा दो प्रकार की है। राष्ट्र के सम्बन्ध से होने वाली राष्ट्री देशभाषा है और मननगम्या मन्द्रा देववाणी है।३४।

सामों में बृहत्साम मैं हूं। पूर्वापर भाव से गुरु लघु एवं मात्रा रूप से स्थित अक्षर वाले छन्द मैं हूं। मासों में मार्गशीर्ष मैं हूं। ऋतुओं में वसन्त ऋतु मैं हूं।३५।

छल करने वाले दूसरों की वञ्चना करने वालों में द्यूत मैं हूं। तेजस्वियों में तेज मैं हूं। पराभव करने की सामर्थ्य मैं हूं। जयनशील लोगों में जय मैं हूं। व्यवसायियों में व्यवसाय उद्योग मैं हूं। सात्विकों में ज्ञान वैराग्य लक्षण सत्त्व मैं हूं।३६।

वृष्णियों में वासुदेव मैं हूँ। पाण्डवों में धनञ्जय अर्जुन मैं हूं। मुनियों में व्यास मुनि मैं हूं। कवियों में क्रान्तदर्शियों में सूक्ष्म अर्थ का विवेक करने वालों में उशना भार्गवनामा कवि मैं हूं। ३७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ।। ३८ ।।
यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन !
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।।३९।।

बालक्रीड़ा

दमनीय अपराधियों के दमन करने के लिए दण्ड मैं हूं अर्थात् उन्मार्ग मे जाने वालों को मार्ग में लाने के लिए निग्रहकारी दण्ड यानी दण्डन क्रिया मैं हूं। जो जीतना चाहते हैं उनकी नीति न्याय के उपायों का प्रकाशक मैं हूं। गोपनीयों का गोपन हेतु मौन मैं हूं क्योंकि चुप रहने वालों के अभिप्राय को कौन जाने कैसे जाने। अथवा गुह्य गोप्यों के मध्य मे संन्यासी का श्रवण मनन पूर्वक आत्मा का निदिध्यानस्वरूप मौन मैं हूं। ज्ञानियों का श्रवण मनन निदिध्यासन के अभ्यास से होने वाले अद्वितीय आत्म साक्षात्काररूप ज्ञान जो सभी तरह के अज्ञान का विरोधी हैं वह मैं हूं। यहाँ यह जानना बहुत जरूरी है कि विभूतियों का जो रूप बतलाया है उनमें कहीं पर विजातियों में श्रेष्ठता को बतलाया है जैसे शशी को नक्षत्रों से श्रेष्ठ बतलाया है। चन्द्रमा नक्षत्र नहीं है अतः वह नक्षत्रों से विजातीय पदार्थ है। कही धर्मियों में धर्म को उत्तम कहा है जैसे सत्व वाले व्यक्तियों मे सत्व को उत्तम कहा है। कहीं पर सजातीयों मे सजातीयों को महत्त्व प्रदान किया है। जैसे रुद्रों में शंकर को महत्त्व दिया है। क्योंकि ११ रुद्रों में शंकर शम्भु भी एक रुद्र है। वासव उशना धनञ्जय यज्ञ एवं सामवेद को सजातीयों के अवयव की अपेक्षा अधिक बतलाया है क्योंकि सजातीयों मे सजातीय की सर्वश्रेष्ठता नहीं दिखाई पड़ी अतः उसके एक देश से आधिक्य कहा। जैसे देवताओं में कवित्वादि गुणों में ब्रह्मा का आधिक्य न बतला कर उनमे से किसी एक को अधिक कहा। देवताओं में इन्द्र को, कवियों में उशना को अधिक कहा। पृथा के पुत्रों में भीम को न कहकर अर्जुन को बतलाया। यज्ञों में ज्ञानयज्ञ को श्रेष्ठ नहीं कहकर जपयज्ञ को श्रेष्ठ कहा। आयुधों में चक्र को महत्व नहीं देकर वज्र को महत्व दिया। वेदों में ऋग्वेद की उत्तमता का निर्देश नहीं दिखाकर सामवेद का निर्देश किया है।३८।

हे अर्जुन ! और जो सम्पूर्ण भूतों का सभी अवस्थाओं में अवस्थित चराचर प्राणियों का बीज है अंकुरकारण है वह मैं हूं। क्योंकि मेरे बिना अर्थात् मैं जहाँ नहीं रहूं ऐसा चराचर भूत कोई है ही नहीं।३९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप !
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥
यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥ ४१ ॥
अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन !
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥

बालक्रीड़ा

हे परन्तप ! काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्यरूपी अन्तः शत्रुओं को तप से नष्ट कर देने वाले हे अर्जुन ! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। यानी इतनी ही है ऐसा कोई नहीं कह सकता है। यह जो मैंने विभूतियों को उद्देश्य से माने जैसे गायों को सींग पकड़-पकड़कर यह है यह है ऐसा विशेष रूप से निर्देश करके कहा जाता है वैसे कहा है वह विस्तार है, माने बहुत कह दिया है ।४०।

यदि आपके विभूतियों की इयत्ता नहीं है तब क्या इतने में सन्तोष हो सकेगा या और भी कोई आपकी विभूतियों के जानने का मार्ग होगा। इसपर भगवान् कहते हैं कि यहाँ-वहाँ सभी जगहों में जो सत्व द्रव्य वस्तु चेतन अथवा अचेतन पदार्थ विभूतिमान् दिखाई पड़े अर्थात् प्रजापतित्व की, प्रभाव की, धन की, पुण्य कर्मों की, विद्या की, तप की, शूरता, उदारता तथा शम दम आदि सद्‌गुणों की या ज्ञान की विभूति समृद्धि जिसमें हो उसे मेरे तेज से पैदा हुआ समझो और जो श्रीमान् हो अर्थात जहाँ श्री माने शोभा लक्ष्मी, कान्ति, सरस्वती, वुद्धि कीर्ति, स्फूर्ति एवं विलक्षणता दिखाई पड़े अथवा जो ऊर्जित है माने तेज से वेग से बल से पौरुष से सार से आकार से दृढ़ता से एवं उत्साह से महत्तर दिखाई पड़े उस उसको मेरे तेज माने उत्तम गुणों से मेरे प्रभाव को प्रकाशित करने वाली शक्ति के अंशकला से संभव अर्थात् पैदा होने वाला समझो ।४१।

अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जानने से तुमको क्या फायदा है ऐसा समझो कि इस सम्पूर्ण जगत् को एक अंश से एक देश में व्यापन करके मैं स्थित हूं मुझसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। ४२ ।

इस प्रकार श्रीमधुसूदन शास्त्री की कृति यह १०वे अध्याय की बालक्रीड़ा हिन्दी टीका समाप्त हुई ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथैकादशोऽध्यायः

अथ अब ग्यारहवें अध्याय का आरम्भ करते हैं—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥
भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष ! माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥
एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वरः ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ! ॥ ३ ॥

बालक्रीड़ा

पहले नवम अध्याय के आरम्भ में भगवान् ने कहा कि 'इदं तु ते गुह्यतमम् ज्ञानं प्रवक्ष्यामि' इस गुह्यतम ज्ञान को तो मैं तुम्हारे लिए अवश्य बतलाऊंगा। फिर दशम अध्याय के आरम्भ में कहा कि 'भूय एव महाबाहो ! शृणु में परमं वचः' हे महाबाहो अर्जुन ! फिर मेरे परम वचन को सुनो इत्यादि रूप में कहे हुए भगवान् के गुह्यतम ज्ञान सम्बन्धी परम वचन को सुन कर अर्जुन कहते हैं कि हे भगवन् ! आपने मेरे ऊपर अनुग्रह करके अध्यात्मसंज्ञित जिसकी अध्यात्म संज्ञा है ऐसे आत्मा एवं अनात्मा के बारे के वचन को जो कहा उससे मेरा मोह मेरी अविवेक बुद्धि विगत हो गई नष्ट हो गई ।१।

कं माने ब्रह्मसुख स्वरूपानन्द उसको जो अलति प्रकाशित करता है वह कमल है आत्मज्ञान है। वह आत्मज्ञान ही पतन से त्राण करता है अतः पत्र है। इस तरह पतन से बचाने वाले कमल से जो अक्ष्यते प्राप्त किये जाते हैं ऐसे हे कमलपत्राक्ष ! ज्ञानैकगम्य परमात्मन् ! आपसे मैंने आकाशादि पंच भूतों तथा उनके कार्य जगत् के भव उत्पादन और अप्यय प्रलय को बहुत बार सुना। इतना ही नही अव्यय अविनाशी माहात्म्य को अनतिशय ऐश्वर्य को भी सुना कि आप सम्पूर्ण सृष्टि के कर्त्ता होकर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो !
योगेश्वर ! ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

पश्यादित्यान्वसून्रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ! ॥ ६ ॥

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।
मम देहे गुडाकेश ! यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥

बालक्रीड़ा

भी अविकारी हैं आप प्राणियों से शुभ एवं अशुभ कर्मों को करवाते है तब भी आपमें विषमता नही है। आप बन्ध एवं मोक्ष आदि विरुद्ध फलों के दाता होकर भी असङ्ग हैं उदासीन हैं तथा सर्वात्मा है निरुपाधिक है और सोपाधिक हैं अतः हे परमेश्वर ! जिस प्रकार का आप अपने को कहते हैं आप उसी प्रकार के है। उसमें कुछ भी अन्यथा नही है। यद्यपि मुझे आपके वचन में अविश्वास और शङ्का नहीं हे तद्यपि हे पुरुषोत्तम ! ज्ञान ऐश्वर्य शक्ति बल वीर्य एवं तेज से सम्पन्न आपके रूप को कृतकृत्य होने की इच्छा से देखना चाहता हूं। आप सर्वज्ञ है अन्तर्यामी है अतः आप मेरी हार्दिक इच्छा को जानते हैं।२।३।

यदि आप मानते हैं कि मैं आपके रूप को देख सकता हूं तो हे योग एवं योगियों के ईश्वर शासक ! मुझे आप अपने अव्यय रूप को दिखाइये।४।

इस पर श्री भगवान् बोले हे पार्थ ! नाना प्रकार के अनेक रंगवाले विभिन्न आकृति स्वरूप वाले सैकड़ों एवं हजारों मेरे दिव्य रूपों को तुम देखो।५।

द्वादश आदित्यों, अष्ट वसुओं, एकादश रुद्रों, दो अश्विनी कुमारों तथा उनश्वास मरुतों या सप्त मरुद्गणों को देखो। हे भारत ! और भी बहुत से आश्चर्य हैं जिनको तुमने पहले कभी नहीं देखा है उनको भी देखो।६।

हे गुडाकेश ! विजितनिद्र या निस्तन्द्र ! आज इस मेरे देह में एक ही जगह पर सचराचर सम्पूर्ण जगत् को देखो और भी इसके अतिरिक्त तत्वको भी यदि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

संजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥

बालक्रीड़ा

देखना चाहते हो तो हां देख सकते हो किन्तु इन अपनी भौतिक चक्षुओं से नहीं देख सकते हो अतः मैं तुमको दिव्य चक्षु देता हूं। इससे तुम मेरे ऐश्वर्य सम्पन्न योग को देखो ।९।८।

संजय बोले कि हे राजन् धृतराष्ट्र ! इस तरह कह कर महायोगेश्वर हरि ने पार्थ के लिये अपने परम ऐश्वर रूप को दिखाया ।९।

जिस भगवान् के रूप में अनेक मुख हैं अनेक नयन हैं अनेक दिव्य आभरण है एवं अनेक उद्यत आयुध हैं अतएव जिसमें अनेक आश्चर्यों का दर्शन होता है। जो रूप दिव्य मालाओं एवं वस्त्रों का धारण तथा गन्धों का अनुलेपन किये हुए है। सम्पूर्ण आश्चर्यों से युक्त है। सर्वतो मुख है। प्रकाशमान है और अनन्त है ।१०।११।

संजय ने कहा कि हे राजन् ! दिव अन्तरिक्ष में यानी तृतीय आकाश में यदि हजार सूर्य एक साथ उदित होवें और फिर इन उदित हुए हजार सूर्यों की कान्ति एक साथ प्रकाशित होवे तब वह प्रकाशित होने वाली कान्ति उस महात्मा की महाशय की कान्ति की सदृशी हो सकती है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस श्लोक की व्याख्या मधुसूदन सरस्वती जी महाराज की गूढार्थदीपिका की एवं बच्चा झा नाम से प्रसिद्ध महान् विद्वान् धर्मदत्त शर्माजी के गूढार्थतत्त्वालोक की साधारण समालोचना करते हैं क्यों कि यहां अतिशयोक्ति के तृतीय प्रकार का समन्वय मम्मटादि समस्त आचार्यों की सिद्धान्त भूत पद्धति से होता है। उसके विपरीत होने से तथा युक्तियों के विरुद्ध होने से इन दोनों का पक्ष समालोच्य है। जैसे—

पहले तो बात यह है कि हजारों सूर्य एक साथ अन्तरिक्ष में उदित ही नही हो सकते हैं जब हजारों सूर्य एक साथ उदित ही नही हो सकते हैं तव उनकी कान्ति भी एक साथ कैसे उदित हो सकती है अर्थात् नहीं ही उदित हो सकती है माने उन सूर्यों का प्रकाश संसार में एक साथ नही फैल सकता है। ऐसी स्थिति में भगवान् के कान्ति की सदृशी किस कान्ति को कहें या वैसी कान्ति कौन हो सकती है अर्थात् कोई भी कान्ति वैसी नहीं हो सकती है। अतः तुलना उपमा नही होने से अभूतोपमा यह है। किन्तु यहां अभूतोपमा कहना भ्रम है इस भ्रम का स्पष्टीकरण आगे करेंगे।

यह ठीक है कि हजार सूर्य एक साथ उदित नही हो सकते है अतः उनकी कान्ति भी एक साथ नही फैल सकती है तव भी थोडी देर के लिए मान लें कि कदाचित् हजार सूर्य एक साथ उदित हो जाँय और यदि उतने सूर्य एक साथ उदित हो जाँयगे तो उनकी कान्ति भी एक साथ संसार में फैलेगी ही। यह फैली हुई कान्ति भगवान् की कान्ति की सदृशी हो सकती है।

एक विचार है यहाँ मूल में गीता में (यदि भाः उदिता भवेत् तदा सा तस्याः सदृशी स्यात्) अगर कान्ति उदित हो सके तो वह उदित हुई कान्ति भगवान् की कान्ति की सदृशी हो सकती है।

इसमें अभूतोपमा है उपमा नामकी कोई वस्तु अभूत है माने नहीं है ऐसा नही कह सकते हैं क्यों कि यहां सदृशी हो सकती है जब कह दिया है और सदृशी का अर्थ है सादृश्य से उपमा से युक्त, तब इसमें उपमा नही है ऐसा कहना बन नही सकता है। प्रश्न—तब सीधे २ क्यों नही कहते हैं कि यहां उपमा है उत्तर—इस लिए नही कहते हैं कि उपमा सादृश्य दो में होता है उसमें से एक उपमेय होता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दूसरा उपमान होता है। उपमेय वह होता है जो प्रस्तुत होता है और उपमान वह होता है जो अप्रस्तुत होता है। अप्रस्तुत से प्रस्तुत का सादृश्य उपमा है। चन्द्र के सदृश मुख है अमृत के समान तुम्हारा वचन है। इत्यादि उदाहरणों से यह सिद्धान्त स्पष्ट मान्य है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत यह सर्व व्यवहार सिद्ध प्रथम मान्यता है कि जिस पद के आगे या बाद में इव यथा वत् लगेगा अथवा सदृश समान आदि शब्द और सदृशार्थक वतिका प्रयोग होगा उस पदका अर्थ उपमान होगा और सादृश्य जिसमें लेजाया जायगा माने जो सदृश होगा वह उपमेय होगा। जैसे चन्द्र इव मुखं में चन्द्रेण सदृशं मुखं में चन्द्रस्य समानं मुखं में चन्द्रवत् मुखं में चन्द्र के आगे या बाद में इवादि का प्रयोग है अतः चन्द्र उपमान है और सादृश्य मुख में लेजाया गया है अतः मुख उपमेय है।

प्रकृत दिवि सूर्य सहस्रस्य पद्य में भगवान् प्रस्तुत हैं और उनकी कान्ति भी प्रस्तुत है तथा सूर्य अप्रस्तुत है और उनकी कान्ति भी अप्रस्तुत है। अतः अन्तरिक्ष में युगपत् उदित हुई सहस्र सूर्यों की कान्ति की सदृशी भगवान् की कान्ति है। ऐसा कहें तब स्पष्टं स्पष्टं उपमा हो सकती है। अन्तरिक्ष में सहस्र सूर्यों की कान्ति यदि एक साथ उदित हो तो उस कान्ति की सदृशी भगवान् की कान्ति हो सकती है ऐसा कहें तब अभूतोपमा हो सकती है। दोनों ही प्रकार यहीं नहीं है। अतः दोनों ही उपमाएं यहां नही है। यहां तो इसके विपरीत अन्तरिक्ष में सहस्रों सूर्यों की कान्ति यदि एक साथ उदित हुई हो जो अभी तक उदित नहीं हुई है तो वह कांति भगवान् की कांति की सदृशी हो सकती है ऐसा कहा है अतः उपमा की तो कोई चर्चा ही नही है। हां उसकी जगह प्रतीपालंकार हो सकता है किन्तु निषेधनिन्दादि के अभाव में वह भी नही हो सकता है। तब प्रश्न होता है कि कौन अलकार है। उत्तर—यहां 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' इस लक्षणवाली तृतीय अतिशयोक्ति है। इसका अर्थ है जहां यद्यर्थक यदिशब्द एवं चेत्शब्द के कहने पर जहां असम्भवी अर्थ की कल्पना की जाय वहां तृतीय अतिशयोक्ति है। यही मम्मटादि सकल आचार्यों का सम्मत पथ है।

स्यात् सम्भावना बोधकपद के रहने पर भी उत्प्रेक्षा नहीं हो सकती है क्यों कि वह भी सादृश्यामूलक अलंकार है अतः उपमानोपमेयभाव की स्थिति वहां भी होनी चाहिए। उस स्थिति के अभाव में उत्प्रेक्षा भी नही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्मात्—मधुसूदन सरस्वती जी का 'सदृशी तुल्या यदि स्याद् यदि वा न स्यात् यहां से लेकर उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहावित्यादिवत् पर्यन्त लेख सब अज्ञान का सूदन है क्षरण है झरना है सूद क्षरण से सूदन बना है) भला 'यदि भवेत्' इस तरह जिस यदि का अन्वय भवेत् से हो गया तव यदि स्यात् यदि वा न स्यात् में दो यदि कहां से आ गये। ततोऽपि नूनं और अतिरिच्येतेत्यहं मन्ये इसमें नूनं और मन्ये इन दो उत्प्रेक्षा व्यंजक शब्दों की क्या आवश्यकता है। 'अन्या तूपमा नास्त्यैव' यह कैसा वाक्य है। पहली उपमा कहां है। जब पहली ही नहीं तव अन्या दूसरी को कहां जगह है। अत्र अविद्यमानाध्यवसायात् जिसमें अध्यवसाय अविद्यमान है माने नहीं है। इस लेख का क्या मतलव है। यहां अध्यवसाय की चर्चा कैसी। फिर तदभावेन उपमाभावपरात् उस अध्यवसाय के अभाव के होने से उपमा का अभाव। यह अटर का पटर कौन लेख है। क्या अध्यवसाय जहाँ या जव होता है वहाँ या तव उपमा होती है। आगे फिर अभूतोपमारूपेयमतिशयोक्तिः अभूतोपमारूपवाली यत्र अतिशयोक्ति है यह क्या उद्वमन है। उसके वाद उत्प्रेक्षां व्यञ्जयन्ती यह सब क्या है : हां सव कुछ भगवान् का स्वरूप है। सरस्वतीजी महाराज इन भौतिक अलङ्कारों से आपको क्या मतलव है आप तो आध्यात्मिक चिन्तन एवं लेखन करिये वही आप के लिए शोभास्पद है।

इस तरह मधुसूदनी गूढार्थदीपिका के पाठ की सगति नहीं हो रही है। ऐसी अवस्था में उसके अनुगत गूढार्थतत्वालोक का लेख अपदार्थघटित होने से नितान्त असङ्गत है। अतः जिसने न्यायादि शास्त्रों को पढ़कर प्रौढ़ि प्राप्त कर ली है किन्तु अलंकार शास्त्र को नहीं पढ़ा है ऐसा वालरूप अर्थ बच्चा शब्द का सार्थक हो गया है। बच्चा झाजी के असंगत अक्षर ये हैं—

"यदिपदसमभिव्याहृत स्यात्" इस लेख का आधार क्या। क्योंकि मूल में यदि भवेत् है यदि स्यात् नही है और दीपिका में भी यदि भवेत् है। जहां टीका मे यदि स्यात् लिखा है और उसके अव्यवहित उत्तर में यदि वा न स्यात् लिखा है अतः निगरण उसका नही है। क्यों कि निगरण का अर्थ है स्वस्वरूप से जिसका पृथक् निर्देश नही होना।

यहां जब यदि स्यात् और यदि न स्यात् के रूप में यदि और स्यात् का निर्देश है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भले ही नकार घटित है तब निगरण कैसा ? अच्छा आपने लिख दिया, हो गया निगरण, परन्तु पण्डितशिरोमणि जी 'निगरणात् अविद्यमानाध्यवसाय उपमानस्य' इन अक्षरों की संगति तो बैठाइये। निगरण के कारण अविद्यमान है अध्यवसाय जिसका ऐसा अर्थ करते हैं तब अन्य पदार्थ उपमानस्य के अनुकूल अविद्यमानाध्यवसायस्य ऐसा षष्ठ्यन्त पाठ होना चाहिए। या फिर 'निगरण से उपमान का अध्यवसाय अविद्यमान है। ततः माने इस लिए ऐसी संगति करते हैं तब अविद्यमानः यह प्रथमान्त पृथक् पद होना चाहिए परन्तु है नही अतः असंगत अक्षर हैं। इसके सिवाय यहां यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम् लक्षण वाली तृतीया अतिशयोक्ति है अतः निगरण की यहां चर्चा व्यर्थ है। एक बात हुई। निगरण माने अनुच्चारण उपमेय का होता है उपमान का नही होता है। जैसा कि आचार्यों का लेख है उपमानेन अन्तर्निगीर्णस्य उपमेयस्य अध्यवसानम्। काव्यप्रकाश १०,उ.१००वीं कारिका। प्रकृतस्य उपमेयस्य समेन उपमानेन निगीर्य अध्यवसानं द्रढीयसी वृद्धिः। काव्यप्रदीप वहीं पर। इस तरह स्पष्ट सिद्धान्तों को विना देखे जो 'निगरणात् अविद्यमानाध्यनसाय उपमानस्य तत उपमानाभावाच्च उपमाभावपरात्' ऐसा अपदार्थ लिख दिया नितान्त असंगत वस्तु का उल्लेख कर दिया वह क्यों। यह दूसरी बात हुई। अमूतोपमा अविद्यमानस्वरूपोपमात्मिका अतिशयोक्तिर्व्यंज्यमाना यह कौन लेख है। जिस उपमा का स्वरूप अविद्यमान है ऐसी जो उपमा तदात्मिका अतिशयोक्ति है वह भी व्यज्यमाना। पदे पदे असंगत अपदार्थ के उल्लेख से अश्वमेध हो रहा है। क्या कहें। यदि भवेत् तदा सा स्यात् इस रूप में जब अतिशयोक्ति स्पष्ट वाच्यमाना है तब उसे व्यज्यमाना कहना अपदार्थ ही तो है। यह तीसरी बात हुई।

'प्रथमं यदि स्यात् यदि वा न स्यात् इत्यादिना मन्ये इत्यन्तेन प्रागुक्तामुत्प्रेक्षां व्यञ्जयन्ती परमतात्पर्य विषयनिरुपमत्वमेव व्यनक्तीत्यर्थः यहां प्रथमं पद का क्या स्वाद है। उसके बाद उत्प्रेक्षां से व्यनक्ति तक गूढार्थदीपिका के अक्षर ज्यों के त्यों धर दिये इसका क्या रहस्य है। उन्होंने गुढ़ अर्थ लिखा आपको उसे सुधारना चाहिए था तभी तो गूढार्थतत्व का आलोक कहलाता यह तो आलोक न होकर अन्धेरा हो गया। वह चौथी बात हुई। 'उभौ' इत्यादि कस्यचित्कवेरुक्तालंकाराणां वाच्यव्यङ्ग्यानाम्। महान् शिरोमणिजी! जब अतिशयोक्ति व्यज्यमाना है और उत्प्रेक्षा भी व्यक्त है तब वाच्य कौन अलंकार हुआ। यह पांचवीं बात हुई।१२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥
ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

बालक्रीड़ा

उस समय पाण्डव अर्जुन ने देव देव भगवान् के शरीर में एक ही जगह पर अनेक प्रकार से प्रविभक्त भिन्न भिन्न जड चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् को देखा।१३।

और देखते ही विस्मय से व्याप्त हुआ माने आश्चर्य में निमग्न अतएव पुलकित तनु हुआ वह अर्जुन देवके चरणों में मत्था टेककर भक्ति और श्रद्धा से नमन करता हुआ हाथ जोड़कर बोला—इसकी दीपिका में मधुसूदनजी का 'अद्भुत के देखने से विस्मय का प्रभव (उत्पत्ति) हुआ' यह लेख असंगत है। इस का हेतु आपका ही लेख है। आपने लिखा है कि "अर्जुनगतस्य विस्मयस्य परिपोषात् सामाजिकानां विस्मयोऽपि अर्जुनाभेदात् परिपोषं गतः अद्भुतरसः' "अर्जुनगत विस्मय के परिपुष्ट हो जाने से अर्जुनाभिन्न सामाजिकों का विस्मय भी परिपुष्ट होकर रस हो गया है। ऐसी स्थिति में अर्जुन ने अद्भुत को कहां देखा। अतः कहना होगा कि विस्मय के उत्पादक या उद्बोधक विभाव के देखने से विस्मय का प्रभव हुआ है।

यह तो संजय का वाक्य है कि अर्जुन विस्मित होकर बोला। बस अतः इसको पढकर हे मधुसूदन सरस्वतीजी महाराज ! किसी भी सहृदय को विस्मय नही होता है तब विस्मय स्थायी भाववाले अद्भुत रस की प्रतिति कैसे होगी। अर्थात् प्रतीति नही होगी। ऐसी स्थिति में आपनें कैसे लिखा कि अद्भुत रसो भवतीति सूचितम्। अतः यह सब अटर का पटर लेख है।

हां अद्भुत रस की प्रतीति 'पश्यामि देवान्" इत्यादि "नहि प्रजानामि" ३१ इत्यन्त वाक्य सन्दर्भ में होती है।

क्योंकि-- विस्मयस्थायिभावोऽयमद्भुतो रस उच्यते। और
विस्मयश्चित्तविस्तारः पूर्वादृष्ट विलोकनात्।

विस्मय स्थायी भाव वाला अद्भुत रस कहाता है और विस्मय का अर्थ है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पहले जिन पदार्थों को न कभी देखा न सुना न अनुभव किया उन पदार्थों के देखने सुनने एवं अनुभव करने से चित्तका विस्फार माने ये असम्भव सम्भव कैसे हो रहे हैं इसका क्या कारण है इस तरह कारणों के अनुसन्धान में मन का लगना। भगवान् ने भी कहा था कि—

वहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ! इत्यादि।

और जो आपने भगवान् को आलम्वन विभाव कहा है यह भी उचित नहीं है क्योंकि भगवान् के साथ में तो सर्वदा वह रहता है उनको बरावर देखता ही है वह अदृष्ट पूर्व नही हैं कि जिससे विस्मय होवे। हां उनका ऐश्वर रूप अदृष्ट पूर्व है अतः वह ऐश्वररूप विस्मय का आलम्बन विभाव है। उस रूप की विलक्षणताएं उद्दीपन विभाव है।

पाठकगण। अव जरा इस दीपिका के आलोक में वच्चाभाजी महान् विद्वान का वच्चापन भी देख लीजिए। आप लिखते हैं कि आलम्बनञ्च आश्रयो विषयश्च। आलम्वन आश्रय है और विषय है। भला जो रति का आश्रय है वह भी आलम्वन विभाव हो जाय तव तो मजाक ही होगी। सुनिये महाराज ! नायिका उसी से रति करेगी जिस को देखकर नायिका के हृदय में गुदगुदी होगी। अतः नायक उस नायिका के लिए रतिका आलम्वन विभाव हो गया और नायिका में वह रति है अतः नायिका उस रति की आश्रय है। इस तरह आलम्वन विभाव हेतु विषय ही है। आश्रय आलम्वन विभाव नहीं होता है। हर एक रस में स्थायी का विषय आलम्वन विभाव अलग है और आश्रय अलग है। इसीलिए कहते हैं कि रति हास शोक क्रोध उत्साह भय और निर्वेद में जैसे आलम्वन और आश्रय दोनों की प्रतीति होती है वैसे हास और जुगुप्सा में नही होती है, वहां केवल आलम्बन की ही प्रतीति होती है आश्रय की नहीं। वहां हास के आश्रय द्रष्टा पुरुष विशेषका आक्षेप किया जाता है। अतः सिद्धान्त है कि आलम्वन विभाव विषय हेतु ही होता है आश्रय आलम्वन विभाव नही होता है आपने जो लिखा है कि आलम्बनञ्च आश्रयो विषयश्च वह अशुद्ध है।

अर्जुन के विस्मय के विषय माने उद्वोध के हेतु भगवान् नहीं है अपितु अदृष्टपूर्व ऐश्वर रूप है। भगवान् के तो साथ ही वह रहता है। भगवान् के ऐश्वररूप से भयभीत होकर उनसे अपने स्वाभाविक रूप को दिखाने के लिए प्रार्थना करता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्जुन उवाच

पश्यामि देवांस्तव देव ! देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर ! विश्वरूप ! ॥१६॥
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

बालक्रीड़ा

अर्जुन के हृदय में वासना रूप में स्थित विस्मय के उत्पादक विषय माने हेतु भगवान् नही है। क्योंकि वासना चिरन्तनी होती है। तात्कालिक नही होती हैं। बहूनि मे तव च जन्मानि व्यतीतानि के अनुसार किसी जन्म में उत्पन्न हुए अतएव वासना रूप से स्थित विस्मय का उद्बोधक विषय हेतु भगवान् का रूप ही है।

अनुद्बुद्धः स्थाप्यते न तदुद्दीपन विभावः। यह कौन लेख है प्रकृत में इसकी क्या संगति हैं। उद्दीप्यते का आप उद्बोध्यते अर्थ करते हैं तब अनुद्बुद्धः स्थाप्यते कैसे लिखते हैं। १४।

अर्जुन बोले हे देव ! आप के इस देह में उपचित शरीर में देवताओं को, विशिष्ट प्राणियों के समूह को, कमलरूपी आसन पर बैठे हुए ब्रह्माजी को, ईश शिव भगवान् को, सब ऋषियों को और दिव्य साँपों को देख रहा हूं।१५।

अनेक बाहु उदर मुख और नेत्रवाले तथा अनन्तरूपधारी आपको मैं सभी तरफ देखता हूं। किन्तु हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप ! मैं आपका आदि मध्य एवं अन्त माने ओर छोर नही पा रहा हूं।१६।

किरीट (मुकुट) गदा एवं चक्र को धारण किये हुए, तेज की राशि, इधर उधर सर्वत्र चारों ओर चमकते हुए, दीप्त अग्नि और सूर्य के समान द्युति शाली तथा दुर्निरीक्ष दिव्यचक्षुओं के विना चर्मचक्षुओं द्वारा देखने में अशक्य अतएव अप्रमेय परिच्छेद रहित आपको देखता हूं। यह दुर्निरीक्ष पदका अर्थ है। और यदि यहां दुर्निरीक्ष्य ऐसा यकारयुक्त पाठ मानें तब इसका अनिरीक्ष्य माने देखना मुश्किल है ऐसा अर्थ होगा। १७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातानस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥
अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्य मनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् ।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्र स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥१९॥
द्यावपृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेद लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ! ॥२०॥
अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घा स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥
रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।

बालक्रीड़ा

आप अक्षर हैं नष्ट नहीं होने वाले हैं व्यापक हैं, परम वेदितव्य हैं अन्तिम ज्ञेय हैं.आप ही इस समस्त लोक के निधान उत्तम आश्रय हैं, आप शाश्वत धर्म के गोप्ता हैं सब देश एवं सब काल में रक्षक हैं अतः मैं आपको सनातन पुरुष मानता हूं ।१८।

न जिसका आदि है न मध्य है और न अन्त है तथा न जिसके पराक्रम का अन्त है और सूर्य एवं चन्द्रमा जिसके नेत्र हैं, अनन्त जिसके बाहु हैं, अग्नि के समान देदीप्यमान जिसका मुख है और जो इस विश्व को अपने प्रकाश से प्रकाशित कर रहा ऐसे आपको मैं देख रहा हूं ।१९।

यह आकाश और पृथिवी के वीच का भाग एवं सम्पूर्ण दिशायें अकेले आप से व्याप्त हैं । हे महात्मन् ! आपके इस अद्भुत एवं उग्र रूप को देखकर ये तीनों लोक अत्यन्त व्यथित हो गये हैं ।२०।

यह देवताओं का झुण्ड आपके शरीर में प्रवेश कर रहा है । कुछ लोग डर गये हैं अतएव इधर-उधर भागने में असमर्थ हुए अञ्जलि बांधकर आपके नाम का उच्चारण कर रहे हैं । गृणन्ति गॄ शब्दे । महर्षि एवं सिद्धों के गण युद्ध में प्रत्युपस्थित उत्पातादि निमित्तों को देखकर जगत् के कल्याण के लिए स्वस्ति कहकर पुष्कल स्तुतियों से आपका गुणगान करते हैं ।२१।

रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वदेव, अश्विनी कुमार, मरुत वायु, ऊष्मपा पितर,

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥
रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो ! बहुबाहूरुपादम् ।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥
नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।
दृष्ट्वाहि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ! ।२४।
दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि ।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश ! जगन्निवास ! ॥२५॥
अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥

बालक्रीड़ा

गन्धर्व, हाहा-हूहू वगैरह, यक्ष कुबेर प्रभृति, असुर विरोचन आदि और सिद्ध कपिलादि प्रशस्त गण सभी विस्मित हुए आपको ताक रहे हैं ।२२।

आपके इस महत् रूप को देखकर जैसे ये समस्त लोक अत्यन्त व्यथित हैं वैसे ही मैं भी व्यथित हूं । आपके रूप में बहुत ऊरु हैं, पैर हैं हाथ, हैं पेट हैं, कराल द्रष्टायें हैं मुख एवं नेत्र हैं ।२३।

हे विष्णो ! आकाश को छूने वाले, चमकते हुए अनेक प्रकार के रंग विरंगे, एवं, मुह को फैलाये हुए तथा दीप्त एवं विशाल नेत्रों से युक्त आप को देख कर मेरा अन्तरात्मा घवड़ा गया है अतः धैर्य रहित हो गया हूं और शान्ति को प्राप्त नहीं कर रहा हूं ।२४।

प्रलय काल की अग्नि के तुल्य और कराल जबाडों से महाभीषण आप के मुखों को देखकर मैं दिशाओं को नहीं पहिचानता हूं मुझे दिग् भ्रम होगया है और शान्ति भी नहीं मिलरही है अतः हे देवेश ! हे जगन्निवास ! प्रसन्न हो जाओ । २५ ।

भीष्म एवं द्रोण तथा कर्ण और सभी राजाओं के समूह के साथ ये धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन वगैरह अथच हमारी सेना के भी प्रमुख गण बड़ीजल्दी से आप के कराल दंष्ट्रावाले मुखों में घुसे जारहे हैं । जिन में से कुछ लोगों के मस्तक दंष्ट्राओं में फंस जाने से चूर २ होगये हैं । २६।२७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥
यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तावपि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥२९॥
लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्यं जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ! ॥३०॥
आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर ! प्रसीद ।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

बाकक्रीड़ा

जैसे नदियों का जल समुद्र ही की तरफ बहता है। वैसे ही ये नरलोक वीर योद्धा लोग तुह्मारे जलते हुए मुखों में घुस रहें हैं। २८।

जैसे ये पतंग नष्ट होने के लिए तीव्र वेग से प्रदीप्त अग्नि में प्रवेश करते हैं। वैसे ही ये योद्धाभी नष्ट होने के लिये बड़े वेग से आप के मुखों में घुसे जा रहे हैं। २९।

हे विष्णो ! आप अपने जलते हुए मुखों से चारों तरफ में समग्र लोगों को ग्रसते हुए जीभ से चाट रहे हैं और तुह्मारी ये उग्र ज्वालाएँ व्याप्त होकर समग्र जगत् को सन्तप्त कर रही है'।३०।

मुझे बताइये इस तरह उग्र स्वरूपवाले आप कौन हैं। हे देववर ! आप को नमस्कार है आप प्रसन्न होइये। मैं आद्य समग्रजगत् के प्रथम पुरुष आप को जानना चाहता हूं क्योंकि आपकी प्रवृत्ति को आपकी इस चेष्टा को एकदम नहीं जानता हूं।३१।

श्रीभगवान् बोले मैं लोको का क्षय करनेवाला महान् काल हूं। लोकों का संहार करने के लिए प्रवृत्त हुआ हूं। तुम को छोड़कर यानी तुह्मारे सिवाय सेनाओं में जो ये योद्धा खड़े हुए हैं वे सब नहीं रहेगे। ३२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥
तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्य समृद्धम् ।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ! ॥ ३३ ॥
द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योद्धवीरान् ।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नन् ॥ ३४॥

संजय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेष तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्ते च ।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥ ३६ ॥

बालक्रीड़ा

इस लिए तुम उठो, यश को प्राप्त करो, शत्रुओं को जीत कर समृद्ध राज्य को भोगो। हें सव्यसाचिन् ! मैंने इन सब को पहले ही मार दिया है तुम तो केवल निमित्त बन गावो। ३३।

द्रोण भीष्म जयद्रथ एवं कर्ण तथा और और युद्ध वीर मेरे द्वारा मार दिये गये हैं अतः तुम मारे हुए को मारो। दुःखी मत होओ। युद्ध करो रण में शत्रुओं को परास्त करोगे। ३४।

केशव के इस वचन को सुनकर भीतभीत अत्यन्त भीत अतएव काँपता हुआ अर्जुन भर्राई हुई आवाज में प्रणाम करके पुनः नमस्कार करके कृष्ण को कहने लगा।३५।

हे हृषिकेश ! यह जगत् तुम्हारा कीर्तन करके प्रसन्न होता है और तुम्हारे में अनुरक्त होता है। राक्षस तुम्हारे से डरकर दिशाओं में जहाँ कोई देख नहीं सके ऐसी जगहों में भाग जाते और सभी सिद्ध लोग आपको प्रणाम करते हैं यह सब उचित ही है।३६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त ! देवेश ! जगन्निवास ! त्वक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ! ॥ ३८ ॥

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

बालक्रीड़ा

हे महात्मन् ! वे सिद्धसंघ क्यों नहीं आपको प्रणाम करें। क्योंकि आप गरीयान् हैं तथा सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के भी आदि कर्त्ता हैं जनक हैं। हे अनन्त ! हे देवेश ! हे जगन्निवास, जो सत् है अर्थात् है इस तरह विधिमुख से प्रतीत होता है और जो असत् है नहीं है नहीं है, अर्थात् इस प्रकार निषेध मुख से प्रतीत होता है अथवा जो सत् व्यक्त है वह भी तुम हो और जो असत् है अव्यक्त है वह भी तुम ही हो तथा सत् और असत् से जो पर है मूल कारण है वह भी तुम ही हो।३७।

तुम आदि देवता हो, जगत् का स्रष्टा ब्रह्मा और ब्रह्मा के भी स्रष्टा तुम हो अतः तुम पुरुष हो इस पुरी में शयन करते हो। तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् इस श्रुति के अनुसार इस जगतरूपी पुरी को बनाया और उसमें प्रवेश कर गये। तुम पुराण हो पुराने होकर भी नवीन हो या पुरा अतीत को नवीन कर देते हो। इस विश्व के जगत के पर उत्कृष्ट निधान खजाने तुम ही हो। वेत्ता जानकार तुम हो और वेद्य जानने के योग्य तत्व तुम हो। तथा पर यह पृ पालन पूरणयोः से बना है अतः पालक एवं पूरक धाम तेज तुम हो। यह विश्व तुम से व्याप्त है क्योंकि तुम अनन्त रूप हो तुम्हारे रूप का स्वरूप का अन्त नहीं है परिच्छेद नहीं है।३८।

वायु यम अग्नि वरुण शशांक प्रजापति पितामह और प्रपितामह भी तुम हो। तुमको नमस्कार है। हजार वार तुमको नमस्कार है। पुनः नमस्कार है। भूयः बहुत-बहुत नमस्कार है।३९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥
सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।

बालक्रीड़ा

हे अनन्तवीर्य ! अखण्डप्रभावशालिन् ! महाबलशालिन् ! वीर्यं बले प्रभावे च। इस अमर कोश के अनुसार दोनों अर्थ हैं। अखण्ड प्रभाव हो अतएव अमितविक्रम तुम हो।। विक्रमः शक्तिसम्पत्तिः इस वरणि कोश और विक्रमश्चातिशक्तिता इस अमर कोष के आधार पर तुम्हारा विक्रम तुम्हारी शक्ति समृद्धि अमित है। अपार है। इसीलिए तुम सबको सम्यक् अच्छी तरह से आप्त कर लेते हो अर्थात तुम्हारे में सब समा जाते हैं इसीलिए तुम सब कुछ हो। इसलिए हे सर्व ! आगे पीछे सब तरफ तुमको नमस्कार है या आगे से पीछे से इधर से उधर से अगल से बगल से उपर से नीचे से सभी तरह से एवं प्रकार से नमस्कार है नमस्कार है।४०।

प्रश्न—जब मैं तुम्हारा नमस्करणीय हूं पूज्य हूं तब तुम मेरे साथ बराबरी का व्यवहार क्यों करते हो और मजाक कैसे करते हो। उत्तर—यानी मानं ख्यायते जनैः जनता तुमको और मेरे को दोनों बराबर है ऐसा कहती है तथा मैं और तुम दोनों समान कार्य करते हैं अतः कहा जाता है कि एककार्यकरः सखा। अतः सखा समझकर जो हे कृष्ण हे यादव ! हे दोस्त ! ऐसा प्रसभ माने (प्रगता सभा विचारो यस्मात्) बिना विचार किये कह दिया है वह कहना तुम्हारी महिमा के नहीं जानने से तथा तुम्हारे इस विश्वरूप के नहीं देखने के कारण और प्रमाद से असावधानी से अथवा प्रणय से स्नेह हेतुक विश्वास से हो गया मैंने जान-बूझकर नहीं किया।४१।

और जो अकेले में या दोस्तों के समक्ष में मजाक करने के लिए विहार के समय माने भ्रमण करते हुए या शयन यानी सोते समय, आसन में एक साथ बैठने में अथवा भोजन करते समय जो तुमको मैंने तिरस्कृत कर दिया उसके वास्ते हे अच्युत !

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एकोऽथवाप्यच्युत ! तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्तो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ! ॥४३॥
तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव ! सोढुम् ॥४४॥

बालक्रीड़ा

अर्थात् इस तरह से मजाक के लिए अपमानित करने पर भी तुम च्युत नहीं हुए डिगे नही अतः मैं आपसे क्षमा प्रार्थना करता हूँ। क्योंकि आप अप्रमेय हैं आपको कोई जान नहीं सकता है। यहाँ अप्रमेयः ऐसा प्रथमान्त पाठ उचित है क्योंकि इसमें अप्रमेयत्व की प्रधानता है। द्वितीयान्त होने पर त्वां का विशेषण वह हो जायगा जिससे अप्रमेयत्व गूणीभूत हो जायगा ।४२।

प्रश्न—कैसे तुम मुझे अप्रतिमप्रभाव कहते हो। उत्तर—तुम इस लोक के परिदृश्यमान चराचर जड़ चेतन जगत् के पिता हो॰रक्षक हो, पूज्य हो, गुरु ही हो ऐसी वात नहीं है अपितु गरीयान् हो यानी श्रेष्ठों में भी श्रेष्ठ हो। इसलिए हे अप्रतिमप्रभाव ! जब तीनों लोकों में तुम्हारे समान भी अन्य कहीं कोई नहीं है तब तुमसे अधिक किसको कहाँ से लावें ।४३।

इस लिए मैं शरीर को झुकाकर प्रणाम करके तुमको प्रसन्न होने के लिए प्रार्थना करता हूं। क्योंकि तुम ईश हो . सर्व सामर्थ्य सम्पन्न हो अतः ईड्य हो स्तुति करने के योग्य हो। यहाँ भी ईशः और ईड्यः यह प्रथमान्त पाठ ही उचित है। अतः हे देव ! जैसे पिता पुत्र को, सखा सखा को और प्रिय प्रिया को सहन करता है वैसे ही तुम मुझे सहन करने के लिए योग्य हो। यहाँ भी इव शब्द का अनुपादान और अर्हसि के अकार का लोप छन्दोनुरोध से किया गया है। क्योंकि आचार्यों का सिद्धान्त हैं (अपि माषं मषं कुयात् छन्दोमङ्गं नचाचरेत्) कि भले ही माष को मष करदे किंतु छन्दोमङ्ग का आचरण नहीं करे। अत एव मधुसूदनीगूढार्थदीपिका में इनको छान्दस लिखा है ।४४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव! रूपं प्रसीद देवेश! जगन्निवास! ॥ ४५ ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७॥
न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।

बालक्रीड़ा

हे देव! हे देवेश! हे जगन्निवास! प्रसन्न होइये, मुझे अपना वही रूप दिखाइये। मैं आपको उसी प्रकार से किरीट को पहने हुए गदा को धारण किये हुए और चक्र को हाथ में लिये हुए देखना चाहता हूं। क्योंकि पहले कभी नहीं देखे हुए रूप को देखकर हर्षित हो गया हूँ मेरे रोएं खड़े हो गए हैं और भय से मेरा मन व्याकुल हो गया है। अतः हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ते! तुम उसी चार भुजाओं वाले रूप से मेरे समक्ष हो जाओ।४५-४६।

ऐसा सुनकर भगवान् बोले—हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपने योगबल से तुमको तेजोमय, अनन्त, अविनश्वर आद्य प्रथम और पर उत्कृष्ट विश्व रूप दिखाया है। जिसको तुम्हारे, सिवाय किसी अन्य ने पहले कभी भी नहीं देखा था।४७।

पहले सप्तम अध्याय में २०वें श्लोक में—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः,
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।८।२०

कहा है कि उन-उन इच्छाओं से जिनके ज्ञान अपहृत हो गये हैं वे लोग अपनी प्रकृति के वश में हुए उन-उन नियमों की आस्था करके अन्य देवताओं की भक्ति करते हैं।

फिर नवम अध्याय में २३वें श्लोक में—

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः,
तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥
मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम् ।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

संजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वापुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन !
इदानीमस्मि सवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

बालक्रीड़ा

हे कौन्तेय ! जो भी अन्य देवताओं में भक्ति करके श्रद्धा के साथ यज्ञ करते हैं वे भी मेरे ही लिए यज्ञ करते हैं किन्तु अविधि से करते हैं यानी वेदविहित प्रक्रिया से नहीं करते हैं अतः अनजान में यज्ञ करते हैं। इस उक्ति को याद करते हुए बतलाते हैं कि न तो स्वाध्यायोऽध्येतव्यः के अनुसार वेदों के अध्ययन से और न वेदविहित प्रक्रिया से अनुष्ठित अश्वमेधादि यज्ञों से (पाठक्रम से अर्थक्रम बलवान् होता है अतः वेदयज्ञाध्ययनैः पद का उक्त अर्थ सिद्धान्त भूत है) न दानों से न क्रियाओं से माने (उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुहोति) इत्यादि बहुकर्तृक यागरूप सत्रों से तथा न उग्र कठोर चान्द्रायणादि तपस्याओं से मनुष्यलोक में हे कुरुप्रवीर ! तुम्हारे सिवाय कोई भी मुझको इस रूप में देखने के योग्य है।४८।

इस तरह के घोर मेरे रूप को देखकर तुम व्यथित मत होओ और न विमूढ़ होओ। किन्तु निर्भय होकर प्रसन्न मन से उसी मेरे इस रूप को देखो।४९।

भगवान् ने इस प्रकार अर्जुन को निर्भय करके अपना सौम्य रूप दिखाया इस बात को संजय धृतराष्ट्र से कहते हैं कि ऐसा कहकर महात्मा वासुदेव ने अर्जुन को वैसा ही अपना रूप फिर दिखाया और पुनः सौम्यशरीर को धारण करके डरे हुए अर्जुन को आश्वस्त किया आश्वासन दिया।५०।

इस प्रकार भगवान् के सौम्य रूप को देखकर अर्जुन बोले कि- हे जनार्दन !

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥५२॥

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जन !
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ! ॥५४॥

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥५५॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवदीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोध्यायः ॥ ११ ॥

बालक्रीड़ा

तुम्हारे इस सौम्य मधुर मानुष रूप को देखकर अब मैं सचेत हो गया हूं और अपनी स्वाभाविक स्थिति को पा गया हूं ।५१।

इस पर भगवान् बोले—हे अर्जुन ! मेरे जिस रूप को तुम देख चुके हो यह रूप सुदुर्दर्श है। इस रूप को देखना बड़ा भारी कठिन है। देवता भी इस रूप को देखने के लिए नित्य आकांक्षा करते हैं ।५२।

तुमने जिस प्रकार से मुझको देख लिया है उस प्रकार से मुझको न वेदों के स्वाध्याय से, न तपस्या से, न दान से और न इज्या से वेदविहित प्रक्रिया से अनुष्ठित यज्ञों से कोई भी देखने में समर्थ हो सकता है ।५३।

हाँ अनन्य भक्ति से माने अन्य देवताओं की भक्ति को छोड़कर हे अर्जुन ! मुझको देखने के लिए तत्त्वतः जानने के लिए और प्रवेश करने के लिए यानी मुक्त होकर मदेकता को प्राप्त करने के लिए समर्थ हो सकता है ।५४।

हे पाण्डव ! जो मेरे ही उद्देश्य से कर्म करता है अतः मैं ही जिसके लिए पर माने उत्कृष्ट मा अर्थात् प्रमाण हूं। 'मेरो तो गिरिधर गोपाल' दूसरों न कोई रे की जैसी मीरा की भावनावाला होकर अन्य सङ्गरहित है और मेरा भक्त है तथा सम्पूर्णभूतों में निर्वैर है वह मुझे प्राप्त करता है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सङ्गरहित कहने का भाव है कि सत्त्व रज एवं तम ये गुण देही को देह में बांध देते हैं। जिसमें निर्मल एवं प्रकाशक होता हुआ भी सत्त्व सुखसंग से और ज्ञानसंग से बधन में डालता है। रज तृष्णा के सङ्ग से पैदा होने वाले राग का ही स्वरूप है। अतः यह कर्मों में सङ्ग लगाकर बाँधता है और. तम अज्ञान से पैदा होता है अतः सव देहियों को मोह में डालकर प्रमाद आलस्य एवं निद्रा में फंसा देता है इस तरह बंधन में डालने वाले गुणों के जाल में मत फंसो। क्योंकि सङ्ग करने वाला व्यक्ति किसी से प्रेम करेगा या किसी से वैर। दोनों का परिणाम है संसार यानी 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्', जनन मरणात्मक कीचड़; इसलिये कहा मेरे उद्देश्य से कर्म करने वाला भी, मुझे हर हालत में प्रमाण मानने वाला भी, मेरा भक्त भी, रागद्वेष रहित होने पर ही मुझे प्राप्त करेगा अन्यथा नहीं।५५।

इस प्रकार भगवान् के द्वारा गाई गई उपनिषदों विद्या में योगशास्त्र में कृष्णार्जुन संवाद में विश्वरूप प्रदर्शन रूप ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

इस प्रकार श्रीमधुसूदनशास्त्री की कृति बालक्रीड़ा में गीताओं में ग्यारहवाँ अध्याय सम्पूर्ण हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥

श्रीभगवानुवाच

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।

अथ अब बारहवें अध्याय का आरम्भ करते हैं—

बालक्रीड़ा

अर्जुन बोले - हे भगवन् ! आपके "जो मुझे प्रमाण मानकर माने मेरे बतलाये हुए मार्ग के अनुसार मेरे उद्देश्य से कर्म करते हैं वे भक्त मुझे प्राप्तकर लेते हैं।" इस कथन के आधार से निरन्तर आपमें मन को लगाने वाले भक्त आपकी पर्युपासना करते हैं। यहाँ परिका अर्थ इत्थंभूताख्यान है। उपका अर्थ समीप है। और आसना का अर्थ है उठना बैठना। अतः पर्युपासना करते है माने दृढ़ प्रकार को प्राप्त हुए भक्त भगवान् के समीप में उठते-बैठते हैं अर्थात् भगवान् में नित्य मन लगाये रहते हैं। यहाँ भक्त भगवान् को सावयव साकार सगुण समझता है। तभी उसका दृढ़ प्रकार को प्राप्त होना तथा भगवान् के समीप मैं उठना-बैठना हो सकता है।

और जो अक्षर (न क्षरति अश्नुते च) माने कभी नष्ट नहीं होनेवाले सर्वव्यापक किन्तु अव्यक्त चक्षुरादि बाह्यप्रमाणों से प्रतीत नहीं होने वाले की पर्युपासना करते हैं अर्थात् उसमें अधिक बुद्धि करते हैं। यहाँ परि शब्द का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि अधिपरी अनर्थकौ इस पाणिनि सूत्र के अनुसार अधि और परि अनर्थक भी होते है। उपोऽधिके च सूत्र के आधार पर उप का अर्थ अधिक है। अस गतौ इस गत्यर्थक धातु से ल्युट् प्रत्यय करने से असना बना है। अतः असना का अर्थ बुद्धि है क्योंकि जो गत्यर्थक धातु है वह ज्ञानार्थक भी है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।

बालक्रीड़ा

इन दो प्रकार के भक्तों में से भगवत्प्राप्ति के योग उपाय के अतिशय जानकार कौन है। यहाँ योगः सन्नहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु इस कोष के अनुसार योग का अर्थ उपाय है।

वे जो भगवान् के समीप में उठने बैठनेवाले हैं भगवान् के आधार पर रहनेवाले हैं भगवदवलम्बी हुए हैं। अतः इनका क्लेश रहित होना स्वाभाविक है। क्योंकि भगवान् के ऊपर उनकी जिम्मेदारी है। इसलिए इनको भगवान् युक्ततम कहेंगे और जो तो अधिक समझदार बने हैं वे तो स्वावलम्बी हुए हैं अतः सभी प्रकार का बोझा उनके अपने जिम्मे होने से उनको क्लेश अधिक होना स्वतः प्राप्त है। अत एव इनके विषय में भगवान् कहेंगे कि—क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम्। १।

इस कौन है प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा कि जो व्यक्ति मेरे में मन को समाहित करके नित्य उद्योग में लगकर उत्कृष्ट श्रद्धा के साथ मेरी उपासना करते हैं मै उनको युक्ततम मानता हूं अर्थात् उनकी उपासना को मैं अतीव न्याय्य समझता हूं।२।

जो तो इन्द्रियों का संयम करके जो क्योंकि विषयों की तरफ उनको ग्रहण करने के लिए जब इन्द्रियाँ चलेगी तब मन भी चलेगा और मन यदि विचलित हुआ तो सब गुड़ गोबर हो जायगा अतः मन को विचलित करने वाली इन इन्द्रियों को विषयों की तरफ जाने से रोके तथा सभी भूतों के चराचर जगत् के हितकारी या हितस्वरूप परमेश्वर में प्रेम करे। ऐसी प्रेम करने की स्थिति तभी हो सकती है जब सर्वत्र प्रपञ्च में ब्रह्माकार बुद्धि हो जाय अतः सबको ब्रह्म समझे। इस तरह शमदमादि साधन सम्पन्न होकर अक्षर की अनिर्देश्य की जिसको शृङ्गग्राहिकया अमुक है ऐसा विशेष रूप से नहीं कह सकते हैं अथच यह है ऐसा अंगुली से जिसका सामान्य रूप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥

बालक्रीड़ा

से संकेत नहीं कर सकते हैं, उस अव्यक्त की बाह्य प्रमाणों से व्यक्त नहीं होनेवाले को, सर्वजगत् "तो में मों में खड्ग खम्भ में सब में व्यापक राम" की तरह सब देश काल पात्र एवं दशा में उपलब्ध होने वाले की, अचिन्त्य की चिन्तन के योग्य नहीं होने वाले की, कूटस्थ की तरह एक ही जगह में पड़े रहने वाले की यानी किसी के द्वारा ले जाये बिना स्वतः इधर-उधर खिसक भी नही सकने वाले की माने गति शून्य की, अचल की गतिमान् होते हुए भी नहीं चलनें वाले की एवं ध्रुव की तरह टारने पर भी नहीं टरने वाले की पर्युपासना करते हैं वे भी मुझको ही प्राप्त करते हैं।

यहाँ प्रश्न होता है कि जब सब विषयों से इन्द्रियों को रोक लेंगे यानी न किसी को देखेंगे सुनेंगे छुएंगे सूंघेगे और न बोलेंगे तथा न चाटेंगे चीखेंगे तब बचे कौन जिन सबको ब्रह्म समझेंगे और कैसे चराचर जड़ चेतन के हिततम में परमेश्वर में प्रेम करें। जो अनिर्देश्य है जैसे सींग को पकड़ कर यह गाय है ऐसा विशेष रूप से बतलाया नहीं जा सकता है और यह है ऐसा सामान्य रूपसे अंगुली से जिसका संकेत नहीं कर सकते हैं तब वह "तो में मों में खड्ग खम्भ में सबमें व्यापक राम" की तरह देश काल पात्र अवस्था में उपलब्ध कैसे हो सकता है। जब जड़ एवं चेतन चर एवं अचर सब ब्रह्म ही है क्योंकि 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन' ये श्रुतियाँ कहती हैं और जब, चर एवं अचर या जड़ एवं चेतन सबमें दिखाई ही पड़ता है व्यक्त ही है तब अव्यक्त उसको कहना कैसा। जब आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः यह और दृश्यते त्वग्रचया बुद्धया। यह श्रुति श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः, मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा च सततं ध्येयः। यह स्मृति देखने सुनने और ध्यान माने चिन्तन करनें के योग्य बतलाती है तब अव्यक्त कैसे और अचिन्त्य कैसे। क्योंकि निपूर्वक ध्यै चिन्तायां धातु से सन् प्रत्यय और तव्य प्रत्यय के करने पर निदिध्यासितव्य बनता है जिसका अर्थ है चिन्तनेच्छा का विषय और ध्येय का भी अर्थ है चिन्तनीय। पर्युपासन शब्द का अर्थ है वेदादि शास्त्रों की शिक्षा के अनुसार उपासनीय तत्त्व को समझकर उसके समीप में तैल-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥
ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।

बालक्रीड़ा

धारा के सदृश या गंगा के प्रवाह की तरह एकाकार प्रत्यय करते हुए दीर्घकाल तक आसन। जब उपासनीय अर्थ अव्यक्त है अनिर्देश्य है एवं अचिन्त्य है तब उसका पर्युपासन कैसा। उसके समीप में दीर्घकाल तक बैठना कैसा इत्यादि पूर्वापर विरोधी अटर का पटर कथन है। अतः विचाणीय है।३-४।

जिनका चित्त अव्यक्त में जाति गुण क्रिया एवं सम्बन्ध से रहित निर्गुण ब्रह्म में आसक्त है लग गया है उनको अधिक क्लेश है क्योंकि देहवान् यानी देहाभिमानी लोगों को अव्यक्ता निरालम्बना गति में अक्षरात्मक गन्तव्य प्राप्तव्य फलभूत ब्रह्म की प्राप्ति में यानी ब्रह्म को प्राप्त करने में बड़ा दुःख है काठिन्य है।५।

हे पार्थ ! जो तो सब कर्मों को (विहित नित्य नैमित्तिक और काम्य एवं निषिद्ध क्रियाओं को यत्करोषि तत्कुरुष्व मदर्पणम्। जो कुछ करते हो उस सबको मेरे अर्पण कर दो इस पूर्व आदेश के अनुसार) मेरे में अर्पण करके मत्पर हो जाते हैं "अर्थात जिनके लिए अब पर श्रेष्ठ श्रवणीय दर्शनीय घ्राणीय आस्वादनीय कथनीय स्पर्शनीय मननीय ज्ञानीय एवं भावनीय मै ही हूं" ऐसा हो जाते हैं अथ च अनन्य योग से अर्थात् जिसमें मुझसे अतिरिक्त कोई भी अन्य आलम्बन सहारा नहीं है ऐसे योग से एकाग्रता से मेरी उपासना करते हैं तथा बड़े आवेश के साथ मेरे में चित्त को लगाते हैं उनका सागर की तरह दुस्तर मृत्युरूपी संसार से शीघ्र ही उद्धार करने वाला मैं ही होता हूं।६-७।

इसलिए अव्यक्त में चित्त को आसक्त न करके मेरे में ही मन को चित्त को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ! ॥९॥

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।

बालक्रीड़ा

लगाओ और मेरे में ही बुद्धि का निवेश करो। क्योंकि मेरे में मन एवं बुद्धि के लगा देने के बाद तुम मेरे में ही निवास करोगे इसमें कोई संशय नहीं है ।८।

अथ अगर तुम स्थिरता के साथ अपने चित्त को मेरे में नहीं लगा सकते हो तो हे धनञ्जय ! अभ्यास योग के द्वारा मुझे प्राप्त करने की इच्छा करो। अर्थात् मन को सब तरफ से हटाकर किसी एक आभ्यन्तर आलम्बन में या प्रतिमादि वाह्य आलम्बन में पुनः पुनः स्थापित करना ही अभ्यास है। ऐसा अभ्यास जिसमें हो वैसे योग से तुम मुझे प्राप्त करो ।९।

और यदि इस उक्त अभ्यास योग के करने में असमर्थ हो तो मेरे उद्देश्य से कर्म करने में तत्पर हो जाओ। क्योंकि मेरे लिए कर्मों को करते हुए भी तुम चित्तशुद्धि एवं ज्ञानप्राप्ति के द्वारा ब्रह्मभावरूप सिद्धि को मोक्ष को प्राप्त कर लोगे ।१०।

अगर तुम यह भी नहीं कर सकते हो तो भगवान् ही एकमात्र शरण हैं रक्षक है इस तरह मेरे आश्रित होकर चित्त को संयम करके क्रियमाण यावत्कर्मों के फलों को छोड़ दो। फलों का त्याग करदो अर्थात् अपनी निष्ठा ऐसी बनाओ कि मुझे कर्मों का फल नहीं चाहिये क्योंकि मैंने सब कर्मों को भगवान् के समर्पित कर दिये हैं ।११।

यदि मैं सर्वविध कर्मों के फल को त्याग दूं तब तो व्यर्थ ही मैंने सब कर्म

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।१२।
अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥१३॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।

बालक्रीड़ा

किए। इससे अच्छा तो यह होगा कि मैं कर्मों को ही नहीं करूं। न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी। कीचड़ में पैर को फँसाकर धोने की अपेक्षा न फँसाना ही अच्छा है। ऐसी अर्जुन की आशंका का निवारण करने के लिए भगवान् कहते हैं ऐसा नहीं हो सकता है कि तुम कर्म नहीं करो, क्योंकि विना कर्म के किए कोई भी क्षणभर भी जी नहीं सकता है या क्षणभर भी रह नहीं सकता है अतः कर्म करना अनिवार्य है। यदि कर्म करना अनिवार्य है तो उसके फल को भोगना भी अनिवार्य है अतः उभयतः पाशारज्जुः। अन्ततो गत्वा इसका यही एक सर्वश्रेष्ठ उपाय है कि तुम कर्मों के फल का त्याग कर दो।

अब कर्मफल त्याग की प्रशंसा करते हैं कि अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है। केवल ज्ञान से ज्ञानसहित ध्यान उत्तम है। इस ज्ञानसहित ध्यान से भी कर्मफल त्याग विशिष्ट है। क्योंकि इस त्याग से अन्तररहित माने विना उपद्रवों के शान्ति मिलती है जो विश्व के साम्राज्य से बढ़कर सुखद है।१२।

अब कर्मों के फल के त्याग करने वाले के गुणों को कहते हैं। जो त्यागी है वह सम्पूर्ण भूतों में किसी के भी साथ द्वेष नहीं करता है। सबसे मैत्री का बर्त्ताव करता है। दीनों पर करुणा करता हैं। जिसपर ममता रहेगी उसमें राग होने से उसके साथ मैत्री का बर्त्ताव करना होगा अन्यथा द्वेष करना होगा अतः त्यागी को ममता रहित होना आवश्यक है। ममता रहित होने के लिए अहंकार का त्याग करना उचित है अतः त्यागी निरहंकार होता है। जिसकी अहंता एवं ममता टूट गई है उसके लिए सुख एवं दुःख नाम की कोई वस्तु नहीं रह गई। क्योंकि अहंता एवं ममता के कारण ही राग एवं द्वेष होते हैं। जिस पर राग होता है उससे सुख के मिलने की संभावना रहती है। जिससे द्वेष होता है उससे दुखः के; अतः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१ ॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।

हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।

बालक्रीड़ा

जब यह मेरा प्रेमी है या यह मेरा द्वेष्य होता है ऐसा भाव नहीं रहा तब किसी से सुख एवं दुखः के मिलने की संभावना भी नहीं रही। क्योंकि वह क्षमी त्यागी और होता है अतः वह दुःखों के देने वाले का भी अपकार नहीं करता है ।१३।

त्यागी पुरुष सतत निरन्तर योग में लगा रहता है अतः जो मिल गया उसी से सन्तुष्ट रहता है। त्यागी का आत्मा मन संयत रहता है अतएव उसका निश्चय माने निश्चयात्मिका बुद्धि दृढ़ रहती है स्थिर रहती है। क्षण में रुष्ट हो और क्षण में तुष्ट हो ऐसा नहीं रहता है। यह तभी हो सकता है जब मेरे में मन एवं बुद्धि को अर्पण कर देता है। फलतः जो मेरे में मन और बुद्धि का अर्पण कर देता है वह मेरा भक्त है वह मुझे अत्यन्त प्रिय है ।१४।

इस तरह के गुणों से सम्पन्न भक्त से कोई भी लोक उद्विग्न नही होता है सन्तप्त नही होता है संक्षुब्ध नही होता है तथा भक्त भी लोक से उद्विग्न नही होता है सबको अपने से भिन्न नही देखता है अतः भयभीत एव विचलित नही होता है क्योंकि भय दूसरे से होता है अथ च परमकारुणिक होने से क्षमाशील है। तथा जो हर्ष माने प्रिय जन या प्रिय वस्तुओं के मिलने पर अन्तःकरण में उल्लास जिससे रोएं खड़े हो जाते हैं आंसु आ जाते हैं। अमर्ष माने अभिलाषाओं के प्रतिहत होने पर असहिष्णुता। भय माने आत्मोच्छेद की शङ्का। उद्वेग व्याकुलता यानी सर्वसाधनों से हीन अकेला मैं कैसे जीवनयात्रा का निर्वाह करूंगा। इन सबसे स्वतः मुक्त है न कि उनको छोड़ने के लिए सतत प्रयत्नशील है। ऐसा जो भक्त है वह मेरा प्रिय है ।१५।

किसी से किसी भी तरह की अपेक्षा आवश्यकता या लगाव नहीं करता या नहीं रखता है अतः इसतरह जो अनपेक्ष है। अतएव लगाव नही रखने के कारण ही जो शुचि है निर्लेप है शुद्ध है। जो शास्त्र एवं लोक की मर्यादाओं के विषय के समझने एवं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।१६।
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ।१७।
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥१८॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।

बालक्रीड़ा

पालन करने में दक्ष है चतुर है । अतएव जो लौकिक एवं शास्त्रीय भौतिक पदार्थों के विषय के आकर्षक व्यवहार एवं वचनों से. उत् उपर में आसीन है स्थित है । जो गतव्यथ है माने व्यथा के पीड़ा के कारणों के उपस्थित होनेपर भी व्यथित नही होता है। लौकिक एवं पारलौकिक फल को देने वाले सम्पूर्ण कर्मों के त्याग करने का जिसका स्वभाव है । ऐसा जो मेरा भक्त है वह मुझे प्रिय है ।१६।

जो अभीष्ट वस्तु के मिल जाने पर हृष्ट नही होता है न मिलने पर रुष्ट नहीं होते हैं और जो अवाञ्छित वस्तु के मिल जाने पर द्वेष नहीं करता है। शोक के हेतुओं के उपस्थित होने पर भी जो शोक नही करता है । तथा जो किसी सामान्य या विशेष वस्तु को प्राप्त करने की आकांक्षा नहीं करता है या नहीं रखता है और सुख के प्रापक एवं दुःख के निवारक शुभ कर्मों के इसी तरह सुख के निवारक एवं दुःख के प्रापक अशुभ कर्मों के परित्याग करने का जिसका स्वभाव है ऐसा भक्तिमान् मेरा प्रिय है ।१७।

शत्रु और मित्र में समभाव रखनेवाला है तथा मान एवं अपमान के अवसरों पर या कारणों पर होने वाले सुख और दुःख का अनुभव नहीं करने वाला है और सुख तथा दुःख के उपस्थापक शीत एवं उष्ण की प्रतीति में सम भावना रखता है सांसारिक वन्धन के हेतु सुखसङ्ग या ज्ञानसङ्ग आदि सभी सङ्गों से रहित हैं। निन्दा और स्तुति दोनों को जो बरावर समझता है, मौनी है अर्थात् जो दोषों को कहकर न किसी की निन्दा करता तथा न गुणों का ख्यापन करके किसी की स्तुति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ।२०।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगोनाम
द्वादशोऽध्यायः ॥ १२॥

बालक्रीड़ा

करता है। जिस किसी से सन्तुष्ट हो जाता है या रहता है। नियत किसी एक स्थान पर नहीं रहता है अत एव जो अनिकेत है तथा स्थिरमति है भीषण परिस्थितियों में जिसकी मति विचलित नहीं होती है ऐसा भक्तिमान् नर मेरा प्रिय है।१८।१९।

जो तो इस धर्मयुक्त और अमृतमय मेरे कथन की उपासना करते हैं तथा श्रद्धालु हैं और मुझको हर हालत में प्रत्येक पहलू में पर उत्कृष्ट मा अर्थात् प्रमाण मानते हैं वे भक्त मुझे अतीव प्रिय हैं।२०।

इति यह श्रीमधुसूदनशास्त्री की कृति भगद्वगीता की बालक्रीड़ा में बारहवां अध्याय समाप्त हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वितीय षट्क की समीक्षा

यहां यह विचार करना है कि सप्तम अध्याय से द्वादश अध्याय तक के द्वितीय षट्क में भक्तियोग का निरूपण गीताकारने किया है ऐसा श्रीमधुसूदनजी सरस्वती का कथन है किन्तु भाष्यकारों में शङ्कराचार्यजी का ऐसा कोई इङ्गित चेष्टित नही है। उन्होंने गीता की भूमिका में उपोद्‌घात में लिखा है कि

द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च। इति। स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया वैदिकं धर्मद्वयमर्जुनाय शोकमोहमहोदधौ निमग्नाय उपदिदेश इति। तं धर्मं भगवता यथोपदिष्टं वेदव्यासः सर्वज्ञो भगवान् गीताख्यैः सप्तभिः श्लोकशतैरुपनिबबन्ध। इति।

वेद में दो प्रकार का धर्म कहा है एक प्रवृत्तिलक्षण दूसरा निवृत्तिलक्षण। अपने लिए किसी भी प्रयोजन के नही रहने पर भी भूतों पर प्राणिवर्ग पर अनुग्रह करने की इच्छा से भगवान् ने उक्त दो प्रकार के धर्मो का शोक एवं मोह समुद्र में डूबे हुए अर्जुन के लिए उपदेश दिया। उन्हीं दो धर्मों का उपनिबन्धन सर्वज्ञ वेद व्यासजी ने सात सौ श्लोकों में किया।

इस तरह कर्मयोग एवं ज्ञानयोग इन दो ही का गीता में उपदेश है यह शंकराचार्यजी का निर्देश है।

आनन्दतीर्थ मध्वाचार्यजी ने भी 'धर्मज्ञान द्वारा मोक्षो भवेदिति भारतं चकार। भारतं च गीता। तच्चोक्तं भारतं सर्वशास्त्रेषु भारते गीतिका वरा इति। सहि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने इति ज्ञानप्रदर्शनाय भगवान् व्यासोऽवततार इति च।

इस प्रकार ज्ञान के ही लिए गीता का उपदेश है ऐसा कहा है।

श्री वल्लभाचार्यजी ने भगवान् पुरुषोत्तमः नारायणः पाण्डुतनय युद्धप्रोत्साहनव्याजेन ज्ञानकर्मानुगृहीतभक्तियोगमवतारयामास।

इस प्रकार भक्तियोग का ही प्रतिपादन गीता में है ऐसा कहा है। श्रीधरस्वामीजी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ने "निजधर्मपरित्यागपरधर्माभिसन्धिपरमर्जुनं धर्मज्ञानरहस्योपदेशप्लवेन शोकमोह सागरादुद्धार" इस प्रकार धर्मरहस्य एवं ज्ञानरहस्य का उपदेश गीता का प्रतिपाद्य है ऐसा कहा है।

किन्तु मधुसूदन सरस्वती ने प्रथमषट्क कर्मकाण्डात्मक है द्वितीयषट्क उपासना-काण्डात्मक है एवं तृतीयषट्क ज्ञानकाण्डात्मक है ऐसा प्रतिपादन किया है। उसमें भी तत्त्वमसि इस विधेयाविमर्शदोषग्रस्त महावाक्य का समन्वय दिखाया है। इस वाक्य में विधेयाविमर्शदोष ऐसे है—त्वंपदार्थ को लक्ष्य करके तत्पदार्थ का विधान है अतः त्वं उद्देश्य है और तत् विधेय है। जिसमें उद्देश्य का प्रथम कथन और विधेय का पश्चात कथनरूप नियम से उद्देश्य को पहले न कहकर विधेय को पहले कहा है अतः यहां विधेय का विमर्श दोष है।

यहां तीनों काण्डों में प्रथम में त्वंपदार्थ का द्वितीय में तत्पदार्थ का और तृतीय में दोनों के ऐक्य का निरूपण किया है ऐसा कहा है किन्तु ऐसे कोई पद या वाक्य इनमें कही भी नही है। प्रत्युत इसके विरुद्ध स्वयं मधुसूदनजी ने द्वितीय अध्याय के अन्त की फक्किका में लिखा है कि सर्वगीतार्थसूत्रणं नाम द्वितीयोऽध्यायः अर्थात् सम्पूर्णगीता का जो प्रतिपाद्य अर्थ है उसका सूत्ररूप से निर्देशात्मक यह द्वितीय अध्याय है। इसके सिवाय उपलभ्यमान सभी गीताओं में तथा उनकी टीकाओं के अन्त में भी सांख्ययोगो नाम द्वितीयोध्यायः। कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः। ज्ञानकर्म-संन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः। संन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः।। ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः। इस तरह सभी में ज्ञान का संन्यास का एवं ध्यान का निरूपण किया है। केवल तृतीय में एक कर्मयोग का निरूपण है। इससे भी बहूनामनुरोधो न्याय्यः के अनुसार ज्ञानयोग का ही निरूपण प्रथम षट्क में कहना चाहिए।

इसके सिवाय द्वितीयषट्क को उपासनाकाण्ड बतलाने का आधार क्या है। क्यों कि भक्ति भक्त आराधन एवं उपासना शब्दों का व्यवहार गीताके पद्यों में ५० बार किया है। किन्तु ७ से १२ तक के द्वितीयषट्क में ही उनका प्रयोग किया है ऐसी बात नही है। इनका तो ७ वें अध्याय से पूर्व में भी ४थे एवं छठे में तथा १२ वें अध्याय के आगे के १३।१४ एवं १८ वें अध्यायों में पूर्वषट्क एवं अन्तिम षट्क में भी प्रयोग किया है। इसके सिवाय कर्मयोग एवं सांख्ययोग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

की तरह भक्तियोग की व्याख्या तो दूर रही भक्तियोग शब्द का भी प्रयोग द्वितीय षट्क में नही है। भक्तियोग शब्द का प्रयोग १८वें अध्याय के २६ वें श्लोक में किया है। भक्ति क्या है भक्ति का स्वरूप यह है इस तरह करनेवाला भक्त होता है। आराधना क्या है? आराधना का स्वरूप यह है ऐसा करनेवाला आराधक होता है। उपासना क्या है उपासना का स्वरूप यह है ऐसा करने वाला उपासक होता है इत्यादि कुछ भी नही बतलाया है। अतः कैसे कहा जासकता है कि द्वितीय षट्क ही उपासनाकाण्ड है जब कि श्रीगीता के तीनों षट्कों में भक्ति शब्द का प्रयोग मिलना है। भक्त भक्ति आराधना एवं उपासना शब्द गीताओं में अट्ठारह अध्यायों में कहां-कहां आया है इसको प्रथम षट्क की भूमिका में पाठक देखें। अतः यह सब मधुसूदन सरस्वतीजी की अपनी कल्पना है।

कर्म में ही अधिकार है—

कर्मण्येव में एवकार अन्य के साथ होने वाले योग का सम्बन्ध का व्यवच्छेदक है। अतः कर्म में ही अर्थात् कर्म से अन्य ज्ञान में अधिकार योग्यता नही है। क्योंकि कर्मयोग एवं ज्ञानयोग इस तरह दो ही निष्ठाओं का गीताजी में प्रतिपादन किया है। भाष्यकारने भी यही लिखा है कि कर्म में ही अधिकार है न कि ज्ञान में।

कदाचन किसी काल में किसी देश में मा रूप ज्ञानरूप फल में भी अधिकार है। यहां मापदका अर्थ है प्रमा जो प्रमाण से जन्य फल है। विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपः इस निर्देश के अनुसार मा के पूर्वभूत प्रका लोप हो गया है। इस लिए किसी समय फल प्राप्ति के पहले कर्म करने के समय कर्म में ही अधिकार है कर्मजन्य फल में नही है। कभी फल पाने की स्थिति में नियुक्ति पत्र के मिलने के बाद फल में भी अधिकार है। यह भी एक व्याख्या है।

कर्म में ही अधिकार है इस तरह अन्वय के तरीके से कर्म करना बतलाया। अकर्मणि अर्थात् कर्म से भिन्न कर्म के सदृश ज्ञान में तुम्हारा संग आसक्ति मत होवे इस तरह व्यतिरेक से अभाव के रूप से भी कर्म करना ही बतलाया तब मा कर्म फल हेतुर्भूः अर्थात् कर्म से पैदा होनेवाले फल का हेतु माने कर्म मत होवो। या कर्म मत करो। यह क्या कहा। जरा विचारणीय है।

इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि कर्म से पैदा होने वाले फल के हेतु कर्म को मत करो अर्थात् फल को मन में रखकर फल की कामना से कर्म नही करना चाहिए अपितु निष्काम भाव से कर्म करना चाहिये। अतः फल की इच्छा से कर्म मत करो ऐसा कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्मण्येवाधिकारः

कर्मण्येव नान्यत्र ज्ञाने अधिकरो योग्यता। कर्मयोगज्ञानयोगेतिविधया द्वयोर्निष्ठयोरुक्तत्वात्। तथा चोक्तं भाष्ये—कर्मण्येवाधिकारो न ज्ञाननिष्ठायामिति। किन्तु कदाचन कुत्रचिद् देशे क्वचन काले माफलेषु। मापदेनात्र प्रमा ज्ञानं गृह्यते। विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोप इति निर्देशात् प्रस्य लोपः। प्रमा च प्रमितिश्च प्रमाणजन्यं फलं ज्ञानमेव। तेन मारूपेषु ज्ञानरूपेषु फलेष्वपि अधिकारः इत्यपि व्याख्या बोध्या। माया लक्ष्म्याः फलेषु अथवा मारूपेषु लक्ष्मीरूपेषु धनधान्यादिष्वपि कर्मजन्येष्वधिकार इति व्याख्य तु प्रागुक्तैव। कर्मण्येवाधिकार इति अन्वयविधया कर्मणः करणमुक्तम् मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि इति अकर्मणि कर्मभिन्ने कर्मसदृशे ज्ञाने सङ्गः आसक्तिः मा ते अस्तु अनधिकारित्वादिति व्यतिरेकविधया कर्मणः करणमुक्तम्। इति हेतोरन्वयव्यतिरेकाभ्यां कर्मणि एव अधिकारः साधितः। परं मा कर्मफलहेतुर्भूरिति किम्वुक्तम्। कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिण इत्येवं कर्मजन्यं फलं भवतीत्युक्तम्। तेन यदा कर्मफलहेतुरित्यत्र कर्मणा जन्यस्य फलस्य हेतुः कारणं कर्मैव नान्यत् तदा मा भूरिति निषेधः कस्य। यतः कर्मण्येवेति मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि इत्याभ्यां कर्म कुरु इति प्रसाध्य कर्म मा कुरु इति किमुक्तम्। उत्तरम्कर्मणः फलस्य हेतुभूतं कर्म मा कुरु अर्थात् फलप्राप्तिभावनया कर्म मा कुरु निष्कामभावनया कर्म कुरु इति संगतमेव नासमञ्जसम्।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्मणः। अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ४।१ अत्र कर्म विकर्म अकर्म इति त्रयाणां बोधनकर्त्तव्यता उपदिष्टा। परम् एतेषां त्रयाणां स्वरूपतो निर्देशो न कृतः। तत्र विकर्मशब्दस्य केवलं १ वारम् अत्रैव श्लोके उपादानं कृतम् नान्यत्र कुत्रापि गीतासु अष्टादशसु अध्यायेषु। इति।

अकर्म शब्दस्य तु 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि १।२।४७ कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ३।३।८ कर्मण्यकर्मं यः पश्येत् (४) अकर्मणि च कर्म यः (५) ४।१८ किं कर्म किमकर्मेति (६) अकर्मणश्च बोद्धव्यम् ४।१७ इत्येवं ७ वारं निर्देशः। तस्यार्थः अकरणम्। जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् इत्यत्रापि अकर्मेति कर्मः शब्दः अस्ति परमत्र प्रतिषेधार्थकस्य अकारस्य अन्वयः पूर्वनिर्दिष्टसप्तस्थलवत् कर्मणा सह नास्ति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अपितु कृत् इति कृधातुनिष्पन्नेन शब्देन सह ; अतस्तस्य कर्मं अकुर्वन् इत्येवार्थः नान्यः । कर्म शब्दस्य तु १३० वारं प्रयोगः ।

कर्मण्येवाधिकारस्ते । मा कर्मफलहेतुर्भूः ।२।४७। योगस्थः कुरु कर्माणि २।४८। दूरेण ह्यवरं कर्म २।४९ नियतं कुरु कर्म त्वम् । कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ३।८ यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः । तदर्थं कर्म कौन्तेय ।३।९। यज्ञः कर्मसमुद्भवः ३।१४ कर्म ब्रह्मोद्भव विद्धि ३।१४ तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार । असक्तो ह्याचरन् कर्म ३।१९। कर्मणैव हि संसिद्धिम् । सपश्यन् कर्म कर्त्तुमिहार्हसि ।३।२०। वर्त्त एव च कर्मणि ३।२२ जातु कर्मण्यतन्द्रितः ३।२३। न कुर्यां कर्म चेदहम् ३।२४ सक्ताः कर्मणि अविद्वांसः । कर्मणि असक्तो विद्वान् ३।२५ अज्ञानां कर्म सङ्गिनाम् ३। ६ अत्र सक्ता इत्यस्य असक्त इत्यस्य सङ्गिनाम् इत्यस्य च साक्षात् कर्मणि अन्वयः प्रोक्तः सर्वैः टीकाकारैः । परं पूर्वत्र ३।१९ पद्ये असक्तः कार्यं कर्म समाचर इत्यत्र असक्तो ह्याचरन् कर्म इत्यत्र च फलेष्वसक्तः कर्म समाचरन् इत्यन्वयो दर्शितः । जोषयेत्सर्वकर्माणि ।३।२६ गुणैः कर्माणि सर्वशः ३।२७ गुण कर्म विभागयोः ३।२८ सज्जन्ते गुणकर्मसु ३।२९। मयि सर्वाणि कर्माणि ३।३० जन्म कर्म च मे दिव्यम् ४।९। कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिम् । सिद्धिर्भवति कर्मजा ४।१२।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः ४।१३ अत्र चातुर्वर्ण्यं चतुर्भ्यो वर्णेभ्यो हितकारकं गुणप्रभवं कर्म मया विभागशः सृष्टम् । इत्येवान्वयः । गुणकर्मविभागशः चातुर्वर्ण्यं मयां सृष्टमित्यन्वयस्तु अविवेकग्रस्तः । न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः । सत्त्वं (प्राणि) प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः । ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप ! कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः इति १८।८०।४१ उक्तेः । मुखबाहूरुपज्जानां कर्माणि प्रविभागशः । गुणैः सृष्टानि विधिना इति मनूक्तेश्च । न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा । कर्मभिर्न स बध्यते ४।१४ एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म । कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम् ४।१४ तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि । किं कर्म किमकर्मेति ।४।१६ कवयोऽपि अमुग्धा अपि क्रान्तदर्शिनः मोहिताः बलान्मोहं प्रापिताः न तु मुग्धाः । अन्ये दार्शनिकादयस्तु मुग्धा एव । कर्मणो ह्यपि बोधव्यं, गहना कर्मणो गतिः ४।१७। कर्मण्यकर्म । अकर्मणि च कर्म ४।१८ ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम् ।४।१९। त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम् । कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि ४।२० शारीरं केवलं कर्म ४।२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यज्ञायाचरतः कर्म ४।२३ ब्रह्मकर्मसमाधिना ४।२४ इन्द्रियकर्माणि । प्राणकर्माणि ४।२७ कर्मजान् विद्धि ४।३२ सर्वं कर्माखिलम् ४।३३ ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि ४।३७ योगसंन्यस्तकर्माणम् । आत्मवन्तं न कर्माणि ४।४१। संन्यासं कर्मणाम् ५।१

कर्मसंन्यासः । कर्मयोग; ५।२ ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा (कर्म) करोति यः ५।१०। योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ५।११ युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा ५।१२ सर्वं कर्मणि मनसा । नैव कर्म कुर्वन् न कारयन् ५।१३ न कर्तृत्वं न कर्माणि । न कर्मफलसंयोगम् ५।१४ अनाश्रितः कर्मफलम् । कार्यं कर्म करोति यः ६।१ कर्म कारणमुच्यते ६।३ नेन्द्रियार्थेषु कर्मसु ६।४ न हि कल्याणकृत् ६।४० प्राप्य पुण्यकृतां लोकान् ६।४१ कर्मिभ्यश्चाधिको योगी ६।४६। जनानां पुण्य कर्मणाम् ।७।२८।

कर्म चाखिलं विदुः ७।२९ किं कर्म ८।१ विसर्गः कर्मसंज्ञितः ।८।३। न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति । असक्तं तेषु कर्मसु ९।९। शुभा शुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्म बन्धनैः ९।२८। मत्कर्मकृत् ११।५५ मत्कर्मपरमो भव । मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि १२।१० सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् १२।११ ध्यानात्कर्मफल त्यागः १२।१२। प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः १३।२९ पूर्वं ३।२७ "प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः" इति श्लोकेऽपि अयमेवार्थः । इमे एव शब्दाः प्रयोजिता इति ज्ञेयम् ।

रजः कर्मसंगेन देहिनं बध्नाति १४।७ रजः कर्मणि संजयति १४।९। आरम्भः कर्मणाम् रजसि जायते १४।१२ रजसि प्रलयं गत्वा कर्म सङ्गिषु जायते १४।१५ कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलंफलम् १४।१६। अधश्च मूलान्यनु संततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके १४।२ प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते १७।२६ कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते १७।२७। काम्यानां कर्मणां न्यासम् । सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुः १८।२ त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुः । यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यम् १८।३। यज्ञदानतप कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् । १८।५ एतान्यपि तु कर्माणि १८।६ नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते १८।७ दुःखमित्येव यत्कर्म ।१८।८ कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन १८।९ न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले (कर्मणि) नानुषज्जते १८।१० न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः । यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।१८।११ सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणा इति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रागुक्तस्य फलितोर्थः। अनिष्टमिष्टं मिश्रञ्च त्रिविधं कर्मणः फलम् १८।१२। पञ्चैतानि महाबाहो सिद्धये सर्वकर्मणाम् १८।१३। शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा। अधिष्ठानं १ कर्त्ता २ करणं ३ चेष्टा ४ दैवं ५ पञ्चैते तस्य हेतवः ११।१४ ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना। करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः १८।१८ अत्र परिज्ञाता इत्यत्र परेः स्थाने तथा पाठ उचितः। परिस्तु निरर्थकः अधिपरी अनर्थकौ इति पाणिनिसूत्रात्। तथा शब्दः संग्राहकः। ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च १८।१९ सात्विकं राजसं तामसं त्रिविधं कर्म १८।२३।२४।२४ ब्राह्मण क्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तपः। कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः १८।४१ ब्राह्मं कर्म। क्षात्रं कर्म। वैश्यं कर्म। शौद्रं कर्म इत्येतच्चतुर्विधम्।१८।४२।४३।४४ स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः। १८।४६ स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् १८।४७ सहजं कर्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत्।१८।४८ सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद् व्यपाश्रयः १८।४६ चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः १८।५७ इति पद्यार्धं मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा ३।३०।इत्यत्र गतार्थम् प्राक्।

स्वभावजेन कौन्तेय! निबद्धः स्वेन कर्मणा १८।६० सोऽपि (श्रोतापि) युक्तः शुभांल्लोकान् प्राप्नुयात् पुण्य कर्मणाम् १८।७१

इत्येवं गीतासु सर्वेष्वपि अध्यायेषु कर्मणो निर्देशो वर्त्तते अतो नेदं वक्तुमुचितं यत् पूर्वं षट्कंकर्मप्रधानमिति। वस्तुतस्तु गीतासु कर्मैव बोधितम्। यतः पूर्वं नैष्कर्म्यंसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति इति कथितं पुनः न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति इति। अपि तु न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। इति तथा संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ। तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते इति साधितम्। अन्यच्च कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय इति। क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा। कुरु कर्मैव तस्मास्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्। कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः। इत्येव नास्ति किन्तु मुमुक्षुभिरपि कर्म कृतम् यथोक्तम् एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः। योगोऽपि कर्मकौशलमेव; योगः कर्मसु कौशलमित्युक्तेः। न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः। न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः। इत्युक्तेश्च कर्मैव प्रशस्तम् कलिकाले ज्ञानन्तु तमसा आवृतम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ नवमाध्यायस्य समीक्षा

ज्ञानं विज्ञानसहितम् ९।१ अत्र विज्ञानशब्दस्य अनुभवोऽर्थः इति सर्वेषां टीकाकाराणां सम्मतम्। किन्तु अमरकोषे मोक्षे धीः ज्ञानम्। अन्यत्र मोक्षादन्यत्र शिल्पशास्त्रयोः धीः विज्ञानम्' अथवा मोक्षनिमित्तिका शिल्पशास्त्रयोः धीः ज्ञानमुच्यते। अन्यनिमित्तिका शिल्पशास्त्रयोः धीः विज्ञानमुच्यते। इति।

प्रश्नः—ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ७।२ इत्यत्र यदा सविज्ञानम् अनुभवसहितं ज्ञानम् अशेषतः उक्तमेव। तथा प्रतिज्ञा च कृता।

यज् ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते। इति तदा कतमत् ज्ञानमवशिष्टम् यदत्र, प्रवक्ष्यामि इत्युच्यते।

अन्यच्च अत्र ९।१ यज् ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्। इति ज्ञानमशुभनाशकम् उच्यते, ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ४।१९ इत्यत्र ; ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुनः ४।३७ इत्यत्र च ज्ञानरूपोऽग्निः सर्वकर्मनाशकः उक्तः।

इत्येवं ज्ञानमाहात्म्यमाह गीताकारः ; परं स एव गीताकारः 'भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ८।१० इत्यत्र योगं बलं प्राह। पातञ्जले योगदर्शने च योगो बलमित्युक्तम्। तत्र सिद्धान्तिनः समन्वयन्ते ज्ञानाग्निः सञ्चितक्रियमाणकर्मणोरेव नाशकः न तु प्रारब्धकर्मणोऽपि। तथा च प्रारब्धकर्मणो भोगादेव क्षयः इति सिद्धान्तो न अपितु प्रारब्धकर्मणो भोगादपि क्षयः योगात्तु तस्य क्षयोऽवश्यमेवेति सिद्धान्तः। अतो भोगादेवेत्यत्र एवकारः अप्यर्थकः इति।

प्रत्यक्षावगमम् इति अत्र टीकाकाराः प्रत्यक्षेण सुखादेरिव अवगमो यस्येति शंकराचार्याः। अवगम्यते अनेन इत्यवगमः प्रमाणम्। अवगम्यते प्राप्यते यः स अवगमः फलम्। प्रत्यक्षमवगमो मानमस्मिन्निति स्वरूपतः साक्षिवेद्यत्वम्। प्रत्यक्षः अवगमोऽस्येति फलतः साक्षिवेद्यत्वम् इति बहवः। प्रत्यक्षं प्रमाणं वैदुष्यम् एवं विद्वत्प्रत्यक्षमिति शंकरानन्दः। अक्षेषु प्रति प्रतिस्थितः प्रत्यक्षो भगवान्। कुगतिप्रादयः समासः नाव्ययीभावः।

अथ गीतासु अर्जुनस्य शोकमोहयोः संकेतः

प्रथममर्जुनः धर्मसम्मूढचेताः इति कथयित्वा पुनः न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् । इति कथयामास एवं मोहशोकाभ्यामाविष्टत्वं स्वस्य निर्दिदेश । तत्र भगवान् प्राक् शोकापनोदार्थम् ।

नानुशोचन्ति पण्डिताः २।११ नानुशोचितुमर्हसि २।२६ नैवं शोचितुमर्हसि २।२६, न त्वं शोचितुमर्हसि २।२७ तत्र का परिदेवना २।२८, न त्वं शोचितुमर्हसि २।३० मा शुचः सम्पदः दैवीमाजितोऽसि इत्येवं प्राक् सप्तभिर्वा षड्भिर्वा शोकाकरणत्वार्थं प्रबोधयामास अर्जुनं । पश्चात् मोहापनुत्तये ।

धीरस्तत्र न मुह्यति २।१३ यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति २।५२। यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ५।३५ इत्युवाच भगवान् । ततः परं मोहोऽयं विगतो मम ११।१ इत्यर्जुनो मोहापनुत्तिं निवदेयामास । पुनः मोहापनुत्तिं दृढीकर्त्तुं कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् इति १८।६० तथा कश्चिदज्ञानसम्मोहः प्रणष्टस्ते धनञ्जयः १८।७२ इति पप्रच्छ भगवान् ।

पर्यन्ते अर्जुनो दृढं वदति—नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा ।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।२।५२

भगवान् अर्जुनं प्रबोधयति हे अर्जुन ! यदा ते तव बुद्धिरन्तःकरणं मोहकलिलं मोहमयं गहनं दुर्गं व्यतितरिष्यति अर्थात् मोहाख्यदुर्गान्निःसरिष्यति तदा त्वं श्रोतव्यस्य श्रवणीयस्य अग्रे श्रोतुं योग्यस्य पूर्वं श्रुतस्य च निर्वेदं लाभं गन्तासि प्राप्तासि प्राप्स्यसि इत्यर्थः । अथ ब्राह्मणो पाण्डित्यं निर्विद्य इत्यत्र यथा पाण्डित्यं प्राप्य इत्येवार्थो निर्विद्यपदस्य वर्त्तते तथा प्रकृतेऽपि निर्वेदपदस्य लाभोऽर्थः । इति बोध्यम् उचितमपि एतद् यतः मोहो अज्ञानस्य कार्यम् । तद्रूपं दुर्गमपि अज्ञानस्य तत् । यथा पार्थिवं दुर्गं शत्रोः कार्यं निर्माणम् । तस्य दुर्गस्य जये शत्रोर्नाशः । तदुत्तरं तस्य राज्यसम्पदादेर्लाभं विजयी अनुभवति तथैव अज्ञानकार्यस्य मोहस्य नाशे अज्ञानं कारणमपि नष्टम् । ततश्च पूर्वं श्रुतस्य अधीतस्य दृष्टस्य ज्ञातस्य लाभो ज्ञानलब्धिरर्थात् अथ च श्रोतव्यस्य अग्रे श्रोतुं योग्यस्य द्रष्टव्यस्य अध्येतव्यस्य ज्ञातव्यस्य ज्ञाभो लब्धिरर्थात् ज्ञानमपि भवति ।

तेन निर्वेदो वैराग्यम् तथा च मोहनाशात् श्रोतव्यस्य श्रुतस्य निर्वेदो वैराग्यं निष्फलत्वमिति कोऽर्थः सर्वमतेद् व्याख्यानमाश्चर्यकरमेव प्रज्ञावादात्मकमेव प्रज्ञेज्ञेयम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ गीता में अर्जुन के शोक मोह का संकेत करते हैं।

पहले अर्जुन पूछते हैं कि धर्म का रहस्य क्या है धर्म का तत्त्व क्या है मैं नहीं जानता हूं क्योंकि मेरा चित्त धर्म के विषय में अत्यन्त मूढ़ है। फिर कहते हैं मैं उसको नहीं देख पा रहा हूं जो मेरी इन्द्रियों को शुष्ककर देने वाले शोक को दूर करे। इस तरह अर्जुन अपने को शोक एवं मोह से आविष्ट हुआ वतलाता है।

भगवान्ने पहले इसके शोकको दूर करनेके लिए 'तुमको शोक नहीं करना चाहिए' इस तरह ६ वार या ७ वार कहा। उसके वाद भगवान् ने समझाया कि तुम्हारी वुद्धि इस मोह कलिल (कलिल कहते हैं कीचड़) को पार करेगी तव यह विषय तुम्हारी समझ में आयेगा। जिसको जान लेनेके वाद हे पाण्डव! फिर ऐसा मोह तुमको नहीं होगा इसपर अर्जुन ने कहा कि मेरा मोह चला गया। पुनः मोह रहित होने के बारे में दृढ़ बनाने के लिए भगवान् कहते हैं कि जिसको तुम मोह के कारण नहीं करना चाहते हो उसको तुम अवश होकर करोगे। अच्छा यह वतलाओ कि इतना सुन लेने पर तुम्हारा मोह नष्ट हुआ कि नहीं। इसका उत्तर देता हुआ अर्जुन अन्त में कहता है कि भगवन्! मेरा मोह नष्ट हो गया मैं युद्ध करने के लिए युद्ध स्थल में आया हूं यह मुझे स्मृति हो गई। अब मैं आपके वचन का पूर्ण रूपसे पालन करूंगा।

इस प्रकार गीता में अर्जुन के शोक मोह का निरूपण हो गया।

अथ गीतासु अर्जुनाय भगवतो युद्धदीक्षा

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः। मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय!

इत्येवं युद्धेच्छया समवेतानां विषये प्रश्नेन गीतारम्भः। १ १

प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते १।२०

अत्र निमित्तात्कर्मयोगे इति सूत्रेण प्रवृत्ते इत्यत्र धनुषः कर्मणो योगे निमित्त-सप्तमी। शस्त्रसम्पाते इति विषयसप्तमी। तेन शस्त्रसम्पातविषयिका या प्रवृत्तिः, तन्निमित्तकं धनुःकर्मकमुद्यमनं कृत्वा अर्जुनः इदमाहाऽच्युतम्।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कैर्मया यह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः १।२२। २३।

संजय उवाच— एव मुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।

पार्थ उवाच—पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति।
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् वन्धूनवा स्थितान्।
कृपया परमाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्। १।२८
अहो वत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः १।२५
यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।१।४६
एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।१।४७
कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन! २।२
क्लैव्यं मास्म गमः पार्थ! नैतत्त्वय्युपपद्यते
क्षुद्रं हृदयदौर्वल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप! ।२३

अर्जुन उवाच— कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणञ्च मधुसूदन!
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन!।2।४
न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।२।६
न योत्स्ये इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं वभूव ह।२।९

श्रीभगवानुवाच -- अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।२।११
देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।२।१३
अन्तवन्त इमे देहाः नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारतः ! ।२।१८
देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत !
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।२।३०
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ।२।३१
यदृच्छया चोपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ ! लभन्ते युद्धमीदृशम् ।२।३२
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सग्रामं न करिष्यसि
ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।२।३३
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।२।३३
भयाद्रणादुपरतं मंस्यथन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।२।३५
अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतर नु किम् ।२।३५
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृतनिश्चयः ।२।३६
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ।२।३८
मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।३।३०
तस्मादज्ञान संभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ! ।४।४२
तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च
युद्धफलम्— मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।८।१७
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ।११।३२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्मात्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून् भुंक्ष्व राज्यं समृद्धं
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ! ।११।३३
द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथञ्च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्,
मया हतास्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ।११।३४
अथ चेत्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ।१८।५८
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्ये इति मन्यसे
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ।१८।५९
स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्मणा
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यथवशोऽपि तत् १८।६०
पूर्वं पृष्टस्य धर्मरहस्यतथ्ययोर्विषये
चेतोमोहस्य निराकरणाय स्पष्टं जगादाच्युतः
सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः,
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ।
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो 'मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।१८।६६
कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ ! त्वयैकाग्र्येण चेतसा
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रणष्टस्ते धनञ्जय !
एतदुत्तरम् अर्जुनकृतो युद्धदीक्षास्वीकारः
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत !
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।१८।७३

इति युद्धदीक्षारूपगीतातात्पर्यनिरूपणं समाप्तम् ।

धर्मसंस्थापनाय अवतारं दधतो भगवतः

सर्वधर्मान् परित्यज्येत्युक्तिः आश्चर्यंकरी वा विचारणीया वा प्रज्ञावादात्मिका वेति प्रज्ञैर्ज्ञेयम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्जुनः सम्बोधयति भगवन्तम्—पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः अहम्। अर्थात् धर्मस्य विषये को धर्मः, केन कथं स आचरणीयः। को ह्यधर्मः केन कथं स निवारणीयः इत्यहं नाभिजानामि यतो हि मम चेतः सम्मूढम्। तत्र भगवान् प्रबोधयति

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भ
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।
धर्मं संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।४।७।८

['धर्मसंस्थापनार्थाय' इति पाठोऽसाधुः। अतः धर्मसंस्थापनाय अथवा धर्मसंस्थापनार्थम् इति साधुरतस्तथैव पाठः करणीयः इति प्रासङ्गिकम्]

अतस्ते धर्मविषयकं मोहं समाधास्ये। चिन्तां मा कुरु। परमेतत्कथयामि=सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अत्रार्जुनः प्रागुक्तां धर्माधर्मविषयिकां स्वविप्रतिप्रत्तिं स्मारयन् निहत्य धार्तराष्ट्रान्, पापमेवाश्रयेदस्मान्। यद्यप्येते न पश्यन्ति दोषं पातकञ्च। कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्। कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः। धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत। अहो वत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्। इत्येवं कथयन् पापव्यवसायेन शोकाकुलो वभूव ह।

तत्र भगवान् स्वसामर्थ्यं वोधयन्नुवाच—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः। धर्मसंस्थापनार्थं भवतारं दधतो भगवतो अर्जुनाय धर्मतो विरक्तिप्रवोधनं वा।

धर्मसंरक्षणप्रकथमं-वेति प्राज्ञैर्ज्ञेयम्।

सम्मोहादिति—सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशादिति पाठोऽसङ्गतः। यतः स्मृतिविभ्रम इत्युक्तौ भ्रमो भ्रान्तिर्वा संशयो वा। तेन स्मृतिभ्रमो वार्थः स्यात् स्मृतिसंशयो वार्थः स्यात् न तु स्मृतिभ्रंशोऽर्थः। ततश्च स्मृतिविभ्रम इति पाठकरणे।

विषयाणां ध्यानाद् विषयेषु सङ्गः। सङ्गात् कामः। कामात् क्रोधः। क्रोधात् सम्मोहः। सम्मोहात् स्मृतिभ्रंशः। स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः। बुद्धिनाशात् प्रणाश इत्येवं या कारणमाला अलंकारत्वेन प्रस्तुता सा विहता भवति विभ्रमभ्रंशयोर्भिन्न-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्वात् । सा तु सम्मोहात्स्मृतिभ्रंशनम् । स्मृतिभ्रंशादिति पाठकरण एव स्यात् । अतः स्मृतिविभ्रम इति पाठस्थाने स्मृतिभ्रंशनम् पाठ एव साधीयान् ।

धर्म के स्थापन करने के लिए अवतार लेने वाले भगवान् की सब धर्मों को छोड़ों यह उक्ति आश्चर्यकारी है या विचारणीय है या प्रज्ञावादात्मिका है यह प्रश्नों के समझने की है ।

अर्जुन भगवान् से पूछता है कि धर्म क्या है किसके द्वारा और कैसे यह आचरणीय है । अधर्म क्या है किसके द्वारा और कैसे निवारणीय है इसको मैं नहीं जानता हूं क्योंकि मेरा चित्त मूढ है इसपर भगवान् अर्जुन को समझाते हैं कि जब जब धर्म की हानि और अधर्म का उत्थान होता है तब तब मैं धर्म की स्थापना करने के लिए अवतार लेता हूँ ।

[यहाँ धर्मसंस्थापनार्थाय पद गड़बड़ है अतः या तो धर्मसंस्थापनाय या धर्म संस्थापनार्थम् । कहना चाहिए तभी यह पद साधु होगा । यह प्रासङ्गिक चर्चा है ।]

अतः तुम्हारे धर्मविषयक मोह का समाधान मैं करूंगा । तुम चिन्ता मत करो परन्तु एक बात तुमको कहता हूं कि तुम धर्म के पचड़े में मत पड़ो वल्कि सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ ।

इसपर अर्जुन पहले कही हुई अपनी धर्माधर्मविषयक विप्रतिपत्ति को दुहराता है कि धार्तराष्ट्रों को मारने से पाप ही हमको लगेगा । यद्यपि ये लोग कुल क्षय दोष को और मित्रों के साथ द्रोह करने के पातक को नहीं समझते हैं तथापि हमको तो समझना चाहिए और इस कुल क्षयकारी पाप से हटना चाहिए । क्योंकि कुल के नष्ट हो जाने पर सम्पूर्ण कुल को अधर्म दवा लेगा । अहो हमलोग महान् पापों को करने के लिए उद्यत हो गए हैं इस तरह कहते कहते शोक से व्याकुल हो जाता है ।

तब भगवान् उसको अपने सामर्थ्य को बतलाते हैं कि मैं तुमको सब पापों से छुड़ा दूंगा । तुम कुछ भी फिकर मत करो । इस प्रकार धर्म की स्थापना करने के लिए अवतार लेने वाला महापुरुष की अर्जुन को धर्म से हटने का उपदेश देना कैसा ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहाँ सम्मोह से स्मृति विभ्रम होता है और स्मृति भ्रंश से ऐसा पाठ असङ्गत है। क्योंकि स्मृतिविभ्रमः कहने से विभ्रम का अर्थ है भ्रान्ति या संशय। भ्रंश अर्थ नहीं है। अतः यहाँ जो कारणमाला अलङ्कार प्रस्तुत है वह विभ्रम और भ्रंश के करने से नष्ट हो जाता है। वह तो विषयों का ध्यान करने से विषयों में सङ्ग होता है सङ्ग से काम, काम से क्रोध, क्रोध से सम्मोह, संम्मोह से स्मृतिभ्रंश, स्मृतिभ्रंश से बुद्धिनाश, बुद्धिनाश से प्रणाश इस तरह पूर्व-पूर्व के उत्तर उत्तर के प्रति कारण बनने पर ही बनता है किन्तु स्मृतिविभ्रम और स्मृतिभ्रंश दो भिन्न भिन्न-२ पदार्थ है वह एक दूसरे का कारण नहीं है। अतः कारणमाला की सङ्गति के लिए स्मृतिविभ्रम की जगह में स्मृतिभ्रंशनम् पाठ होना चाहिए।

यह नहीं कहना कि स्मृतिभ्रंशनम् पाठ में भ्रं के संयुक्त होने से संयुक्त का आदि तिपंचम अक्षर दीर्घ हो जाएगा। अतः छन्दो भंग हो जाएगा। क्योंकि यह अष्टाक्षरवाला अनुष्टुप् छन्द है इसके ५१२ भेद होते हैं। उनमें से एक यह भी भेद है। जिसके अनुसार पञ्चम अक्षर दीर्घ होता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ त्रयोदशोऽध्यायः

अथ अब तेरहवें अध्याय का आरम्भ करते हैं ।

भगवान् कहते हैं कि हे कौन्तेय ! इस प्रत्यक्ष में अनुभूयमान शरीर को क्षेत्र कहते हैं । और जो इस क्षेत्र को जानता है उसे जानकार लोग क्षेत्रज्ञ कहते हैं । यहां यह विचारणीय है कि इस तेरहवें अध्याय के लिखने में या कहने में कौन संगति है । जैसे गीता के प्रथम अध्यायके अन्तमें अर्जुन युद्ध स्थलमें—'अहो ! मैं महान् पाप करने को उद्यत हुआ हूं, जो अपने इन सगे सम्बन्धियों को मारूंगा या ये मुझे मारेंगे । ये शस्त्रपाणि दुर्योधनादि यदि मुझ निःशस्त्र को मार दें तो यह मेरे लिए बड़ी कल्याण की बात होगी ऐसा कहकर धनुष और बाण को छोड़ कर युद्धीय रथ के सन्निधान में बैठ गया । इस तरह युद्ध नहीं करने के भाव से अकर्मण्य होकर बैठने में प्रथम अध्याय समाप्त हुआ ।

अर्जुन के इस युद्ध नही करने के भाव को देखकर भगवान् के 'हे अर्जुन ! असमय में यह पाप तुमको कहां से उपस्थित हो गया जो युद्ध करने के समय में अकर्मण्य होकर बैठ गये हो' इस कथन से द्वितीय अध्याय का आरम्भ होता है ।

यह प्रथम अध्याय के समापन का वाक्य द्वितीय अध्याय के आरम्भ का हेतु हो गया । अतः यहाँ हेतुता संगति हुई ।

इसके बाद अर्जुनके—'मैं महान् पाप करने को उद्यत हुआ हूं । क्योंकि मैं अपने इन सगे सम्बन्धियों को मारूंगा; बदले में ये भी मुझे मारेंगे ।' ऐसा कहने पर भगवान् ने समझाया कि आत्मा अजर अमर है शरीर अवश्य विनाशी है और युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म है अतः युद्ध करो पाप नहीं लगेगा । क्योंकि कर्म करने में तुम्हारा अधिकार है किन्तु कर्म बुद्धि से अवर है । इस तरह पहले समझाया ज्ञान, फिर कर्म करने का आदेश दिया अन्त में ज्ञान की श्रेष्ठता के बतलाने में द्वितीय अध्याय की समाप्ति हुई ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस तरह द्वितीय अध्याय में भगवान् ने पहले ज्ञान फिर कर्म अन्त में ज्ञान की जो श्रेष्ठता बतलाई उससे अर्जुन दुविधा में पड़ गया कि किसको श्रेष्ठ माना जाय। उसी दुविधा के भावों को लेकर तृतीय अध्याय का आरम्भ हुआ।

इस प्रस्तुत श्रेष्ठता का चिन्तन करते हुए तृतीय अध्याय का आरम्भ हुआ है अतः यह उपोद्घात संगति यहां हुई।

इस तरह प्रसङ्ग १ उपोद्घात २ हेतुता ३ अवसर ४ निर्वाहक ५ और एक वाक्यता नामक ६ संगतियों में से कोई एक संगति १२ अध्यायों में परस्पर में है। किन्तु १२ वें अध्याय की समाप्ति और १३ वें अध्याय के आरम्भ में कौन संगति है यह स्पष्ट नही होता है।

भगवान् शंकराचार्य ने इन अध्यायों की संगति बैठाने के लिए कहा है कि ७ वें अध्याय में जो अपरा एवं परा प्रकृतियों का निरूपण किया है उसीको लेकर यहां क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ का निरूपण करते हैं इसी को सभी परवर्त्ती टीकाकारों ने भी गड्डलिका प्रवाह से माना है किन्तु वह संगति फिट नही होती है। क्योंकि इन दोनों निरूपणों में अन्तरं महदन्तरम् है। जैसे—भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं, अष्टधा भिन्ना अष्टभेदवती मे प्रकृतिः। इयम् प्रकृतिः अपरा अनुत्कृष्टा। इतः अपरातः अन्यां द्वितीयां पराम् उत्कृष्टां जीवभूतां मे प्रकृतिं विद्धि।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इस प्रकार आठ भेदवाली यह मेरी अपरा अनुत्कृष्टा प्रकृति है। इससे अन्या दूसरी जीवरूपा परा उत्कृष्टा मेरी प्रकृति है।

इस तरह सप्तम अध्याय के "मे प्रकृतिः, मे प्रकृति" शब्दों में मे का अर्थ ईश्वर है। अतः शंकराचार्यजी ने लिखा कि ईश्वर की दो प्रकृतियां हैं। इनमें आठ प्रकार वाली त्रिगुणात्मिका प्रकृति संसार की हेतु है अतः अपरा है और जीव भूता क्षेत्रज्ञलक्षणा दूसरी परा प्रकृति है। यहां तक तो ठीक है किन्तु यह जो लिखा कि क्षेत्रज्ञ नामवाली जीवरूपा प्रकृति ईश्वर है वह कैसे ? जैसे मेरी पुस्तक है के स्थान पर मैं पुस्तक हूं यह कथन अटपटा है। वैसे ही यह भी अटपटा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

है। फिर आप लिखते हैं इन दोनों प्रकृतियों से ईश्वर संसार की उत्पत्ति स्थिति और लय का हेतु है। जब वह ईश्वर खुद प्रकृति बन गया तब प्रकृति स्वरूप ईश्वर की दो प्रकृतियां कहां रही; एक ही प्रकृति रही तथा (तद्वत ईश्वरस्य) प्रकृतिस्वरूप ईश्वर को प्रकृतिमान् लिखना भी ठीक नही है। अतः सब गड़बड़ है। यह तो एक कथा हुई।

दूसरी कथा यह है कि पृथिवी आदि आठ भेदों वाली अपरा प्रकृति तथा जीव नामवाली परा प्रकृति है। इस तरह इन दोनों में ९ ही पदार्थ आते हैं किन्तु क्षेत्र में भूमि आदि पंच महाभूत (सूक्ष्म) रूप आदि पांच विषय (स्थूल) दश इन्द्रियां, मन, वुद्धि, अहंकार, अव्यक्त (प्रकृति त्रिगुणात्मिका) इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, योग्यता और धृति ये ३१ पदार्थ आते हैं। जिससे इन दोनों में २२ पदार्थों का अन्तर हैं। यह दूसरी कथा हुई।

इसके अतिरिक्त तीसरी बात है कि—

मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो, गर्वः, स्मरणं विषया अमी ॥

इस कथन के अनुसार अन्तः करण ४ प्रकार का है उनमें मन, वुद्धि, अहंकार तीन का उल्लेख है चौथे को क्यों छोड़ दिया। इसका कोई कारण नहीं वतलाया है। यह तीसरी कथा हुई।

चौथी वात है कि पंच महाभूतात्मक देह, दश इन्द्रियां, मन वुद्धि अहंकार और चित्त इनकी संहति ही संघात है। यह संघात क्षेत्र हो सकता है शरीर कहला सकता है। क्योंकि यह धर्मी है। किन्तु इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख चेतना एवं धृति ये सब धर्म हैं। अतः क्षेत्र कैसे हो सकते हैं शरीर कैसे कहला सकते हैं। इन चारों कथाओं का क्या उत्तर है ?

जब वुद्धि का निरूपण कर चुके हैं तब फिर चेतना नाम से उस वुद्धि को पुनः निरूपण करने में कौन तुक है सिवाय शब्द भेद के और पुनरुक्ति के कोई फल नही है। अथवा चेतना का अर्थ है विषयों के अनुभव की योग्यता रखने वाले देही के देह एवं इन्द्रियादि की अविकलता। अतः पुनरुक्ति नही है। अथवा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय ! क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।१।।

बालक्रीड़ा

'विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता चेतनाख्या तथाऽपरा' इसके अनुसार भगवान् की अपरा शक्ति चेतना यही है।

यहां मधुसूदन सरस्वतीजी ने अपनी व्याख्या में लिखा है कि अभिधीयते यहां कर्म में प्रत्यय है। इस कर्म में प्रत्यय करने का अभिप्राय है कि क्षेत्र जड़ है अतः क्षेत्र में कर्मता है। और क्षेत्रज्ञ स्वप्रकाश है अतः उसमें कर्मता नही है। उसका आशय है कि शुद्ध स्वप्रकाश चित अवेद्य होता है अतः वह वेदन क्रिया का कर्म नहीं होता है। अतः जहाँ कहीं भी पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् इत्यादि में जो कर्मता है वह औपाधिक होने के कारण है।

यहां अदृश्य का मतलव है अहम् अयम् आदि सम्पूर्ण दृश्यों से भिन्न, अव्यवहार्य का अर्थ है कर्मेन्द्रियों से जिसका व्यवहार नही हो सकता है, अग्राह्य का ज्ञानेन्द्रियों से जो न जाना जाय, अलक्षण का अर्थ है अनुमान से अगम्य, अचिन्त्य माने मनसे भी न समझा जाय, अव्यपदेश्य माने जिसको वाणी से नही कह सकें, एकात्मप्रत्ययसार माने जो चिदेकरस हो और अपने जैसा दूसरा नही हो माने स्वगत भेद से रहित हो, प्रपञ्च का जिसमें उपशम हो अर्थात् विजातीय भेद से शून्य हो, अद्वैत माने जिसमें सजातीय भेद नही हो।१।

प्रश्न—जैसे आपने यह वतलाया कि इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं वैसे यह भी बतलाइयें कि क्षेत्रज्ञ कौन है? उत्तर—हे भारत, हे अर्जुन! शरीरावच्छेदेन यावत् शरीरों को क्षेत्र कहते हैं अतः उन सम्पूर्ण क्षेत्रों में मेरे को तुम क्षेत्रज्ञ समझो। इस क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है वही ज्ञान है ऐसा मेरा मत है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥
ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

बालक्रीड़ा

यह बहुत ही आनन्द की बात है कि भगवान् अर्जुन को बार-बार ज्ञान का उपदेश देते हैं और कहते हैं कि बस, सम्पूर्ण रूप से तुमको मैं ज्ञान का उपदेश देता हूं। इसके बाद कुछ जानना नही है। ऐसा सप्तम अध्याय के आरम्भ में, नवम अध्याय के आरम्भ में, कहा है। प्रकृत तेरहवें अध्याय के आरम्भ में कहते हैं। फिर चतुर्दश अध्याय के आरम्भ में भी कहेंगे इसके पहले भी 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयास्यसि' ऐसा कहा और 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः'—ऐसा कहा। मतलब गीता में बार-२ ज्ञान का उपदेश दिया है। २।

वह क्षेत्र जो है यानी जड़, दृश्य एवं परिछिन्न है, जैसा है, यानी जिन इच्छादि धर्मों वाला है, इन्द्रियों के जिन विकारों से युक्त है, जिस कारण से कार्य होता है वह, जो सत् आनन्द एवं स्वप्रकाश स्वरूप है, जिस प्रभाव से युक्त है अचिन्त्य ऐश्वर्य वाले योग के कारण जिस प्रभाव से सम्पन्न है उस क्षेत्रज्ञ को संक्षेप में मुझसे सुनो। ३।

प्रश्न—क्या किसी ने विस्तार से भी कहा है कि जो आप कहते हैं कि संक्षेप में सुनो ?

उत्तर—हां, हेतुओं के द्वारा निश्चय करके निःसन्देह रूप से भिन्न २ ऋषियों ने वेदों स्मृतियों, ब्रह्मसूत्रों तथा पदों स्वरूपज्ञापकों में बहुत प्रकार से पृथक् पृथक् गान किया है। ४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

बालक्रीड़ा

आकाशादि पँच महाभूत, (सम्पूर्ण विकारों में कार्यों में व्याप्त होने से ये सूक्ष्मभूत महान् हैं) इन पंचमहाभूतों का कारण अहंप्रत्यय लक्षण मैं इत्याकारक ज्ञानस्वरूप अहंकार अभिमान हैं। अहंकार का कारण बुद्धि अध्यवसाय है। बुद्धि का कारण अव्यक्त माने त्रिगुणात्मिका प्रकृति प्रधान जो सवका कारण है किन्तु कार्य किसी का नही है। एव का अर्थ है अवधारण निश्चय। वस इतनी ही प्रकृति है इससे भिन्न नही है। चकार का अर्थ है इन भिन्न २ पदार्थों का एकत्र समुच्चय। यह सांख्यशास्त्रियों की व्याख्या है। वेदान्ती कहते हैं कि प्रधान अशब्द है माने श्रुति ने प्रधान को जगत् का कारण नही कहा है। श्रुति कहती है 'उसने देखा' यह देखना जड प्रकृति में असंभव है वह तो चेतन में ही है अतः प्रधान अशब्द है। इस अशब्दत्व माने श्रुति रूप शब्द से नही कहने के बदौलत अव्यक्त, महदहंकार के कारण के रूप में स्वीकार्य नही है।

इसलिए अव्यक्त माने अव्याकृत अनिर्वचनीय परमेश्वर की माया। जैसा कि कहते हैं 'मम माया दुरत्यया' मायाँ तु प्रकृतिं विद्यात् इत्यादि। सर्ग के आरम्भ में जो (तदैक्षत उसने देखा) सग के वारे में देखना है वही वुद्धि है। फिर देखने के बाद जो वहु स्याम् 'मैं बहुत हो जाऊं" यह बहुत होने का संकल्प है।

वही अहंकार है। इस संकल्प से फिर आकाशादि पञ्च महाभूतों की सृष्टि होती है। श्रोत्रादि पांच इन्द्रियां ज्ञान की जनक होने से ज्ञानेन्द्रियां कहलाती है। वागादि पांच इन्द्रियां कर्म की सम्पादिका है अतः कर्मेन्द्रियां है। एक मन जो संशयात्मक है। क्योंकि वेदान्तियों के यहां संकल्प अहंकार है अहंकार और मन भिन्न २ है। और भी है कि—

मनो बुद्धिरहंकारश्चित्तं करणमान्तरम् ।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे ॥

यह पंचदशी भी मन को संशयात्मक वतलाती है। ५ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ।। ६ ।।

बालक्रीड़ा

सुख एवं सुख के साधन में यह मुझे हो जाय ऐसी जो स्पृहा चाह है जिसे काम और राग भी कहते है वह इच्छा है। दुःख एवं दुःख के साधन में यह मुझे न हो ऐसा जो नहीं चाहना है वह द्वेष है शत्रुता है। यहां द्वेष का पर्याय मधुसूदन सरस्वती ने क्रोध और ईर्ष्या लिखा है वह गडवड़ है। क्रोध कारण है और ईर्ष्या कार्य है। क्रोध तो मित्र एवं पुत्र तथा शिष्य पर भी होता है। द्वेष शत्रु पर ही होता है।

सुख अनुकूल वेदनीय और दुःख प्रतिकूल वेदनीय रूप से प्रसिद्ध पदार्थ हैं। संघात पञ्च महाभूतों का परिणाम सेन्द्रिय शरीर है। इसमें मन बुद्धि अहंकार एवं चित्त तथा प्रयत्न भी आ जाते हैं।

चेतना विषयों के अनुभव की योग्यता रखने वाले देही के देह और इन्द्रियों की अविकला अवस्था है। जिससे अवसन्न हुई देहेन्द्रियादि धारण की जाती हैं वह धृति प्रयत्न है। यह क्षेत्र है। जिसको हमने महदादि विकारों के साथ संक्षेप में कहा है

प्रश्न—शरीरेन्द्रिय संघात ही चेतन क्षेत्रज्ञ है ऐसा लोकायतिक कहते हैं। चेतना क्षणिक ज्ञान है ऐसा सुगत बौद्ध कहते हैं। सुख-दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न ज्ञान ये अहंप्रत्यय के विषय आत्मा के चिन्ह है ऐसा नैयायिक कहते हैं तब यह सब क्षेत्र हैं ऐसा कैसे कहते हैं।

उत्तर—जन्मादि नाशान्त परिणाम को निरुक्तकार ने विकार कहा है। इन में महाभूतादि धृति पर्यन्त पदार्थ विकारों के सहित हैं सविकार हैं। अतः ये विकारसाक्षी नही हैं अपने उत्पत्ति विनाश को अपने नही देख सकते हैं क्योंकि वही दर्शन का कर्त्ता और वही दर्शन का कर्म हो यह बनता नही है। इससे सिद्ध है कि विकारी ही क्षेत्र है ऐसा बतलाने के लिए ही यह निरूपण किया है यद

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

बालक्रीड़ा

परिगणन नही किया है । अर्थात् जो ज्ञेय है वह क्षेत्र है अतः उपर्युक्त पदार्थ सब ज्ञेय होने से क्षेत्र हैं । ६ ।

अब क्षेत्रज्ञ क्षेत्र से विविक्त अलग है इस तथ्य का विस्तार से प्रतिपादन करने के लिए उस क्षेत्रज्ञ को समझने के साधन अमानित्वादिकों को कार्य कारण में अभेद मानने की दृष्टि से ज्ञान के साधनों को ज्ञान शब्द से कहते हैं । गुण रहें चाहे नही रहे तब भी उन गुणों से अपने आप की प्रशंसा करना मानित्व बड़प्पन है ।

कुछ मिल जाय या दुनिया में प्रसिद्धि हो जायें या लोग मेरी पूजा करें इसके लिए अपने धर्मों को लोक के समक्ष कहना प्रकट करना दम्भ है । शरीर से वाणी से या मन से प्राणियों की पीड़ा करना हिंसा है । इनमें मान को त्यागना अमानित्व है दम्भ को छोड़ना अदम्भित्व है और हिंसा का वर्जन करना अहिंसा है । चित्त के विकार के कारण अपराधों के रहने पर निर्विकार होकर उन अपराधों को सहना क्षमा है । आर्जव सरलता माने स्वच्छ हृदय से व्यवहार करना जिससे दूसरे की वंचना नही होने पावे । प्रकृत में आचार्य का अर्थ है मोक्ष के साधनों का उपदेष्टा । उसकी सेवा आचार्योपासन है । शौच शुद्धि दो प्रकार की है । मृत्तिका और जल से कायमलों का साफ करना वाह्य शुद्धि है । तथा राग एवं द्वेषादि मन के मलों का विषयों में दोष देखना रूप शत्रुत्व की भावना से दूर करना आन्तर शुद्धि है । स्थैर्य माने स्थिरता विघ्न बाधाओं के रहने पर भी मोक्ष मार्ग में लगे रहना पुनः पुनः अधिक प्रयत्न करना । आत्मा के उपकारक होने से देहेन्द्रियादि संघात को यहां आत्मा कहा है । स्वभावतः इधर उधर प्रवृत्त होने वाले उस आत्मा को मोक्ष के प्रतिकूल सभी मार्गों से रोक कर सन्मार्ग में स्थापन करना आत्म विनिग्रह है । ७ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

बालक्रीड़ा

इन्द्रियों के द्वारा समझे जाने योग्य रूप स्वाद्य रसादि एवं श्रुति प्रतिपादित अर्थों में राग का इच्छा का नही करना एवं स्वतः स्वभावतः नही होना वैराग्य है। आत्मश्लाघा का भाव नही होने पर भी मन में जो जाति, वर्ण, आश्रम, आचार, विद्या, कुल, शील एवं व्यवहार में अपने को सबसे उत्कृष्ट समझना है वह गर्व ही अहंकार है उसका नही होना अनहंकार। जन्म गर्भवास और योनि से निःसरण ही दोष है। मृत्यु में सम्पूर्णमर्मो का छेदन ही दोष हैं। जरा में प्रज्ञा का शारीरिक शक्ति का तेजका निरोध एवं स्वजन परजन रूपी दुर्जनों से किया जाना पराभव ही दोष है। व्याधियों में शारीरिक रोगों में शारीरिक और आधियों में मानसिक क्लेश ही दोष है। अध्यात्म अधिभूत एवं अधिदेव निमित्तक दुःखों में इष्ट वियोग तथा अनिष्ट संयोग दोष है। इस तरह जन्मादि दुःखान्त वस्तुओं मे प्रत्येक में दोष का अनुदर्शन पुनः पुनः आलोचन करना। अथवा दुःख रूपी दोष का जन्मादि में देखना। क्योंकि जन्मादि दुःख के कारण है इस लिए दुःख हैं और दुःख स्वरूपतः दुःख हैं इस प्रकार दोषों के आलोचन करने से देहेन्द्रियादि विषयों के भोगों में वैराग्य हो जाता है जो मोक्ष का मुख्य सहायक है। ये सब ज्ञान के हेतु हैं अतः इनको भी ज्ञान कहा है। ८।

पुत्र स्त्री गृह एवं धन दौलत वगैरहमें ये मेरे हैं ऐसा केवल प्रेम सक्ति, उसका नही होना असक्ति।

अनभिष्वंग अभिष्वङ्ग मैं ही यह हूं या यह ही मैं हूं इसके दुःखी होने पर अपने को दुःखी समझना इसके सुखी होने पर अपने को सुखी समझना ऐसा जो अनन्यत्व की भावना से अतिशय प्रेम उसका नही होना। इष्ट की एवं अनिष्टकी उपपत्ति माने सम्प्राप्ति में सदा एकचित्त होना यानी इष्ट सम्प्राप्ति में हर्ष और अनिष्ट प्राप्ति में दुःख का नही होना। ९।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

बालक्रीड़ा

मुझ भगवान् वासुदेव परमात्मा में अनन्ययोग से, माने वासुदेव भगवान् से अन्य दूसरा कोई शरण रक्षक नही है 'मेरो तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई रे' अतः वही मेरा गति है ऐसे निश्चय के हो जाने से अव्यभिचारिणी माने किसी भी प्रतिकूल हेतु से हटाई नही जा सकने वाली भक्ति सर्वोत्कृष्टत्व ज्ञान पूर्वक प्रीति। विविक्त माने स्वभाव से एवं संस्कार से शुद्ध या एकान्त देशों गंगातीरादि स्थलों के सेवन में शील स्वभाव जनसंसद में लोकसभा में अर्थात् आत्मज्ञान से विमुख विषयभोग एवं लम्पटता का उपदेश देने वाले लोगों के समूह में अरति रुचिका नहीं होना। सङ्ग को सर्वथा हेय त्याज्य समझना चाहिए यदि उसका त्याग नहीं कर सकते हैं तो साधुओं का सङ्ग करना चाहिये क्योंकि सज्जनोंकी संगति औषध है ।१०।

आत्मादि विषय का जो ज्ञान है वह अध्यात्म ज्ञान है उसमें नित्य निरत रहना यानी उसमें निष्ठावान् होना। ज्ञान के साधनों अमानित्वादि की भावना के परिपाक के कारण तत्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म, सोऽहमस्मि इत्यादि वेदान्तवाक्यों से होने वाले तत्वज्ञान का अर्थ प्रयोजन अविद्या एवं उसके कार्य निखिल दुःखों की निवृत्ति एवं परमानन्दावाप्ति मोक्ष है उसका दर्शन आलोचन करना ज्ञान है। तत्त्वज्ञान के फल के आलोचन करने पर ही उसके साधनों में प्रवृत्ति हो सकती है इसलिए अमानित्वादि तत्त्वज्ञानार्थदर्शन पर्यन्त बीस पदार्थों को ज्ञान के साधन होने से ज्ञान कहा है। और इनसे जो अन्य हैं मान, दम्भ, हिंसा, असहनशीलता, कुटिलता, देव द्विज गुरु प्राज्ञ की आज्ञा का पालन नहीं करना, अपवित्रता, चञ्चलता, अपने आप को वश में नही रखना, रूप रस आदि इन्द्रियों के विषयों में राग करना, मैं विद्या कुल जाति एवं आश्रम में सबसे बड़ा हूं ऐसा घमण्ड करना, इत्यादि सब अज्ञान है ।११।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार ज्ञान एवं ज्ञान के साधनों को बतलाकर अब इन ज्ञान के साधनों से किसका ज्ञान करना है इस आकांक्षा की पूर्ति के लिए उस ज्ञेय को बतलाते हैं। जो ज्ञेय है उसको प्रवक्ष्यामि प्रकर्ष के साथ कहूंगा।

प्रश्न—आपने जिनको ज्ञान बतलाया है तथा जिनको क्षेत्र कहा है वे सब दशम अध्याय के ४थे, ५वें श्लोक में बतलाये हुए भावों से और १६वें अध्याय के १ म २ य ३ य एवं ४र्थ श्लोक में कहे जाने वाले (दैवी सम्पत्ति के आश्रय से उत्पन्न व्यक्तिके) गुण या धर्म या लक्षण से अतिरिक्त कुछ नहीं है अतः यह स्पष्ट नहीं हो रहा है कि इनको क्षेत्र कहें अथवा ज्ञान कहें।

उत्तर—ये सब कुछ है जैसा प्रसङ्ग हो वैसा समझें।

जैसे—ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्ध्यानं सत्यमकल्कता (अकल्कता अपरिग्रहः)।

अहिंसाऽस्तेयमाधुर्यं दमश्चैते यमा दश।

ये दश आचरणीय यम है और तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम् सिद्धान्तश्रवणञ्चैव ह्रीर्मतिश्च जपो हुतम्। ये दश आचरणीय नियम है योग नहीं है। वैसे ही अमानित्वादि तत्वज्ञानार्थदर्शनपर्यन्त बीस आचरणीय सिद्धान्त है ज्ञान नहीं है। क्योंकि ज्ञान वह होता है जो वस्तु का परिच्छेदक होता है ज्ञापक होता है। ये अमानित्वादि पदार्थ किसी के परिच्छेदक नहीं है जब परिच्छेदक नहीं है तब ज्ञान भी नहीं है। क्योंकि ज्ञानत्व और परिच्छेदकत्व ये दोनों एक दूसरे के ऊपर निर्भर हैं।

क्योंकि ज्ञान विषयमुख प्रेक्षी है अतः सभी जगह देखा गया है कि जिस विषय का ज्ञान होगा उसी विषय को वह ज्ञान परिच्छन्न करेगा दूसरों से भिन्न बतलायेगा। यह नहीं है कि अन्य विषयक ज्ञान से अन्य की प्रतीति होजाय। जैसे घट विषयक ज्ञान से अग्नि की प्रतीति।

उत्तर—नही नही। ये अमानित्वादि ज्ञान नही हैं किन्तु ज्ञान के निमित्त हैं। जैसे अन्तःकरण की वृत्ति ज्ञान नही है ज्ञान की साधन है अतः कार्य कारण में अभेद मान कर वृत्ति में ज्ञानत्व का उपचार करके वृत्ति को भी ज्ञान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

बालक्रीड़ा

कह देते हैं वैसे ही ज्ञान के सहकारी होने से इन को लक्षणा से ज्ञान कह दिया है।

अव ज्ञेय को कहने का फल बतलाते हैं कि जिस ज्ञेय के जान लेने से पुरुष अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् वह पुरुष मरता नहीं है।

प्रश्न—वह क्या है। उ० वह पर माने निर्विशेष निरतिशय ब्रह्म है। अतएव जो आदिमान् नहीं है। कोई प्रश्न करते हैं कि जिसका कोई आदि नहीं है कारण नहीं है वह अनादि है इस बहुव्रीहि से ही अर्थ की प्रतीति हो जाती है तव मतुप् प्रत्यय करने की क्या आवश्यकता है। उत्तर— 'न कर्म धारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः' यह नियम अनित्य है। अतः जो बात बहुव्रीहि बतलाता है उसी को यदि मतुप् बतलावे तव यहां पुनरुक्ति दोष है यह नही ठीक है।

प्रश्न—ब्रह्म पर है निर्विशेप है कोई विशेपता इसमें नही है यह आप कैसे जानते है। उत्तर—क्योंकि न उसको सत् शब्द में कह सकते है और न असत् शब्द से कह सकते हैं जो विधि मुखसे प्रमाण का विषय होता है उसे सत् शब्द से कह सकते हैं और जो निषेध मुख से प्रमाण का विषय होता है उसे असत् शब्द से कह सकते हैं किन्तु यह दोनों विलक्षण है। इसलिए ब्रह्म न सत् है भावरूप है और न असत् है अभाव रूप है अतएव मुख्य वृत्ति के द्वारा किसी शब्द से नही कहा जा सकता है।

प्रश्न—तव क्या आपने घटाटोप से कहा कि जो ज्ञेय है उसको बड़े प्रकर्ष से कहूंगा। उत्तर—हां ठीक है। हमने कहा है किन्तु किसी प्रकार लक्षणा वृत्ति के सहारे किसी शब्द से कहा जा सकता है। १२।

जो निर्विशेष है उसको किस शब्द से कहा जाय। यदि सच्छब्द से कहा जाय तो सत्ता भी एक विशेष पदार्थ है। अतः सच्छब्द से नही कह सकते हैं। यदि सत् शब्द से नही कह सकते हैं तो वह असत् हो जायगा। इस पर कहा कि वह असत् भी नही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।। १३ ।।

बालक्रीड़ा

इस आशंका का विस्तार से निराकरण करने के लिए सम्पूर्ण प्राणियों की करण माने कर्मेन्द्रिय एवं ज्ञानेन्द्रिय रूप उपाधियों के द्वारा चेतन क्षेत्रज्ञ रूप से उसके अस्तित्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि सभी प्राणियों की देहों की वाक् पाणि पाद पायु एवं उपस्थ रूप कर्मेन्द्रियों का तथा अक्षि शिर (त्वचा) मुख (जिह्वा) श्रवण एवं कर्ण रूप ज्ञानेन्द्रियों का जो प्रवर्तक है और लोक में सबको आवृत (व्याप्त) करके जो ठहरा हुआ है।

वह चेतन क्षेत्रज्ञ ब्रह्म है। क्योंकि अचेतन स्वतः प्रवृत्ति नही कर सकता है किन्तु प्रवृत्ति होती है ग्रतः सिद्ध है कि कोई चेतन है । वही चेतन क्षेत्रज्ञ है। १३।

निष्प्रपञ्च प्रपञ्चशून्य ब्रह्म का अध्यारोप एवं अपवाद के द्वारा प्रपञ्चन किया करते हैं इस लिए पाणिपादादि प्रपञ्च का अध्यारोप करके ब्रह्म का प्रपञ्चन किया। किन्तु इस ग्रध्यारोप से कोई यह नही समझ ले कि वह ब्रह्म उपाधियों से विशिष्ट है अतः कहते हैं कि वस्तुतः वह सम्पूर्ण इन्द्रियों से रहित है किन्तु माया से मालूम पड़ता है कि उसमें सम्पूर्ण इन्द्रियों के गुण संकल्प अध्यवसाय श्रवण वचनादि व्यापार हैं। श्रुति भी कहती है कि मानो वह ध्यान करता है ललायन चलन करता है। यहां ध्यान ज्ञानेन्द्रियों के ग्रौर लेलायन कर्मेन्द्रियों के व्यापारों का उपलक्षण है अत एव असक्त है माने सभी सम्बन्धों से शून्य है। किन्तु माया से सबको धारण करता है सब का पोषण करता है।

प्रश्न - यह कैसे हो सकता है कि किसी से सम्बन्ध भी नही करे और सर्वभृत् भी हो।

उत्तर—विना अधिष्ठान के विना आधार के भ्रम नही हो सकता है। वस्तुतः निर्गुण है तब भी गुणों का भोक्ता है। फलतः गुणों का भोक्ता ज्ञेय है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

बालक्रीड़ा

यहां प्रश्न होता है कि जो निर्गुण है वह गुण भोक्ता कैसे हो सकता है। उत्तर—सत्व रज एवं तम जो गुण है इन से रहित है। अथवा सत्त्वादि गुणों के कार्य शब्द स्पर्श रूप रस आदि है जिन को तार्किकों ने गुण माना है उनसे रहित है अत एव श्रुति भी इसको पुष्ट करती है कि अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्। अथवा धर्मी स्वरूप जो गुण है ज्ञान आनन्द आदि (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते) उन से भिन्न गुणों से रहित है। प्रश्न—जहाँ गुण गुणी भाव होता है वहां आधार आधेय भाव होता है। गुण आधेय है वह किसी में रहता है। गुणी आधार है जिसमें गुण रहता है।

उत्तर—जैसे घटाभाव में घट का अभाव रहता है प्रमेयत्त्व में प्रमेय रहता है वैसे ही यहाँ भी समझो। १४।

ज्ञेय ब्रह्म के अस्तित्व को फिर से समझाते हैं कि जो प्राणियों में बाहर भीतर सभी जगह व्याप्त है जो चर एवं अचर रूप है। किन्तु सूक्ष्म है अतः जाना नही जा सकता है। क्योंकि दूर भी वही है नजदीक भी वही है। १५।

वह सम्पूर्ण भूतों में अविभक्त है अलग २ नही है एक ही है अर्थात् यह नही समझना कि वह इस देह में दूसरा क्षेत्रज्ञ है और उस देह में दूसरा है तब भी विभक्त जैसा मालूम पड़ता है। उसे भूतों का भर्ता स्थिति काल में भरण पोषण करने वाला प्रलय काल में संहार करने वाला और उत्पत्ति काल में उत्पादन करने वाला समझो। १६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।

बालक्रीड़ा

सब जगहों में रहता हुआ भी जो प्रतीत नही होता है इसका कारण क्या है क्या वह जड़ है। इस पर कहते हैं नही। रूपादि से रहित होने से इन्द्रियों से ग्राह्य नही है किन्तु है वह ज्योतियों का भी ज्योति अर्थात् बाह्य प्रकाशक चन्द्र आदित्य अग्नि आदि का और अन्तः प्रकाशक बुद्धयादि का भी प्रकाशक है। क्योंकि श्रुति कहती है कि जिस तेज से समृद्ध हुआ सूर्य तपता है। उस तेज से यह सब कुछ मालूम पड़ता है न वहां सूर्य चमकता है न चन्द्रमा और न तारे न बिजलियां। जब ये भी उसके सामने प्रकाशहीन है तब अग्नि कैसे प्रकाशक हो सकता है। जब वह चमकता है तभी सब प्रकाशन शील होते हैं उसी के तेज से यह जड़ चेतन स्थावर जंगम चर अचर जगत् प्रकाशित होता है। इसीलिए वह तम से अज्ञान से परे हैं अर्थात् उससे इसका कुछ भी संसर्ग नही है। श्रुति कहती है आदित्य को भी वर्णं तेज देने वाला वह तम से परे है। इस प्रकार जब वह स्वयं ज्योति हैं और जड़ों से असंस्पृष्ट हैं अतएव तब वह ज्ञान है याने प्रमाण जन्य चेतोवृत्ति में अभिव्यक्त संविद्रूप है। इसीलिए वह ज्ञेय है क्योंकि ज्ञात नहीं है अतः जानने के योग्य है। जड तो ज्ञात है ही अतः जानने के योग्य नहीं है। जब वह जानने के योग्य है तब सब लोग उसको क्यों नही जान लेते हैं इस पर कहते है वह ज्ञानगम्य है यानी अमानित्व आदि ज्ञान के साधनों से वह जाना जाता है। उनके बिना नही जाना जा सकता है। यदि वह साधनों से गम्य है तब क्या वह दूर देश में है व्यवहित है। इस पर कहते है कि नही। सामान्यभाव से वह सब जगहो में है तब भी वह विशेषरूप से अन्तर्यामी होकर जीवों के हृदयों में अधिष्ठित है। १७।

वशिष्ठादिने जिसको विस्तार से कहा उसको मैंने इस प्रकार तुम्हारे लिए संक्षेप से क्षेत्र तथा ज्ञान के साधन एवं ज्ञेय को कहा। जो मेरा भक्त इसको जान लेगा वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवाम् ॥१९॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥

बालक्रीड़ा

मेरे भाव को मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेगा। १८।

पहले आपने कहा यह शरीर क्षेत्र है और फिर कहा कि वह क्षेत्र जो है और जैसा है। इसमें जो है और जैसा है को यहां तक १८ तक समझाया। अब 'यद् विकारि यतश्च यत्' जिन विकारों से वह युक्त है और जिस कारण से जो कार्य होता है इसको १९ एवं २० वें श्लोकों से समझाते हैं कि प्रकृति और पुरुष को अनादि समझो माने इनका कोई कारण नही है। क्योंकि प्रकृति सर्व जगत् की कारण है यदि उसका भी कोई कारण होगा तो अनवस्था हो जायगी यानी यह उसका कारण है तो उसका कारण कौन उसका कारण कौन ऐसी अनवस्था हो जायगी। अर्थात् कारण की व्यवस्था नही हो पायेगी।

एक बात और भी है कि ईश्वर अनादि है यह भी तभी बनेगा जब ईशितव्य भी अनादि रहेगा। क्योंकि ईश्वरत्व ईशितव्य पर निर्भर है। यदि ईशितव्य नही रहेगा तो ईश्वर का ईश्वरत्व ही खतम हो जायगा क्योंकि ईशन के शासन के बदौलत ही एक ईश्वर है दूसरा ईशितव्य है अन्यथा दोनो नही हैं ऐसी हालत में ईशितव्य संसार का कोई निमित्त नही रहेगा। इसलिए ईश्वर एवं ईशितव्य दोनो को अनादि मान लेते हैं तब सब ठीक हो जाता है।

महदहंकारादि षोडश विकार और गुणों को तथा गुणों के कार्य सुखादि को प्रकृति से पैदा हुए समझो। १९।

कार्यों के और कारणों के उत्पादन में हेतु प्रकृति है। और सुख एवं दुखों के भोग का हेतु पुरुष है। २०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान् ।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥२२॥

बालक्रीड़ा

स च यः इसमें कहा हुआ जो क्षेत्रज्ञ है उसको बतलाते हैं। पुरुष जब प्रकृतिस्थ होता है, माने प्रकृति के साथ तादात्म्याभिमान करता है तत्त प्रकृति से उत्पन्न होने वाले गुणों को भोगता है। इस पुरुष का जो गुणों के साथ भोक्तृत्व सम्बन्ध है यही इसके सत् असत् और सदसदुभयविध योनियों में पैदा होने का कारण है। क्योंकि श्रुति कहती है (स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत् क्रतुर्भवति तत् कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते) कि वह जैसी कामना करता है वैसा कर्त्ता बन जाता है, जब कर्त्ता बन जाता है तब कर्म करता है जब कर्म करता है तब कर्म करने वाला कर्म के अनुसार अच्छी, बुरी या मिश्रित योनि में जन्म लेता है। २१।

अब यत्प्रभावश्च से कहे हुए प्रभाव को बतलाते हैं कि पुरुष में जो भोक्तृत्व संसारित्व बतलाया है वह प्रकृति के साथ मिथ्या तादात्म्य करने से होता है न कि स्वरूप से होता है। इस पर पूछते हैं कि तब पुरुष का स्वरूप क्या है। उत्तर – इस प्रकृतिके परिणामभूत देह में स्थित हुआ यह पुरुष परमार्थतः त्रिगुणमयी माया से परे है सर्वथा अतीत ही है। किन्तु केवल साक्षी होने से उपद्रष्टा, यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता, सबका पोषण करने वाला होने से भर्त्ता, जीवरूप से भोक्ता, सबका स्वामी होने से महेश्वर और सच्चिदानन्दघन होने से परमेश्वर हैं ऐसा कहा है। २२।

इस तरह यत्प्रभावश्च की व्याख्या कर के अब यज् ज्ञात्वामृतमश्नुते की व्याख्या करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह :
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भयोऽभिजायते ॥२३॥

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥

बालक्रीड़ा

जो साधक पुरुष को एवं गुणों के सहित प्रकृति को पूर्वोक्त कथित प्रकार से जानता है वह सर्वथा रहता हुआ भी फलों के उपभोग से अपने कर्मों के विनष्ट होने पर फिर नही पैदा होता है । २३ ।

अब आत्मदर्शन के उपयोगी साधनों के विकल्पों को कहते हैं । चार प्रकार के साधक होते हैं एक उत्तमोत्तम, एक उत्तम, एक मध्यम और एक मन्द अथवा उत्तम मध्यम अधम एव अधमाधम । उनमें पहला । कोई साधक उस परम पुरुष परमात्मा को ध्यान से संस्कृत अन्तःकरण में ध्यान से शुद्ध हुई बुद्धि से जानते हैं । उनमें दूसरा । अन्य साधक सांख्य योग के द्वारा देखते हैं । उनमें तीसरा । अपर साधक निष्काम कर्मयोग के द्वारा देखते हैं । २४ ।

उनमें चौथा । अन्य लोग तो इन बतलाये हुए उपायो को नही जानते हुए भी दूसरों से सुनकर उपासना करते है वे भी श्रवण मनन करते हुए मृत्यु का अतितरण करपाते हैं । २५ ।

अब अविद्या से संसार और विद्या से मोक्ष होता है । इसके निश्चय करने के लिए संसार एवं संसार के निवर्तक ज्ञान को कहते हैं अध्याय समाप्ति पर्यन्त । जो भी कुछ स्थावर जंगम वस्तु पैदा होती है । उसे तुम हे भरतर्षभ ! क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से पैदा हुई समझो । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग क्या पदार्थ है इसका विचार करते हैं । यह नही कह सकते हैं कि जैसे घट का रज्जु के साथ जो अवयव संश्लेष द्वारा सम्बन्ध विशेष है वह संयोग है क्योंकि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आकाश की तरह निरवयव यानी अवयवों से शून्य क्षेत्रज्ञ का क्षेत्र के साथ ऐसा संयोग नही हो सकता है। यदि कहें कि तन्तु एवं पट में जैसे समवाय सम्बन्ध है वैसे ही क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में संयोग है। वह भी ठीक नही क्योंकि जिस तरह तन्तु पट का कारण है और पट उसका कार्य है अतः इनमें कार्य कारण भाव रूप सम्बन्ध समवाय है उस तरह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में कार्य कारण भाव नही है। अतः यह संयोग समवाय रूप भी नही है। इस पर कहते हैं कि सुनो। क्षेत्र विषय है और क्षेत्रज्ञ विषयी है और ये दोनों विरुद्ध स्वभाव वाले हैं अतः इन में जो एक दूसरे के धर्म का अध्यास है जिससे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के स्वरूप का विवेक नही हो पाता है वह संयोग प्रकृत में है। यह अध्यास रूप संयोग मिथ्या ज्ञान है जैसे रज्जु में सर्प का शुक्ति में चांदी का अध्यारोपित संयोग है। अतः इसको हटाना चाहिए।

प्रश्न—यह मिथ्या ज्ञान स्वरूप संयोग हटे कैसे। उत्तर—शास्त्रों के द्वारा विवेक ज्ञान को प्राप्त करके मुञ्ज से जैसे ईषीका को पृथक् करते हैं उसी तरह क्षेत्र से क्षेत्रज्ञ को पृथक् करे उसके बाद जो न सत् है और न असत् है इस कथन से समस्त उपाधियों से रहित निर्विशेष ज्ञेय ब्रह्म को स्वरूप से समझता है और माया से बनाये हुए हाथी की तरह या स्वप्न में दृष्ट गन्धर्व नगरादि वस्तु की तरह असत् ही है किन्तु सत् ही मालूम पड़ता है इस तरह जो क्षेत्र को समझता है उसका वह मिथ्या ज्ञान रूप संयोग हट जाता है।

यह मिथ्या ज्ञान ही जन्म का कारण होता है और जब यह कारण हट गया तब पुनर्जन्म रूप कार्य का होना असंभव है जिससे 'य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह। न स विद्वान् भूयोऽभिजायते' यह कथन उपपन्न हो गया। किन्तु भागवत के षष्ठ स्कन्ध में कहे हुए नारायण वर्म में लिखा है कि—

यथा हि भगवानेव वस्तुतः सदसच्च यत्

सत्येनानेन नः सर्वे यान्तु नाशमुपद्रवाः।

सत् और असत् जो कुछ भी है वह भगवान् ही है। और भी भागवत के अष्टमस्कन्ध में प्रोक्त गजेन्द्र मोक्ष में लिखा है कि—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ! ॥ २६ ॥

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्त यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

बालक्रीड़ा

असत्या छाययोक्ताय सदाभासाय ते नमः ।

असत् रूप से कहे गये और सत् रूप से प्रतीत होने वाले हे भगवन् आपको नमस्कार है इस तरह जब सत् और असत् भगवान् को कहा है तब भगवान् ब्रह्म सर्वोपाधिरहित निर्विशेष कैसा । जरा विचारणीय है भागवत तो महाप्रमाणिक ग्रन्थ है । अस्तु । २६ ।

संसार का कारण अविवेक है ऐसा बतलाया अब उसकी निवृत्ति के लिए विवेक के अनुकूल सम्यग्दर्शन को बतलाते हैं ।

परस्पर में अत्यन्त विलक्षण रूप से पैदा होने वाले ब्रह्मादि स्थावरान्त सम्पूर्ण प्राणियों में समान भाव से जो रहता है वह परमेश्वर है । सभी पदार्थ प्रतिक्षण परिणामी हैं बिना परिणाम के क्षण भर भी नही रह सकते हैं अतः माया निर्मित गन्धर्वनगरादि की तरह स्वभावतः नष्ट होने वालों में जो नष्ट नही होता है वह परमेश्वर है ऐसा जो देखता है वही सम्यक् देखता है अन्य नही अर्थात् उसका ही देखना देखना है । २७ ।

जो ऐसा देखता है वही देखता है ऐसा क्यों ! आशंका । उत्तर क्योंकि सर्वत्र ब्रह्मादि स्थावरान्त यावद्भूतों में समान भाव से अवस्थित परमेश्वर को जो देखता है । अर्थात् जीव मात्र को जो ब्रह्म भाव से देखता है वह अपने आपको अपने से नष्ट नही करता है यानी वह आत्महन्ता नही है अत एव वह परा उत्तम गति मुक्ति को प्राप्त कर लेता है । २८ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
य: पश्यन्ति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।। २९ ।।
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यन्ति ।

बालक्रीड़ा

पहले आपने कहा है कि जीव अपनी प्रकृति में रहकर प्राकृत गुणों को भोगता है यह गुणों का भोगना ही उसके लिए सत् देवादि योनियों में, असत् पश्वादि योनियों में, सत् और असत् धर्माधर्म के मिश्रण होने से ब्राह्मणादि मनुष्य योनियों में पैदा होने का कारण है इस तरह जब विभिन्न योनियों में पैदा होने से उसमें वैषम्य दिखाई पड़ता है तब कैसे आत्माको समभाव से स्थित कहा जाय । आशंका ।

अथवा अच्छे या बुरे कर्मों के करने वाले और उनके अच्छे या बुरे फलों को भोगने वाले जीवों की विभिन्नता से वैषम्य स्पष्ट दिखाई पड़ता है तब उनको सर्वत्र सम कैसे देखें। आशंका। उत्तर—प्रकृतिः कर्त्री पुरुषस्तु निर्लेपः अकर्त्ता इस सांख्य सिद्धान्त के अनुसार जो यह समझता है कि सर्वथा प्रकृति ही कर्मों को करती है आत्मा तो अकर्त्ता है वही वस्तुतः समझता है अन्य नही । २९ ।

आशंका के दो अंशो में से शुभकृत् शुभमाप्नोति पापकृत् पापमश्नुते इसके अनुसार अच्छे कर्मों को करने वाला अच्छा और बुरे कर्मों को करने वाला बुरा होता है इस एक अंश के उत्तर देने में वह पुरुष कर्म नही करता है प्रकृति करती है अतः वह अकर्ता है। अतएव जब वह कर्म ही नही करता है तब फल भी नही भोगता है। इस तरह विभिन्न कर्मों एवं उनके विभिन्न फलों का कर्त्ता भोक्ता नही होने से जीवों की विभिन्नता का अभाव बतला कर दूसरे अंश का भी उत्तर दे दिया ।

किन्तु जो रात दिन मार काट, लड़ाई झगड़ा उथल पुथल देखता है वह कैसे यह समझ ले कि कोई कुछ नही करता है इस पर कहते हैं कि अच्छा। तुम जैसा कहते हो कि सब भूत पृथक् पृथक् हैं वही सही। किन्तु इतना तो अवश्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

बालक्रीड़ा

समझो कि इन सबके मूल में कोई एक है। जैसे बहुत से बेटे हैं उनका एक पिता है। वे बहुत से उसी एक के अंश है उसी तरह सम्पूर्ण पृथक् पृथक् भूतों को जो एक में देखता है और जब यह समझता भी है कि एक लाख पूत सवा लाख नाती के रूप में जैसे वंश का विस्तार है उसी तरह यह संसार का विस्तार भी उसी एक से है तब वह ब्रह्म सम्पन्न हो जाता है। ३०।

यह परमात्मा अनादि होने से अव्यय है। इसका आशय है कि आदि कारण जिसका होता है वह आदिमान् है माने कार्य है जन्य है। जो जन्य होता है सावयव हैं वह कृतक होने से विकारी है अनित्य है विनाश स्वभाव है यह तो अनादि है जन्य नही है निरवयव है अविकारी है नित्य हैं अतः अव्यय है।

यह परमात्मा निर्गुण है अतः अव्यय है ये गुण सांख्यमत में सत्वादि हैं तर्कमत में रूपादि है उनसे रहित है। यहां जरा विचार है कि बुद्धि सुखादि षट्क, संख्यादि पञ्चक भावना एवं धर्म और अधर्म ये १८ गुण आत्मा में रहते हैं। संख्यादि पांच बुद्धि इच्छा एवं यत्न ये आठ परमेश्वर में रहते हैं ऐसा तार्किक मानते हैं। ऐसी स्थिति में निर्गुण परमात्मा कैसे? उत्तर—अपनी अपनी ढपली अपना अपना राग है भैया। वेदान्ती ब्रह्म को निर्धर्म मानते हैं और गुण भी एक धर्म है। अतः ब्रह्म निर्गुण है निर्धर्म है। ये कहते हैं कि जिसका व्यय नही हो वह अव्यय है। व्यय उसका होता है जिसकी उत्पत्ति होती है। उत्पत्ति उसकी होती है। जिसका कारण रहता है। ब्रह्म का कोई कारण नही है वह अनादि मान् है अतः अव्यय है। अस्तु। ब्रह्म का कारण नही है अतः उत्पति नही है। उत्पत्ति के नही होने से व्यय भी नही है किन्तु ब्रह्मगत धर्म तो उत्पन्न होते हैं। उसी के द्वारा वह धर्मधर्मी में अभेद मानकर सादि है; वह भी ठीक नही क्योंकि ब्रह्म निर्गुण है अर्थात् निर्धर्म है। अतः अव्यय है। श्रुति भी इसका समर्थन करती है (अविनाशी वारेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा)। वह परमात्मा शरीर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

बालक्रीड़ा

में रहता हुआ भी करता नही है जब करता नही है तब विना कर्म के उनका फल भी नही है फल के विना लेप किसका होगा अतः कहा कि न करोति न लिप्यते । यहां शरीरस्थोऽपि इस उत्तरार्ध का यह आशय है कि ब्रह्म आध्यासिक सम्बन्ध से शरीर में है यानी शरीर में प्रतिविम्बित है ।

अतः शरीर में रहने पर भी ब्रह्म करता नही है जैसे जल में प्रतिविम्बित सूर्य या चन्द्र जल के चलित होने पर चलित नही होते हैं वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिए । ३१ ।

जैसे आकाश सर्वगत है सब में व्याप्त है तब भी सूक्ष्मता के कारण एवं निरवयव होने के कारण असङ्ग हैं जलादि से किसी से भी उसका सम्बन्ध नही है ।

अतः निर्लेप है । उसी तरह आत्मा भी सभी देहों में आध्यासिक सम्बन्ध से अवस्थित है तब भी निर्लेप है । ३२ ।

जैसे एक रवि इस सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित करता है उसी तरह हे भारत ! यह क्षेत्री समस्त क्षेत्र को प्रकाशित करता है किन्तु प्रकाश्यगत धर्मों से लिप्त नही होता है और न प्रकाश्यों के भेद से उसमें किसी तरह का भेद रहता है । ३३ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो
नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

बालक्रीड़ा

इस कहे हुए प्रकार से क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के अन्तर को जो विद्वान् शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश से प्राप्त ज्ञान रूपी चक्षु के द्वारा जानते हैं और जो सम्पूर्ण भूतों से तथा माया नामक अविद्या रूपी प्रकृति से छूटने के उपाय को जानते हैं वे पर ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। ३४ ।

इस मधुसूदनशास्त्री की कृति वालक्रीड़ा नामक श्रीमद्भगवद्गीता के १३ वें अध्याय हिंदी टीका समाप्त हुई ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच

परं भयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः ॥ १ ॥

बालक्रीड़ा

अथ अब चतुर्दश अध्याय की व्याख्या का आरम्भ करते हैं। पहले समाप्त हुए १३ वें अध्याय एवं आरम्यमाण १८ वें अध्याय की संगति को दिखाते हैं। जो भी कुछ उत्पन्न होता है वह क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के सम्बन्ध से होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ जगत् के कारण हैं। ये भी ईश्वर के अधीन होकर जगत् के कारण होते हैं न कि साख्यों की तरह स्वतन्त्र होकर जगत् के कारण हैं। उनसे पैदा होने वाले भी जो अच्छी बुरी एवं मिश्रित विभिन्न योनियों में पैदा होते हैं। उसका कारण है गुण संग गुणों का सम्बन्ध।

इस विषय में जिज्ञासा होती है कि किस गुण का कैसे संग होता है गुण क्या हैं या कौन हैं वे कैसे 'बाँधते हैं। क्यों कि भूतप्रकृति मोक्षं च में मोक्ष लिखा है। मोक्ष तो किसी बद्धका ही होता है अतः वे कैसे बाँधते हैं यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है। पुनः प्रश्न—होता है कि भूत प्रकृति शब्द से कहे हुए इन गुणों से कैसे मोक्ष होता है मोक्ष को प्राप्त हुए मुक्त के क्या लक्षण हैं इसके उत्तर को विस्तार से कहते हैं—परम्, जिससे जाना जाय वह ज्ञान जो परमात्मा के जानने का साधन है पर है श्रेष्ठ है क्यों कि श्रेष्ठ वस्तु के विषय का वह ज्ञान है। वह ज्ञान कैसा है इस पर कहते हैं कि ज्ञान के साधन यज्ञादि जो वहिरंग साधन हैं उनमें उत्तम है न कि अमानित्वादि अन्तरंग साधनों में उत्तम है। प्रश्न—पर और उत्तम जो ये दो शब्द हैं। इन दोनों का एक ही अर्थ है अतः पुनरुक्ति हो गई। उत्तर—नही पुनरुक्ति नही हुई, क्यों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥
मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥ ३ ॥

बालक्रीड़ा

कि पर शब्द का प्रयोग उत्कृष्ट वस्तु के विषय की जानकारी के लिए और उत्तम शब्द का प्रयोग उत्कृष्ट फल इससे मिलता है इस तथ्य को बतलाने के लिए किया जाता है। पूर्व अध्यायों में कहे हुए इस ज्ञान को भूयः पुनः प्रकर्ष के साथ कहूंगा। जिसको जान कर मुनि लोग परा सिद्धि को प्राप्त कर गये हैं। १।

इस ज्ञान का आश्रयण करके जिन्होंने मेरे साधर्म्य को यानी अत्यन्त अभिन्नता से मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लिया है वे मुक्त हुए जीव सृष्टि के आरम्भ में भी पैदा नही होते हैं और न प्रलय में भी व्यथित होते हैं अर्थात् मुक्त होने से पुनरपि मरणं पुनरपि जननं पुनरपि जननीजठरे शयनं के चक्र में नही पड़ते हैं। २।

क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञ के जिस संयोग से स्थावर जङ्गमात्मक सृष्टि होती है वह संयोग कैसा होता है इसका उत्तर देने के लिए कहते हैं कि वह संयोग ऐसा होता है—सम्पूर्ण कार्यों की अपेक्षा अधिक होने से जो महत् है और जो सभी कार्यों की वृद्धि हेतुतारूप बृंहणता के बदौलत ब्रह्म नामकी यावज् जीवों की कारण मूत प्रकृति मेरी योनि है मेरा उस पर स्वत्व है। मेरा वह गर्भाधान करने का स्थान है। अतः मैं उस महत् ब्रह्म प्रकृति में गर्भ का माने 'हिरण्यगर्भाख्य आदि जीवों' सर्वभूतों के जन्म के बीज का आधान निक्षेप करता हूं। अर्थात् सम्पूर्ण ईशनीयों शासनीयों की शासन कारिणी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ-नामक दो शक्तियों वाला मैं अविद्या काम कर्मरूप उपाधियों के अनुविधायी अनुसारी क्षेत्रज्ञ का क्षेत्र से संयोग करा देता हूं। उस संयोग से सम्पूर्णभूतों का संभव उत्पादन हे भारत ! होता है। ३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वयोनिषु कौन्तेय ! मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं वीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निवध्नन्ति महाबाहो ! देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।

बालक्रीड़ा :

हे कौन्तेय ! इस तरह जो भी मूर्तियाँ सम्पूर्ण योनियों में उत्पन्न होती हैं महद् ब्रह्म उनका योनि है और मैं उनके बीज का निक्षेप करने वाला पिता हूं । ४ ।

अव गुणों को वतलाते हैं सत्व रज एवं तम ये तीन गुण हैं । यह इनकी पारिभाषिक संज्ञा नहीं है किन्तु गुण प्रयुक्त है । गुण कहते हैं रस्सी को रज्जुको । रज्जु जैसे वन्धनकारी होती है वैसे ही ये भी वन्धनकारी हैं । ये गुण बड़े विलक्षण हैं । इनकी समता प्रलयकारी है और विषमता स्थितिकारी है जो कि व्यवहार विरुद्ध है लेकिन इनमें यह स्वभाव सिद्ध है । दूसरी विचित्रता है कि इनका प्रकृति से सम्भव उत्पत्ति है तव भी ये प्रकृत्यात्मक प्रकृति स्वरूप हैं अतः इनमें गुण-गुणि भाव नही है । इस प्रकृति से माया से उत्पन्न होने वाले ये गुण आध्यासिक तादात्म्य के कारण देह को आत्मा मानने वाले देही को मांसपेशी आदि से उपचित देह में वांध जैसा देते हैं । यद्यपि देही नित्य मुक्त है तव भी वांध लिया है—ऐसा मालूम पड़ता है ।

यहां यह विचारणीय है वस्तुतः चिन्तनीय है कि यहां देही को अव्यय कहने की प्रकृत में कोई संगति नही है । यहां तो उसे असङ्ग कहना चाहिए अर्थात् जो वेलगाव है वह बंधन में कैसे आसकता है । ५ ।

उन गुणों में से सत्त्वगुण निर्मल है आवरण विक्षेपरूप मलों से रहित है अतः स्वच्छ है चित् का प्रतिविम्व उसमें हो सकता है अत एव प्रकाशक है । आमय माने दुःख है अतः अनामय माने दुःख विरोधी सुख हुआ उसका भी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ! ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय ! कर्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।

बालक्रीड़ा

व्यञ्जक है। हे अनघ ! सुख के सम्बन्ध से और ज्ञान के सम्बन्ध से यह सत्त्व देही को बाँध जैसा लेता है। अन्तः करण के धर्म सुख और ज्ञान का आत्मा में अध्यास ही संग है। जिससे अहं मैं सुखी हूं मैं जानता हूं। यह प्रतीति होती हैं। वस्तुतः ये धर्म आत्मा में नही है क्यों कि विषय के धर्म विषयी में नहीं हो सकते हैं। इसलिए यह सब अविद्या है। ६।

हे कौन्तेय ! कुन्तीपुत्र ! जो पुरुष को विषयों में अनुरक्त करदे वह राग है। जो वस्तु नही मिलती है उसकी अभिलाषा तृष्णा है। प्राप्त विषय का विनाश नही होने पावे इसलिए उसके संरक्षण की अभिलाषा आसङ्ग है। इन तृष्णा और आसङ्ग से उत्पन्न होने वाला तथा रागस्वरूप एवं रागैकवेद्य रज है ऐसा तुम समझो। यह रजोगुण ऐहिक एवं पारलौकिक वस्तु को प्राप्त कराने में समर्थ लौकिक एवं वैदिक कर्मों में आसक्ति करने वाले देही को आत्मवित् को बांधलेता है। ७।

तम का तो जन्म अज्ञान से समझो। अर्थात् वस्तु के याथात्म्य का अवबोध ज्ञान है उससे भिन्न माने वस्तु के स्वरूप का अन्यथा ज्ञान अज्ञान है उस अज्ञानरूपा प्रकृति से पैदा हुआ यह तम है ऐसा समझो। यह सम्पूर्ण देहियों को आत्मवेत्ताओं को भी मोहित कर देता है। अतः यह मोहक है माने अविवेकरूप होने से भ्रान्ति का जनक है! क्योंकि इससे अन्तः करण में विभ्रम पैदा हो जाता है जिसके कारण अनित्य दुःख आदि में नित्य सुखादि की बुद्धि हो जाती है। वह तम प्रमाद आलस्य एवं निद्रा से देही को बांधता है। प्रमाद माने कर्त्तव्य कार्य के विषय में असावधानी इससे वस्तु के विवेक करने की सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। यह सत्व के कार्य प्रकाश का विरोधी अप्रकाश है। आलस्य कर्त्तव्यत्वेन उपस्थित कार्य के करने के विषय में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निवध्नाति भारत ! ॥ ८ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ! ।

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्वं भवति भारत ! ।

रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।

ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥

बालक्रीड़ा

उद्यम नही करना । यह रज के कार्य प्रवृत्ति का विरोधी अप्रवृत्ति है अतः कार्य में प्रवृत्त होने के लिए सामर्थ्य ही नही होती है । निद्रा अत्यन्त परिश्रम के कारण सम्पूर्ण इन्द्रियों एवं शरीर की शक्ति के अवरुद्ध हो जाने से लयावस्था यानी स्वाप है । ८ ।

सत्व गुण देही को सुखों में संजो देता है रजोगुण कर्म में और हे भारत ! तमो गुण ज्ञान को दवाकर प्रमाद में संजो देता है । ९ ।

इन कार्यों को गुण कव करते हैं इसको वतलाते हैं । हे भारत । जव रज और तम को दवाकर सत्त्व वढ़ता है तव अपने स्वरूप को प्राप्त करने वाला सत्त्व ज्ञान एवं सुखको करता है । सत्त्व और तम को दवाकर जव रजो गुण वढ़ता है तव वह रज कर्म एवं तृष्णादि अपने कार्यों को करता है और जव सत्त्व और रज को दवाकर तम वढ़ता है तव तम ज्ञान को आवृत करने आदि अपने कार्यों को करता है । १० ।

जव जो गुण वढ़ता है उसके क्या चिह्न हैं इसको वतलाते हैं— जव जिस समय इस भोगायतन देह के सभी द्वारों में आत्मा की या विषयों की उपलब्धि के साधनों श्रोत्रादि में प्रकाश माने वुद्धिरूप अन्तःकरण का परिणामविशेष वृत्ति जिसका पर्याय ज्ञान है उत्पन्न हो जाय तव इस शब्दादि विषयक ज्ञान नामक प्रकाशरूप चिह्न से तथा सुखादि रूप लिङ्ग से भी समझो कि सत्त्व गुण की वृद्धि हुई है । ११ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ! ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ! ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

बालक्रीड़ा

हे भरतर्षभ ! रज के वढ़ने के चिह्न ये लोभादि हैं। लोभ रात दिन महान् धन की आमदनी हो रही है तब भी प्रतिक्षण बढने वाला अभिलाष अर्थात् अपने मतलब की प्राप्ति होने पर भी अनिवर्त्त्य नही हटनेवाली इच्छा, प्रवृत्ति निरन्तर काम करने की प्रयत्नशीलता, कर्मों का आरम्भ जिसमें बहुत से वित्त का व्यय है एवं जो घोर 'प्रयासकारी काम्य एवं निषिद्ध लौकिक व्यापार हैं उनके लिए उद्यम। अशम यह तो कर लिया अब इसको करूंगा इस तरह के संकल्पों का उपराम नही होना। स्पृहा किसी प्रकार से वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा। १२।

हे कुरुनन्दन ! तम के वढने पर ये अप्रकाश आदि चिह्न होते हैं। अप्रकाश शास्त्र एवं आचार्यादि के उपदेश से या समझाने से भी नही समझना। अप्रवृत्ति कार्य करने के अवसरों के उपस्थित होने पर भी कार्यो को नही करना। प्रमाद असावधानी। मोह ऊहा का नही होना यानी प्रकृत में इस समय क्या करना चाहिए और क्या नही करना चाहिए इस विवेक का नही होना। १३।

जब जिस समय सत्त्व गुण बढ़ा हुआ हो उसी समय यदि देहधारी की मृत्यु हो जाय तो वह हिरण्यगर्भादि उत्तम ज्ञानियों के निर्मल लोकों को प्राप्त कर लेता है। १४।

रजो गुण की वृद्धि के समय मरनेवाला प्राणी कर्मसंगियों में पैदा होता है तथा तम की वृद्धि के समय में मरने वाला व्यक्ति मूढयोनियों में पैदा होता है। १५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तामसः फलम् ॥ १६ ॥

सत्त्वात्संजायतो ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

बालक्रीड़ा

सात्विक मानें सुन्दर तरीकों से किये हुए कर्म का फल निर्मल होता है। राजस कर्म का फल दुःख होता है और तामस कर्म का फल अज्ञान होता है। इस पद्य में सुकृतस्य के स्थान पर सात्विकस्य पाठ होना चाहिए तभी क्रम ठीक होगा अन्यथा नही। यदि यहां सात्विकस्य नही रखकर सुकृतस्य रखते हैं तो आगे भी दुष्कृतस्य पाठ रखिये और उससे भी आगे विकृतस्य पाठ रखिये! अतः हमारा संशोधन ठीक हैं। १६।

सत्त्व से सम्यक् ज्ञान, रज से लाभ और तम से प्रमाद मोह एवं अज्ञान पैदा होते हैं। यहां भवतः यह द्विवचन का प्रयोग गड़वड़ हैं जबकि अज्ञान को भी आप तम से उत्पन्न हुआ मानते हैं। अतः भवन्त्यज्ञानमेव च ऐसा पाठ करना चाहिये। विभक्तिविपरिणाम करके अन्वय करने की अपेक्षा बहुवचन करके अन्वय का उत्तम तरीका हैं। यहां बहुत अपदार्थ कथन हो गया है पहले ८ वें श्लोक में कहा है कि तम अज्ञानज है अज्ञान से पैदा होता है यहां लिखते हैं तमसोऽज्ञानमेव च तमसे अज्ञान पैदा होता है यह परस्पर विरुद्ध पदार्थ कथन है। १७।

जघन्यगुणवृत्तस्थाः इस पद के अनुरोध से उत्तमगुणवृत्तस्थाः एवं मध्यमगुण वृत्तस्थाः ऐसा समन्वय करना चाहिए। तथा राजसाः तामसाः पदों के अनुरोध से सात्त्विकाः पाठ समझना चाहिए। एक बात और समझना है कि उत्तम गुण के वृत्त उत्तम ज्ञान एवं कर्म, मध्यम गुण के वृत्त मध्यम ज्ञान एवं कर्म तथा अधमगुण के वृत्त अधम ज्ञान एवं कर्म ऐसा, अथच उत्तम गुणकारी माने श्रेष्टफलदाता मध्यम गुणकारी मध्यम फलदाता और अधमगुणकारी अधमफलदाता भी समझना चाहिए।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥
नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥
गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।

बालक्रीड़ा

इस प्रकार सात्विक लोग ऊर्ध्व लोक में जाते हैं उत्तम देवयोनियों में पैदा होते हैं। राजस लोग मध्य लोक में जाते हैं पापपुण्य मिश्रित फल जहां भोग्य है वहां मनुष्य योनि में पैदा होते है और तामस लोग अधो लोक में जाते हैं वहाँ वे पशु पक्षी आदि तिर्यक् योनियो में पैदा होते हैं। १८।

इस अध्याय में तीन बातें कहनी हैं उनमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का संयोग ईश्वर के अधीन है इसको कहा और कौन २ गुण हैं और उन से कैसे बन्धन होता है इसको कहा इस तरह दो बातें कहीं। अब उन गुणों से कैसे छुटकारा होता है इसको तथा छूटे हुए का मुक्त का क्या लक्षण है क्या स्वरूप है इसको कहना बाकी है। मिथ्या समझना ही जिनका स्वरूप है उन गुणों को सम्यक् समझने से उनसे छुटकारा मिलता है इस तथ्य को कहते हैं गुण ही करते हैं गुणों से अन्य कोई कर्त्ता नही है ऐसा जब द्रष्टा समझता है और गुणों से पर माने गुणों एवं उनके कार्यों से असंस्पृष्ट अत एव निर्विकार सर्वसाक्षी एक क्षेत्रज्ञ को जान लेता है तब वह जानकार मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। १९।

अब वह मेरे स्वरूप को कैसे प्राप्त कर लेता है उसको कहते हैं जब देही इन देहारम्भक सत्वादि गुणों का अतिक्रमण कर लेगा माने ये मिथ्या हैं और इनका यह स्वरूप मायामय है ऐसे तात्त्विक ज्ञान के द्वारा इनका नाश कर लेगा तब जन्म जरा मृत्यु व्याधि दोष एवं दुखों से खास तौर से छूट जायगा और अमृत को अमरत्व को मेरे स्वरूप को प्राप्त कर लेगा। यहां पहले १३ वें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो !
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन्गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥

बालक्रीड़ा

अध्याय के ८ वें श्लोक में कहे हुए जन्मादि में से व्याधि और दोष को प्रकृत श्लोक में नही कह सके हैं किन्तु छुटकारा तो उनसे भी प्राप्त करना जरूरी है अतः हमने अपनी व्याख्या में लिख दिया है । २० ।

अर्जुन को जिज्ञासा हो गई कि हे भगवन् । आपने जो समझाया उपदेश दिया वह सब ठीक है किन्तु यह तो बतलाइये कि किन चिह्नों से किन लक्षणों से हम यह समझें कि यह जीव इन तीन गुणों को अतिक्रमण कर गया है। इन गुणों से अतीत होने वाले का आचरण कैसा होता है और वे तरीके क्या हैं अर्थात् किस प्रकार से वह इन तीन गुणों को अतिक्रमण करता है । २१ ।

इसके उत्तर में श्रीभगवान् अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन ! सत्त्व गुण का कार्य प्रकाश है, रजोगुण का कार्य प्रवृत्ति है और तमोगुण का कार्य मोह है। यह उपलक्षण है अर्थात् जितने भी कार्य हैं वे सब गुण मूलक हैं तथा अपनी अपनी सामग्री से संप्रवृत्त होते हैं यदि वे दुःख रूप भी हैं तब भी दुःख समझ कर उनसे द्वेष नहीं करता है और विनाशक सामग्री से निवृत्त हुए नष्ट हुए सुखों को सुख समझ कर आकांक्षा नही करता है। स्वप्नवत् उनको मिथ्या समझकर उनसे द्वेष एवं प्रेम नही करता है वह गुणातीत है।

यहां यह विचारणीय है कि मधुसूदन सरस्वती जी ने यहां लिखा है कि यह अपने खुद का अनुभव स्वात्म प्रत्यक्ष अपने ही लिए है दूसरे के लिए नही है क्यों कि दूसरे के राग द्वेष और इनके अभाव को दूसरा नही जान सकता है कोई भी व्यक्ति अपने ही राग द्वेष और इनके अभावों को जान सकता है । इति ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीभगवानुवाच

प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव !
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।

बालक्रीड़ा

यह सब क्या लिख दिया। यदि आपके इस लेखको प्रमाण माना जायतो 'परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः;' 'अवगच्छति सन् सुचेतनः कथयत्येव हितैषिणं रिपुश्च' 'अक्लमन्दे इशारा काफी' इत्यादि सिद्धान्तों पर हड़ताल ही फेर देना चाहिए।

यह चिन्तनीय है कि इस श्लोक में उद्देश्यभूत पदार्थ प्रकाश प्रवृत्ति एवं मोह को द्वितीया के एक वचन में कहा और विधेय कोटिस्थ संप्रवृत्तानि और निवृत्तानि को द्वितीया के बहुवचन में कहा है यह लेखाशुद्धि है या पद योजना सम्बन्धी अशुद्धि है। अतः इसको इसी १४ वीं अध्याय के १२ वें एवं १३ वें

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ! तथा—
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन !

में जैसे है उसी तरह यहां भी—

प्रकाशश्चः प्रवृत्तिश्च मोह एव च पाण्डव !
नैतानि द्वेष्टि वृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ।

ऐसा पाठ करना चाहिए। अन्य स्थानों में भी यही क्रम है।

वित्तं बन्धुर्वयो विद्या कर्म चैव तु पंचमम् ।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो ह्युत्तरोत्तरम् । इति । २२ ।

इस प्रकार गुणातीत के स्वरूप को बतलाकर अब उसके आचार को तीन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

बालक्रीड़ा

श्लोको में वतलाते हैं। जैसे कोई उदासीन पुरुष लडाई करने वालों के वीच में प्रेम के कारण किसी का पक्ष नही लेता है और न द्वेष के कारण किसी के विरुद्ध पक्ष का ग्रहण करता है उसी तरह यह गुणातीत यति राग और द्वेष से शून्य होकर अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है तथा सुख दुःख एवं मोह रूप में परिणत हुए इन गुणों से विचलित नही होता है किन्तु ये गुण ही परस्पर में परस्पर का अभिभव करते हैं आश्रय लेते हैं परिणत होते हैं एवं अविनाभाव से रहते हैं यानी स्त्री पुरुष की तरह परस्पर में सहचार से रहते हैं। मेरा इनसे कोई सम्वन्ध नही है ऐसा समझता हुआ अपने स्वरूप में अवस्थित है अतः कुछ भी इङ्गित चेष्टित नही करता है अतः सदा स्वस्थ है अपने स्वरूप में स्थित है। २३।

जिसको प्रिय मित्र भाई वन्धु सखा सुहृत् सव जैसे हैं वैसे ही अप्रिय और दुश्मन भी है यानी ये दोनों बरावर हैं इन दोनों में कोई भेद नही है। जैसी स्तुति है प्रशंसा है मान है वैसे ही उसके लिए निन्दा है अपमान है दोनों वरावर हैं इन दोनों में कोई भेद नही है। राग एवं द्वेष से शून्य होने से जैसी सुख में स्थिति है वैसी ही दुःख में स्थिति है सुख और दुःख दोनों जिसके लिए वरावर है। लोढा पत्थर एवं सोना सव वरावेर हैं जैसे लोढा है वैसा सोना है सोने का कोई मूल्य नही है लोढे का कोई अवमूल्यन नही है। अत एव जो यावत् कर्मों का परित्याग करके अपने आपमें ब्रह्ममें स्थित है वह गुणातीत है। २४। २५।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रयविभागयोगो
नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

बालक्रीड़ा

अब कैसे इन गुणों का अतिक्रमण करता है इस तृतीय प्रश्न का उत्तर देते हैं कि जो व्यभिचार रहित एवं निश्छल होकर भक्तियोग से मेरी सेवा उपासना करता है वह इन गुणों का अतिक्रमण करके ब्रह्म भाव को प्राप्त करने में समर्थ होता है। २६।

प्रश्न—वह ब्रह्मभाव को प्राप्त करने में समर्थ होता है उसका क्या कारण है उत्तर—क्यों कि मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूं प्रतिमा हूं घनीभूत ब्रह्म मैं हूं ही। जैसे घनीभूत हुआ प्रकाश ही सूर्य है वैसे ही मैं हूं। अव्यय का अमृत का शाश्वत धर्म का तथा ऐकान्तिक सुख का स्थान मैं हूं। अतः मेरा भजन करने वाले मेरे भक्त को अवश्य ही गुणों से छूट जाने से ब्रह्मभाव की प्राप्ति हो जाती है। २७।

इति श्री गीता के १४ वें अध्याय की श्रीमधुसूदनशास्त्री की कृति हिन्दी टीका बालक्रीड़ा समाप्त हुई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ पञ्चदशोऽध्यायः

अथ अब श्रीमद्भगवद्गीता के १५ वें अध्याय की हिन्दी टीका बालक्रीडा का आरम्भ करते हैं। इसके प्रथम श्लोक 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्' की अवतरणिका में भगवान् शङ्कराचार्य ने दो बातें लिखी हैं। उनमें एक—'यस्मान्मदधीनं कर्मिणां कर्मफलं ज्ञानिनां ज्ञानफलम्। अतो भक्तियोगेन ये मां सेवन्ते ते ज्ञान प्राप्तिक्रमेण मोक्षं गच्छन्ति इति भगवान् अर्जुनेनापृष्टमपि आत्मतत्वं विवक्षुराह ऊर्ध्वम्। चूं कि कर्मियों का कर्मफल और ज्ञानियों का ज्ञानफल मेरे अधीन है अतः जो मेरी भक्ति उपासना करते हैं वे ज्ञान को प्राप्त करके मोक्ष को पाते हैं' यह है। इस उपासना के उपयोगी आत्मत्त्व को भगवान् अर्जुन को नही पूछने पर भी कहते हैं।

दूसरी—तत्र तावद् वृक्षकल्पनया वैराग्यहेतोः संसारस्वरूपं वर्णयति। विरक्तस्य हि संसारात् भगवत्तत्त्वज्ञानेऽधिकारोऽस्ति नान्यस्येति ऊर्ध्वम्। उसमें वृक्ष की कल्पना के द्वारा वैराग्य के लिए संसार के स्वरूप का वर्णन करते हैं। क्यों कि संसार से विरक्त का ही आत्मज्ञान में अधिकार है अन्य का नहीं' यह है।

इस पर कहना है कि ये दोनों ही बातें पहले कहे हुए सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। पहले ५ वें अध्याय के १४ वें श्लोक

न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते।

में कहा है कि प्रभु न किसी को कर्ता बनाता है और न किसी के कर्मों का सर्जन करता है तथा न किसी को उसके कर्मों का फल देता है। यह तो सब स्वभाव से होता है। इस तरह जब यह कर्मकर्तृभाव स्वाभाविक प्रवृत्ति के अधीन है भगवान् के अधीन नही है तब भला शंकराचार्यजी का उक्त लेख ठीक कैसे हो सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहां भगवान् अर्जुन के लिए संसार के उच्छेद करने का वर्णन कर रहे हैं जो वर्णन विरक्त के लिए उपयोगी है। किन्तु अर्जुन तो विरक्त नही है। अर्जुन को भगवान् स्वयं युद्ध करने के लिए पहले भी कहें हैं और आगे भी १८ वें अध्याय के ५८ एवं ५९ में कहेंगे कि तुम अहंकार करके युद्ध नही करोगे तो नष्ट हो जावोगे और जो यह तुम मानते हो कि मैं युद्ध नही करूंगा वह तुम्हारा व्यवसाय मिथ्या है। क्यों कि सभी कोई स्वाभाविक कर्म से जकडा हुआ है' ऐसी स्थिति में भला शंकराचार्यजी का उक्त लेख ठीक कैसे हो।

यदि—'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः'

इस भगवान् की उक्ति के अनुसार कर्मयोगी अर्जुन में भी ब्रह्मानुसन्धान करने की योग्यता है अतः उसके लिए ससारवृक्ष के काटने का निर्देशन करना उचित हो सकता है तब इस श्लोक की अवतरणिका यह अथवा ऐसी हो सकती है—

ज्ञान एवं उसके फल के विषय में प्रतिबन्धक होने से ज्ञानी के लिए त्याज्य गुणों के स्वरूप एवं फल का निरूपण १४ वें अध्याय में किया अन्त में 'माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते' अव्यभिचारी भक्तियोग के द्वारा किया गया ब्रह्मानुसन्धान गुणातिक्रमण का साधन है ऐसा कहा। उसके अनुसधान के उपयोगी ब्रह्म का स्वरूप क्या है और उसके अनुसन्धान का प्रकार क्या है इसका प्रतिपादन करने के लिए १५ वें अध्याय का आरम्भ करते है वहां आरम्भ में ब्रह्मानुसन्धान में संलग्न व्यक्ति की सांसारिक आसक्ति निवारणीय है अतः संसार का वृक्ष के रूप में छेदनीय के रूप में वर्णन करते हैं ऊर्ध्वम्।

श्री भगवान् कहते हैं हे अर्जुन! यह संसार अश्वत्थ वृक्ष है। अश्वत्थ माने जो कल नही रहेगा। ओ व्रश्चू छेदने से बने वृक्ष शब्द का अर्थ है छेदनीय। इस संसाररूप अश्वत्थ वृक्षका मूल ऊर्ध्व है ऊर्ध्व का अर्थ है उच्छ्रित उत्कृष्टतम। उत्कृष्ठतम सर्वोत्तम वही होता है जो अव्यक्त (प्रकृति) महदहङ्कारादि से भी परम महान् अतिसूक्ष्म सबका प्रकाशक, सब का आस्पद, सबसे व्यापक एवं सबका कारण हो। ऐसा तो ब्रह्म ही है अतः ऊर्ध्व के माने ब्रह्म है। यही मायासम्वन्धित हुआ संसार का मूल है संसार का निमित्त, कारण है बीज है। श्रुति भी कहती है कि तस्माद्वा एतस्मादाकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुरिति।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह वृक्ष अधः शाख हैं। यहां प्रकृति बीज है। उससे उद्भूत महत् अंकुर है। उससे उद्भूत अहंकार स्कन्ध है। उससे उद्भूत पञ्चतन्मात्रायें शाखा हैं। उससे उद्भूत पञ्चमहाभूत उपशाखा हैं। इस तरह प्रकृति से अधः अवाक् नीचे होने वाले ये महदादि शाखा की तरह शाखा हैं इसलिए इस वृक्ष को अधः शाखाओं वाला कहा है। यह वृक्ष माया का कार्य होने से अश्वत्थ है यानी माया की तरह क्षण भंगुर है कल नहीं रहने वाला है। इसको कामी मीमांसक लोग 'न कचिदादनीदृशं जगत्, इस कथन के अनुसार अव्यय है नित्य है। अथवा वि माने पक्षियों का अथ माने स्वादुफलभक्षणार्थं गति प्रचार जिसमें होता है वह व्यय है अश्वत्थ वृक्ष है (तयोरन्यः पिपलं स्वाद्वत्ति) जिसका व्यय नहीं है वह अव्यय है (अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति) ये श्रुतियां हैं। अथवा जो प्रवाहानादि और (जिसका प्रलय के बिना अन्त नहीं होता है उस) अनन्त देहादि का आश्रय होकर आत्मज्ञान के बिना उच्छेद्य नहीं हो सकने वाला है वह अव्यय है।

छन्दके माने संसार वृक्ष अनित्य है दुःख रूप है व्यामोहक है एवं अनर्थकारी है इत्यादि दोषों का छादक ढांकने वाला है

'ध्रुवा द्यौः ध्रुवा पृथिवी' 'दक्षिणावन्तोऽमृतत्वं भजन्ते'

'स्वर्गे लोके न भयं किञ्चिदस्ति' इत्यादि आकर्षक मधुर वाक्यों से जो असलियत को छिपा देते हैं वे ऋक् यजुः साम अथर्व वेदात्मक छन्द जिस मायामय संसार वृक्ष के पर्णों के सदृश पर्ण हे। पर्ण जैसे सर्वतः दोषों से हटाकर वृक्ष की रक्षा करते हैं वैसे ही पुराण, इतिहास, उपासना, योग और आगम तन्त्रोक्त क्रियाओं के सहित यह वेद कर्मों के मोहक फलों का प्रकाशन करके उक्त दोषों का छादन करते हुए बढ़ाते हैं।

इस प्रकार से कहे हुए धर्म एवं अधर्म के दुःख ही जिसका स्वरूप है ऐसे फल को पैदा करने वाले और मायामय संसार वृक्ष अश्वत्थ को जो जानता है वह वेदवित् है। अविद्या या माया रूप उपाधि से सम्वलित ब्रह्म जिसका मूल है। कार्योपाधि हिरण्यगर्भादि जीव एवं प्रकृति तत्कार्य महदादि विकार जिसकी शाखायें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

©C0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।

बालक्रीड़ा

हैं। जो वेदोक्त कर्मों से सिञ्चित है स्वरूप से नश्वर है प्रवाहरूप से अनादि है प्रलय के विना अन्त नहीं होने से अनन्त है तथा ब्रह्मज्ञान के विना अनुच्छेद्य होने से अव्यय है वह संसार है बस इतना ही वेदार्थ है इसको जो जानता है वह वेदवित् है वेदार्थवित् है। १।

इस प्रकार मूल शाखा एवं अवयवों के निरूपण के द्वारा अवयवी संसार वृक्ष का निरूपण करके अब पुनः अवान्तर शाखाओं का निर्देश करते हुए निरूपण करते हैं। पहले कार्योपाधिक हिरण्यगर्भादि जीवों एवं प्रकृतिजन्य महदादि विकारों को शाखा कहा अब उनमें जो विशेष विषय है उसे कहते हैं। जो कपूय चरण हैं यानी गन्दे आचरण दुष्कृत करने वाले लोग पशु पक्षी तिर्यगादि नीच योनियों में फैले हुए हैं और रमणीय आदर्श आचरण करने वाले सुकृती लोग देवादि ऊर्ध्व योनियों में उत्तमयोनियों में फैले हुए हैं। उस संसार वृक्ष अश्वत्थ की यथाशास्त्र अनुष्ठित कर्म उपासना एव ज्ञान से उत्पन्न शाखायें अधो-लोक में मनुष्य से लेकर स्थावर पर्यन्त और ऊर्ध्वलोक में विरञ्चि विश्वसृष्टि विधाता ब्रह्मा से लेकर सत्यलोक पर्यन्त फैली हुई हैं। जैसे जल के सेचन से वृक्ष की शाखायें बढती हैं वैसे ही इस वृक्ष की शाखायें भी देहेन्द्रियाकार में परिणत होनेवाले उपादानभूत सत्त्व रज एवं तम गुणों से बढी हुई हैं स्थूल हो गई हैं जिन शाखाओं में शब्दादि विषय प्रवाल हैं कोमल दल हैं। भिन्न भिन्न पदार्थों के भोग से उत्पन्न होनेवाली राग द्वेष एवं लोभमयी वासनाएं जो धर्म एवं अधर्म में प्रवृत्ति की कारण हैं इस संसार वृक्ष के बायें तरफ ऊपर नीचे अवान्तर मूलरूप में अनुस्यूत व्याप्त हैं। यहां यह याद रखना चाहिए कि ये वासनाएं इस वृक्ष की अवान्तर मूल हैं मुख्य मूल तो ब्रह्म ही है। अतः पूर्वापर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ।।२।।
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ।।३।।

बालक्रीड़ा

विरोध नही है। वे अवान्तर मूल कैसे हैं इस जिज्ञासा पर कहते हैं कि वे मूल मनुष्य लोक में कर्मानुबन्धी है। अर्थात् नाना प्रकार के शरीरों के उत्पादक जो नित्य नैमित्तिक प्रायश्चित्त विहित निषिद्ध तथा काम्यकर्म हैं उन्ही कर्मों का अनुबन्धन करने वाले हैं और अनुसंतत हैं अर्थात् मनुष्य लोक के प्राणियों की सर्वत्र विषयों में इच्छाओं को पैदा करके कर्म कराते हुए भोगवासना रूप से सभी तरह से व्याप्त होकर निरन्तर रहते हैं। इस तरह वासनाओं से इच्छाएें, इच्छाओं से अच्छे बुरे कर्म, और इन कर्मों के अनुसार उत्पन्न हुए फलों को भोगने के लिए भोगायतन शरीरों की परम्परा बढती ही जायगी कभी भी क्षीण नही होगी। यहां मनुष्य लोके कहने का आशय है कि यह मनुष्य लोक ही कर्मभूमि है अन्य सब लोक भोग भूमियां हैं। २।

इसका अन्त नही है इतने समय में यह नष्ट हो जायगा इस तथ्य की जानकारी नही होने से यह अपर्यन्त है। इसका आदि आरम्भ भी नही है यहां से इस जगह से एवं इस समय से इसकी शुरुआत हुई है ऐसा नही जान सकने से यह अनादि हैं। और इसकी संप्रतिष्ठा मध्य नही है अर्थात् जब आदि और अन्त इसका नही मिलता है तब मध्य कैसे मिलेगा। जिसका आदि एवं अन्त होता है उसीका मध्य भाग एवं मध्य काल होता है। उनके बिना नही। इसलिए इस प्रकार से दुरुच्छेद्य अनर्थकारी तथा अनादि अज्ञान से सुविरूढ मूल अर्थात् जिसकी जड़ें पक्के तौर से जम गई हैं ऐसे संसार वृक्ष को असंगरूपी दृढ़ शस्त्र से माने पुत्र की इच्छा धन का लोभ और लोक में मेरा यश फैल जाय ऐसी कामनाओं के छोड़ने रूप असंग अकाटय शस्त्र से काटे ।। ३ ।।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः ।

बालक्रीड़ा

उसके वाद में उस पद को माने आद्यपुरुष वस्तु प्रत्यगात्मा को या उसके (पदं व्यवसित त्राण स्थान लक्ष्मांघ्रिवस्तुषु यह कोष है) स्थान को खोजना चाहिए जहां पहुंच कर फिर प्राणी को संसार में लौटना नही पड़ता है। न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते यह श्रुति है। इसके लिए उसी उत्तम पुरुष की प्रपत्ति करनी चाहिए उसी के शरण में रक्षण में या घर में जाना चाहिए। जहां से यह पुराणी प्रवृत्ति फैली है। संसार को फैलाने वाली वासना रूपी माया शुरु हुई है।

यहाँ प्रपद्ये यह उत्तम पुरुष का एक वचनान्त प्रयोग है उसका अन्वय अहं के साथ होता है। अहं यहाँ वक्ता या अर्जुन को उपदेश देने वाले भगवान् श्रीकृष्ण हैं उनको किसके शरण में जाना है। वह तो स्वयं शरण्य हैं। शरण का अर्थ है रक्षक एवं घर। अतः तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत यहां पर 'उसीको शरण माने रक्षक गच्छ माने समझो हरतरीके से हे भारत।' और यहां पर भी 'मामेकं शरणं व्रज' एक मात्र मुझको शरण माने रक्षक समझो। यही अर्थ है। अत एव 'शरणागति' पद में शरणागति शब्द का अर्थ है रक्षण में या घर में आश्रय में आना। इस तरह शरणं गृह रक्षित्रोः यह कोष स्पष्ट हो जाता है।

प्रकृत में सर्व साधारण के लिए भगवान् का उपदेश है कि मेरी प्रपत्ति शरणागति करनी चाहिए। ऐसा अर्थ विवक्षित है अतः प्रपद्येत् ऐसा लिङ् का प्रयोग होना आवश्यक है। यदि कहें कि प्रपूर्वक पद नित्य आत्मनेपदी है वह भी ठीक नही है क्योंकि यहां गीता शास्त्र में आर्ष प्रयोग वहुतायत से किया गया है।

जैसे वुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कते २।५० यहां ह+उ में गुणा भाव है। एवं रूप शक्य अहं नृलोके ११।४८ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन! ११।५४ यहां रुत्व, उत्व गुण एवं पूर्वरूपाभाव, है। अजानता महिमानं तवेदम् ११।४१ यहां महिमानं पुल्लिग है और इदं नपुंसकलिंग है। निवसिष्यति मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः १२।८ में व+अ+में दीर्घ का अभाव है। योऽवतिष्ठति

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्येद् यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

बालक्रीड़ा

नेङ्क्ते १४।२३ यहां अव पूर्वक स्था धातु से समवप्रविभ्यः स्थः १।३।२२ इस सूत्र से खास तौर से आत्मनेपद का विधान होने पर भी परस्मैपद का प्रयोग है और यती प्रयत्ने धातु आत्मनेपदी है परन्तु पदे पदे यतन्तो योगिनः यतन्तोऽप्यकृतात्मानः में परस्मैपद का है। इसी तरह यहां पर भी प्रपद्येत् ऐसा परस्मैपद का प्रयोग किया जाना चाहिए। अन्यथा 'प्रपद्ये इति तदन्वेष्टव्यम्' में प्रपत्ति करता हूं ऐसा उसे खोजना चाहिए ऐसा क्लिष्ट अन्वय करना पड़ेगा ॥ ४ ॥

उस पद की खोज करनी चाहिए। वह पद आद्य पुरुषरूप वस्तु है (यह पद शब्द का अर्थ 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्मांघ्रिवस्तुषु' इस अमर कोष के अनुसार है) उक्त अव्यय पद को सब कोई नही प्राप्त कर सकते हैं उसको तो वे ही प्राप्त कर सकते हैं जो अमूढ हैं मूढ नही हैं। अब अमूढ कौन है इस को बतलाते हैं—जिनका मान एवं मोह निर्गत हो गया है निकल गया है मान पद का अर्थ है जिनमें अन माने प्राणन और मा माने नही प्राणन का अभाव अर्थात् निष्प्राणता; वह जिनकी निर माने निकल गयी है अतः जो ब्रह्म के साक्षात्कार करने में सक्षम हैं। मोह का अर्थ है जिनमें ऊह वह सत् है और यह असत् है ऐसा विवेक मा माने नही अर्थात् विपरीत ज्ञान; वह जिनका निर माने निकल गया है अतः जो ब्रह्म का यथार्थ ज्ञान करने वाले हैं। जिन्होंने सङ्ग से होने वाले दोषों को जीतलिया है परास्त कर दिया है।

श्रुति कहती है। कि 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' यह पुरुष असङ्ग है सांसारिक विषयों की आसक्ति से रहित है। जिसको आसक्ति है सङ्ग है वह प्रिय में राग करता है और अप्रिय में द्वेष करता है। अतः उनको जीतने वालों में ब्रह्म साक्षात्कार के उपयोगी वशीकारनामक वैराग्य का होना स्वतः प्राप्त है। जो अध्यात्म में आत्मा के विषय में यानी आत्मा के ज्ञान करने में नित्य हैं निरत है तत्पर हैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।

यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

बालक्रीड़ा

अतः 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इस श्रुति के अनुसार ज्ञानप्रयोज्य कैवल्य को प्राप्त करने के लिए अधिकारी हो गये हैं। जिनकी कामवासनाएँ और भोग की इच्छायें निवृत्त हो गई हैं हट गई हैं अत एव ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति में अब कोई प्रतिबन्धक जिनको नहीं है। सुख एवं दुःख नामक द्वन्द्वों से जो विमुक्त है अर्थात् आध्यात्मिक आधिदैविक एवं आधिभौतिक सुखों के हेतु एवं दुःखों के हेतु शीत एवं उष्णपदार्थ, भूख प्यास आदि अन्तः करण के धर्मों से रहित हैं अत एव ब्रह्मज्ञान में संलग्नता निश्चय ही जिनकी हो गई है। ५।

सांसारिक विषयों के मोहजाल में नही फँसने वाले ब्रह्म में संलग्न व्यक्ति जिस पद को प्राप्त करते हैं उस पद की विशेषता को बतलाते हैं कि वह पद मेरा परम धाम है सबसे उत्कृष्ट स्थान है जहाँ पहुंच कर फिर वापिस लौट कर नही आता हैं अर्थात् पुनरपि जननं पुनरपि मरणं के चक्कर से छूट जाता है। और वह पद परमधाम है सबसे उत्कृष्ट तेज है जिसके समक्ष अखिल जगत् को भासित करने वाले सूर्य चन्द्र तारे विद्युत एवं अग्नि निस्तेज हो जाते हैं अत एव वे उसको भासित प्रकाशित नही कर सकते हैं। क्यों कि इस स्थूल जगत् के अवभासक माने जाने वाले वे सूर्यादि 'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र-तारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। इस श्रुति के अनुसार उसी के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। वह चमकता है तब ये सब उसके चमक से चमकते हैं अन्यथा माने यदि उसका प्रकाश इनको नही मिले तो ये स्वयं तेजः शून्य होने से चमक ही नही सकते हैं ऐसी स्थिति में से सूर्य चन्द्र तारे विद्युत् एवं अग्नि कोई भी इसको प्रकाशित करें यह असंभव है। ६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

बालक्रीड़ा

प्रश्न—जिसमें जाकर या जहां पहुंचकर फिर वापस आता नही है वह स्थान या वह तेज मेरा है। यह जो आपने कहा वह बहुत ही कमजोर कहा या एकदम छोटी बात कही क्योंकि यह मैं हूं यह मेरा है ऐसा व्यवहार तो हम साधारण लोगों में होता है। यदि आप भी ऐसा कहने लगेंगे तो हमलोगों में और आप में भेद क्या होगा। यह एक बात हुई। दूसरी बात यह है कि जब श्रुति कहती है कि 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' यह सब कुछ ब्रह्म ही है ब्रह्मैवेदमखिलम्। ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ नही है। तब कलकत्ता बम्बई दिल्ली काशी आदि स्थान भी सब ब्रह्म ही है अतः आप ही के ये स्थान हैं किन्तु रात दिन देखते हैं कि यहां से वहां से जो जाते हैं वे-आते हैं वापस। ऐसी स्थिति में आपका उक्त कथन गडबडा गया है। तीसरी बात है कि जिसके लिए यह भूमि आपने तैयार की थी वह भी इस भूमि में बैठ नही सक रहा है या बैठ नही पा रहा है। क्यों कि आप कहते हैं कि इस जीव लोक में यह जीव मेरा ही अंश है। इस पर फिर प्रश्न होता है कि क्या अंश को छोड़ कर अंशी रह सकता है। यदि 'हां' कहते हैं तब वह सावयव हुआ। सावयव हुआ तो अनित्य होगा। अतः अंशी अंश को छोड़ कर अलग नही हो सकता है। ऐसी हालत में अंशी का स्थान अंश का ही स्थान है। तब आपका यह समझाना या प्रतिपादन करना कि ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्त्तन्ति भूयः। अनावश्यक ही है। वह तो उसे प्राप्त ही है। अतः उसे खोजने की क्या आवश्यकता है।

उत्तर—उपदेश का एक क्रम होता है जिसमें व्यवस्था का पालन करना अत्यावश्यक है। अतः उस क्रम में एक वक्ता होता है दूसरा श्रोता है। इसकी व्यवस्था के लिए मैं और मेरा कहना ही पड़ता है बिना कहे समझाया नही जा सकता है। वस्तुतः मैं और मेरा का भेद नही है अद्वैत ही है। अतः कुछ भी गडबड़ नही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह तो ठीक हुआ किन्तु गुरुलोगों ने व्याख्याकारों [ने जो गड़बडी कर रखी है वह असमाधेय है।

जैसे शंकराचार्य कहते हैं जो जाते हैं वे वापस लौटते ही है इसी को मधुसूदन सरस्वती भी कहते है कि (क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोके विशन्ति) मर्त्य लोक से स्वर्ग में गया हुआ प्राणी पुण्यके क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक में आता है। अतः गत्वा यह और न निवर्तन्ति यह परस्पर विरुद्ध है। इसकी पुष्टि में

सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्।

इस श्लोक को लिखते हैं। किन्तु यह सब अटर का पटर ही है क्योंकि श्रुति कहती है 'न स पुनरावर्त्तते' वह वापस नही लौटता। अतः श्रुति विरुद्ध त्वात्स्याज्यम्। दूसरी स्थिति यह है कि इस श्लोक के विपरीत एक श्लोक यह भी है।

समुच्छ्रयान्तं पतनम् १ निचयान्ताः क्षयाः समे २।
संयोगान्ता विप्रयोगाः ३ जीवितान्ता मृतिः सदा। ४।

जो भी निचय है संग्रह है उसका अन्त में क्षय ही होता है यह कोई नियम नहीं है। क्योंकि जिसका क्षय नाश होता है उसका निचय भी होता है। जैसे सट्टा खेलने वाला पहले दिन सब कुछ नष्ट कर देता है परम द्ररिद्र हो जाता है फिर देखते हैं कि अगले दिन मालो माल कमाकर धनी हो जाता है। जिनका उत्थान होता है उनका पतन ही होता है ऐसा भी कोई नियम नहीं है जिनका पतन होता है उनका भी उत्थान होता है। प्रत्यक्ष में सबको मालूम है सब कोई देखते हैं कि मुरारजी देशाई, चौधरी चरणसिंह, फर्नाडीज वगैरह एकदम गढ़े में गिर चुके थे आज वे ही लोग भारतराष्ट्र के प्रधान समुच्छ्रयशाली पुरुष हैं। जो संयुक्त होते हैं वे अन्त में वियुक्त ही होते हैं यदि ऐसा मानेंगे तो मुक्तिवाद का ही मोक्षसिद्धान्त का ही उन्मूलन हो जायगा क्योंकि चिज्जड़ की ग्रन्थी रूप जीव है मुक्तावस्था में वह ग्रन्थी टूट जाती है अर्थात् जड़ अन्तःकरण के टूट जाने से शुद्ध चित् से अन्तःकरण विमुक्त चित् का सदा के लिए संयोग हो जाता है कभी भी उसका वियोग नहीं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

होता है। जीवित का पर्यवसान मरण में है यह तो (जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु र्ध्रुवं-जन्म मृतस्य) जो पैदा हुआ है वह अवश्य मरेगा और जो मरेगा वह अवश्य जन्म लेगा इस गीतोक्ति के विरुद्ध है। पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनम् इस आद्य (शंकराचार्य) की उक्ति के भी विरुद्ध है। अतः मरण का पर्यवसान जीवित में भी है।

जीव सनातन है जीव नित्य है यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जीव आकाशादि की तरह सावधिक नित्य है। जैसे आकाशादि प्रलय काल में नष्ट होते हैं अतः प्रलयावधिक नित्यत्व उनमें माना है इसी तरह जीव में भी मुक्त्यवधिकनित्यत्व है मुक्त होने के बाद जीव भाव नष्ट हो जाता है। अतः जीव नित्य नहीं है। सनातन पदार्थ नित्य होता है, यह भी ठीक नहीं है क्योंकि गीताकार ने स्वयं ही कहा है कि (कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः) सनातन कुलधर्म कुल के नष्ट होने पर नष्ट हो जाते हैं। यदि सनातन का अर्थ नित्य ही होता है तो कुलधर्म नष्ट नहीं होते क्योंकि वे तो सनातन हैं।

प्रश्न—यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम। इसका और इसके बाद में कहे हुए ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः श्लोक का क्या सम्बन्ध है?

उत्तर—यहां विचार यह है कि जहां जाकर फिर नहीं लौटता है इसमें जाता कौन है जाने वाले का निर्देश नहीं किया है ऐसी आशंका का निवारण करते हैं कि वह जाने वाला जीव है जो मेरा अंश है अत एव सनातन है। क्योंकि यह विषय पहले भी ८ अध्याय में आ गया है कि—

आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन!

आत्मा से भिन्न ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी का पुनरावर्त्तन होता है। यह तो ठीक ही है किन्तु आत्मा का भी पुनरावर्त्तन होता है जैसे सुषुप्तिकाल में सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति। इस श्रुति के अनुसार तदा उस समय सुषुप्ति काल में जीव सत् शब्द वाच्य परमात्मा से सम्पन्न संयुक्त हो जाता है और जागरण में पुनः उत्थान होता है। यदि उत्थान नहीं हो तो सांसारिक व्यवहार कैसे होगा। इस पर कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
गृहीत्वैतानि संयति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

बालक्रीड़ा

मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ।

मुझको जो प्राप्त कर लेता है उसका पुनर्जन्म नही होता है क्योंकि अव्यक्त ऐसा अक्षर ऐसा जिसको कहा है उसको परम गति परम प्राप्य कहा है अतः जिसको प्राप्त करके पुनः वापस नहीं आते हैं वही मेरा परम धाम है। वह जाने वाला इस जीवलोक में मेरा सनातन अश जीव है। मैं तो निरंश हूं किन्तु माया से कल्पित अंश की तरह मेरा अंश है। जो ज्ञान के द्वारा अज्ञान की निवृत्ति होने पर स्वस्वरूप मुझको प्राप्त करके फिर जन्म मरण के चक्कर में नहीं पड़ता है।

यदि ऐसी बात है तब सुषुप्त से वह कैसे लौटता है इस प्रकार को बतलाते हैं कि स्वप्नकालिक भोग के जनक कर्मों के क्षीण होने और जाग्रदवस्था कालिक भोगजनक कर्मो के उदय होने पर प्रकृतिस्थ माने प्रकृति में सूक्ष्म रूप से स्थित मन जिनमें छठा है ऐसे पांच ज्ञानेन्द्रियों को जीव खैंच लेता है यानी विषयों के ग्रहण करने की योग्यता का आविर्भाव उनमें हो जाता है। इस लिए अज्ञान से पुनरावृत्ति हो ही सकती है या होती ही है। ७।

वह जीव कब उनको खैंचता है इसको बतलाते हैं कि देह एवं इन्द्रियों के संघात का स्वामी वह जीव जब देह से बाहर निकलता है तब पांच इन्द्रियों एवं छठे मन को खैंच लेता है। क्योंकि उत्क्रमण के बाद ही गमन होता है अतः जब वह पूर्व शरीर से उत्तर शरीर में जाता है तब मन सहित पांचो इन्द्रियों को लेकर कैसे जाता है जैसे वायु आशय माने पुष्पों से गन्धको ले जाता है। ८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ।। ६ ।।

बालक्रीड़ा

अब इन इन्द्रियों को वतलाते हुए जिस कार्य के लिए इन इन्द्रियों को लेकर यह जीव जाता हैं उस कार्य को वतलाते है "श्रोत्र चक्षु स्पर्शन रसन एवं घ्राण ये पांच इन्द्रियां हैं। इनके सहारे यह जीव विषयों का उपभोग करता है। जैसे तस्माद्वा एतस्मादाकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः। ईश्वर से क्रम से पहले आकाश। आकाश से वायु। वायु से अग्नि। अग्नि से जल और जल से पृथिवी। ये पंचमहाभूत पैदा हुए। उसी तरह इन पांचों से श्रोत्र, त्वग्, चक्षु, रसना एवं घ्राण रूप—पांच इन्द्रियां पैदा हुईं और उन्हीं से उसी क्रम से इन इन्द्रियों के गुण शब्द स्पर्श रूप रस एवं गन्ध पैदा होते हैं। आकाश महाभूत का गुण शब्द है जो श्रोत्र का विषय है। वायु महाभूत का गुण स्पर्श है जो त्वचा का विषय है। अग्नि महाभूतका गुण रूप है जो चक्षु का विषय है। जल महाभूत का गुण रस है जो जिह्वा का विषय है। पृथिवी महाभूत का गुण गन्ध है जिसका ज्ञान नासिका से होता है। इस पांच महाभूतों से क्रमशः उत्पन्न होनेवाली श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा शब्दादि पांच गुणों का ज्ञान होता है।

कर्मेन्द्रियों में तो क्रम नहीं है। वाणी इन्द्रिय आकाश महाभूत के गुण को करता है। पाद (पैर) इन्द्रिय वायु महाभूत के गुण स्पर्श को करती है। त्वचा से स्पर्श किया जाता है यद्यपि अतः हाथ से और शरीर से सभी का स्पर्श होता है तथापि भूमि का स्पर्श पैर से मुख्यतया अवश्य ही होता है क्योंकि पैरों से ही भूमि पर चलते हैं, हाथों से या शरीर से नहीं चलते हैं। अतः मुख्य एवं अमुख्य में से मुख्य में व्यवहार सिद्धान्त है।

हस्त इन्द्रिय तेज महाभूत के गुण रूप को करती है क्योंकि कि लिखा है कि (सर्वाण्यपि हि रूपाणि हस्तेनैव निर्मीयन्ते) सभी रूपों का निर्माण हाथ से ही किया जाता है। उपस्थेन्द्रिय मूत्रेन्द्रिय जल महाभूत के गुण रस को करती है मूत्र भी एक प्रकार का रस है यह भी औषध है। गोद के बच्चों को खांसी होती है तब माता

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

बालक्रीड़ा

लोग उनको उनके मूत्र को पिला देती हैं खांसी मिट जाती है। भारत के प्रधान मन्त्री मुरारजी भाई देशाई अपने मूत्र को पीते हैं। उसीसे नीरोग हैं ऐसी प्रसिद्धि है। अतः मूत्र रस है।

पायु गुदा पृथिवी महाभूत के गुण गन्ध को करती है। भले ही वह गन्ध दुष्ट है। सुगन्ध एवं दुर्गन्ध दो प्रकार का गन्ध है। ९।

इस प्रकार देह से उत्क्रमण करते हुए को माने पूर्वोपात्त देह को छोड़कर जाते हुए को, देश में स्थित को, शब्दादि विषयों की उपलब्धि करते हुए को यानी उनका उपभोग करते हुए को, सुख दुःख मोहात्मक गुणों से अन्वित को उन गुणों से समन्वय करते हुए को अर्थात् इन क्रियाओं के करने से देखने के योग्य अवस्थावाले को भी विषयों में फँसे हुए अत एव विमूढ लोग नहीं देख पाते हैं। किन्तु जो विवेकी हैं जिन्होंने शास्त्र के द्वारा ज्ञान चक्षु को प्राप्तकर लिया है वे उसको देख पाते हैं। यहां शरीरम् इस से देह से अलग आत्मा है यह बतलाया। उसके बाद श्रोत्रम् इस श्लोक से श्रोत्रादि का प्रवर्तक है तथा उनसे भिन्न है यह बतलाया। १०।

देह से अलग है श्रोत्रादि का प्रवर्त्तक है ऐसा जब जान गया है तब अपने स्वरूप को वह जीव क्यों नही देखता है इसका उत्तर यहां करते हैं।

विवेकी लोग जिन्होंने यत्न करके प्राप्त की हुई ज्ञानाञ्जन शलाका से नेत्रों का उन्मीलन कर लिया है अत एव सावधान हैं वे लोग अपनी बुद्धि में अवस्थित आत्मा को देखते हैं किन्तु जो यत्न करते हुए भी अचेता हैं असावधान हैं अत एव अकृतात्मा हैं संस्कृत बुद्धि नही है वे इसको नहीं देखते हैं।११।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् । १२।
गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ।१३।
अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।

बालक्रीड़ा

अब जिस पद को जिस धाम को जड़चेतनात्मक जगत् को भासित करने वाले सूर्यादि भासित नहीं कर सकते हैं क्योंकि उसके सामने वे निस्तेज हैं जिसको प्राप्त करने पर महात्मा विवेकी लोग फिर संसार को ताकते भी नहीं हैं। जैसे घटाकाश मठाकाश वगैरह उस महाकाश के अंश है वैसे ही उपाधि के भेद से जिस पदके अंश सदृश मालूम पड़ने वाले जीव झूठ मूठ ही संसार का अनुभव करते हैं वह पद सर्वात्मा है।

इस तथ्यको बतलाने के लिए संक्षेप में उसकी विभूति को उसके ऐश्वर्य को कहते हैं कि इन द्वादश सूर्यों में, चन्द्रमा में, ताराओं में, और विद्युत् में जो अखिल जगत् को भासित करने वाला तेज है वह मेरा ही दिया हुआ है (येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः। येन चक्षूंषि पश्यन्ति) ऐसा तुम समझो।। १२।

मैं ही पृथिवी में देवता रूप से प्रवेश कर के अपने बल से समस्त भूतों को धारण करता हूं। "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढ़ा। स दाधार पृथिवीम्" इत्यादि श्रुतियां हैं। मेरे द्वारा धारण करने के करण ही इतनी विशाल विस्तीर्ण एवं बोझिल पृथिवी न गिरती है और न शीर्ण विशीर्ण होती है और मैं ही इस पृथिवी ऊपर उगी हुई इन व्रीहियवात्मक औषधियों को रस स्वभाव सोम बनकर पुष्ट करता हूं।

मैं ही वैश्वानर नामक जाठर अग्नि बनकर प्राणियों के देह में स्थित हुआ प्राण एवं अपान के द्वारा संधुक्षण से तीव्र होकर भोज्य भक्ष्य लेह्य चोष्य रूप चार प्रकार के अन्न को पकाता हूं। भोज्य वह पदार्थ है जिसको केवल जिह्वा से विलोडितकर के निगल लिया जाता है जैसे पायस दाल चावल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।१४।

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।

बालक्रीड़ा

आदि। भक्ष्य वह पदार्थ है जिसको दांतों से काटकर खाया जाता है जैसे रोटी मालपूआ मोदकादि। चर्व्य वह है जिसे दान्तों से चवाया जाता है जैसे मूली, ककड़ी आदि। लेह्य वह पदार्थ है जिसका केवल जिह्वा से रसास्वादन किया जाय। यदि जो केवल जिह्वा से चाटा जाय वह लेह्य होता है कहेंगे तो गो प्रभृति पशु जो अपने वच्चों को और अपने पोषक मानव को चाटते ही हैं यही उन का प्रेम है। ऐसी हालत में वह बच्चा और वह मानव भी लेह्य कहलायेगा किन्तु वह लेह्य नहीं है जिह्वया लेढि केवलम्। पशु के पास लेहन के सिवाय और कोई भी प्रकार प्रेम प्रदर्शन का नहीं है। चोष्य वह है जो चूषा जाय किन्तु सीठी फेंक दी जाय। जब खाने की वस्तु नहीं होने पर भी लेह्य चोष्य को भी अन्न कहा गया है तव तो पेय को भी अन्न कहना चाहिए। और यह भी दृढ़ सिद्धान्त है कि पानी दूध और शर्वत आदि को भी जाठराग्नि ही पचाती है। बाज अन्न को कहते हैं वह वाज भी पेय होता है उसी को यज्ञ में पीकर ब्राह्मण वाजपेयी कहलाते थे तथा यज्ञ का नाम वाजपेय था। अतः पचामि अन्नं पञ्चविधम् पाठ यहां होना चाहिए।१४।

यहां का भाव यह है कि मैं ब्रह्मादि स्थावरान्त सभी प्राणिओं का आत्मा हूं अतः जीवात्मा के रूप से और अन्तर्यामी के रूप से उनकी बुद्धि में सन्निवेश करताहूं। बुद्धि में सन्निवेश का मतलब है बुद्धि के साथ तादात्म्य करना और उसके सभी गुण एवं दोषों को देखना। श्रुति भी कहती है स एष इह प्रविष्टः। अनेन जीवात्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि। यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानमन्तरः इति। अत एव मुझ आत्मा से पूर्वानुभूत अर्थ की स्मृति होती है तथा देश काल स्वभाव पात्र अवस्था आदि से सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट पदार्थ का ज्ञान एवं अपोहन होता है। जैसे पुण्यात्माओं को पुण्यकर्म के अनुरोध से स्मृति एवं ज्ञान होता है वैसे पापियों को पापकर्म के द्वारा उनका अपोहन होता है माने संशय विपर्यय भ्रम प्रमाद एवं इन्द्रिय

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।१५।

बालक्रीड़ा

वैकल्य से स्मृति एवं बुद्धि का नाश भी होता है। पण्डित जन वेदों का स्वाध्याय करके मुझे ही जानते हैं मैं ही उनके समझने का तत्व हूं। मैं वेदान्त का माने वेदों का अन्त निर्णय जिससे होता है वह ब्रह्म सूत्र ग्रन्थ हैं उसका करने वाला हूं और वेदों का जानकार भी मैं ही हूं।

यहां यह बतलाया है कि पृथिवी आदि के अन्तर्निविष्ट होकर मैं जैसे धारण पोषण करता हूं वैसे ही प्रणियों के हृदय में सन्निविष्ट होकर मैं ज्ञानादि की भी प्रवृत्ति करता हूं।१५।

इस प्रकार भगवान की विशिष्टता को बतलाकर अब क्षर एवं अक्षर उपाधियों से प्रविभक्त निरुपाधिक स्वरूप के निश्चय करने की इच्छा से अतीत एवं अनागत माने आगे के अध्यायो में प्रतिपाद्य अर्थ की तीन राशि करके कहते है। उनमें एक राशि है क्षर। दूसरी राशि है अक्षर। तीसरी राशि परमात्मा है। क्षर का अर्थ है जो अपने समय पर स्वतः नष्ट हो जाता है महदादि स्थूलपर्यन्त नश्वर संसार। यह सब एक पुरुष है। अक्षर जो परमात्मा के जाने विना नष्ट नहीं होता है ऐसा संसार का कारण मूलप्रकृति माया यह द्वितीय पुरुष हे। वस्तुतः ये दोनों पुरुष नही है क्यों कि परिच्छिन्न है किन्तु पुरुष परमात्मा की उपाधियां है अतः इनको भी उपाधि एवं उपाधिमान् में अभेद मानकर पुरुष कहते हैं। लोक में संसार में पुरुष आत्मा को संसारी बनाने वाले क्षर एवं अक्षर नाम ये के दो ही पुरुष हैं अर्थात् पुरुष की ये दो ही उपाधियां हैं अन्य नही हैं। वे कौन है इसको कहते हैं—सम्पूर्ण भूत माने पञ्च महाभूत एवं उनके कार्य देह तथा इन्द्रियादि सबको क्षर एवं कूटस्थ को अक्षर कहते हैं। यथार्थ वस्तु को छिपाकर अयथार्थ वस्तु का प्रकाशन करना माने वञ्चना या माया कूट है। इस कूट रूप से माने आवरणात्मक और विक्षेपात्मक इन दो शक्तियों के साथ जो स्थित है वह कूटस्थ है। यह संसार के बीजरूप से अनन्त अन्तरहित होने के कारण अक्षर कहलाता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।१६।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।१७।

बालक्रीड़ा

कोई कहते है कि देहों के विनाश होने पर भी जो कूट की तरह शिलाराशि पर्वत की तरह निर्विकार ही रहता है वह कूटस्थ चेतन कर्त्ता भोक्ता के रूप में प्रसिद्ध है सनातन सदा संसारी है उसी को विवेकी लोग अक्षर पुरुष मानते हैं यह किसी का कहना ठीक नही है क्योंकि क्षेत्रज्ञ को ही यहां पुरुषोत्तम कहते हैं अन्यथा (क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि) मुझे क्षेत्रज्ञ समझो इस कथन के साथ और (उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः) उत्तम पुरुष तो इनसे भिन्न है इस कथन के साथ भी विरोध हो जायगा अतः कार्योपाधि क्षर हैं और कारणोपाधि अक्षर है ये दोनों जड़ ही हैं। १६।

-'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्येत्" उसी आद्य पुरुष को प्राप्त करे इस तरह पहले जिस प्रपद्य प्राप्तव्य आद्य पुरुष का संकेत किया था और आदित्यादि को जिसकी विभूतियां बतलाई थी उसको कहते है कि वह उत्ताम उत्कृष्टतम पुरुष इन पूर्वोक्त क्षर और अक्षर से भिन्न है अत्यन्त विलक्षण है जिसे (परमात्मा इति) परमात्मा इस नाम से माने वेदान्तो में जिसे अविद्याकल्पित अन्नमय १ प्राणमय २ मनोमय ३ विज्ञानमय ४ एवं आनन्दमय ५ इन पञ्चकोशरूप आत्माओं से परम प्रकृष्ट अर्थात् अकल्पित वास्तविक सर्वभूतों का आत्मा प्रत्यक् चेतन कहा है और जो समष्टि एवं व्यष्टि स्थूल सूक्ष्म एवं कारण (लिंग) शरीर त्रयात्मक अपने आधार लोकत्रय में 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार बाहर भीतर सर्वत्र व्याप्त होकर सत्ता एवं स्फूर्ति का प्रदान करता हुआ भरण पोषण करता है। जो अव्यय है समस्त विकारों से शून्य हैं। तथा जो ईश्वर है सबका नियमन करता है शासन करता है। १७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।१८।
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ! ।१९।
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ! ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ! ।२०।
ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

बालक्रीड़ा

अब अपने पुरुषोत्तम इसनाम की प्रसिद्धि को निर्वचन के द्वारा अर्जुन को समझाते हैं—क्यों मैं पुरुषो मे उत्तम हूं उत्कृष्ट हूं क्यों कि उनमें एक पुरुषाक्षर है जन्म होनें से नश्वर है सिद्धान्त है जो पैदा होता है वह नष्ट हो जाता है। दूसरा अक्षर भी माया स्वरूप होने से विद्या से नाश्य है। किन्तु मैं इन दोनों को अतिक्रमण करता हूं विनाश रहित हूं अतः उत्तम हूं। इसी लिए मै हरिर्यथैकः पुरुषोत्तमः स्थलः इत्यादि कालिदासादि के काव्यों में और वेद में अव्यक्तात्तु परः पुरुषः' से उत्तमः पुरुषः, इन श्रुतियों में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूं। १८।

जो असंमूढ अनेक जन्मो से श्रद्धा और भक्ति के साथ समीचीन कर्मो के द्वारा आराधन से प्रसन्न हुए परमात्मा की कृपा का पात्र होने से मोह से रहित है अतः इस पूर्वोक्त प्रकार से मुझ पुरुषोत्तम को जानता हैं। हे भारत ! वह सर्ववित् सब प्रकार से मेरा भजन करता है। १९।

अब सिद्धान्तभूत सम्पूर्ण शास्त्र के तत्त्वको भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि हे अनघ ! हे इस मेरे माहात्म्य को सुन पाप रहित अर्जुन ! इस गुह्यतम शास्त्र को मैंने तुमको बतलाया समझाया। हे भारत। हे भरत वंशप्रभूत ! जो भी बुद्धिमान् विवेकी इसको समझेगा मनन करेगा वह अवश्य ही कृत कृत्य होगा उसके सभी कृत्य कार्य कृत माने सफल होंगे। २०।

इस प्रकार श्रीमधुसूदन शास्त्री की कृति बालक्रीडा में श्रीमद्भगवद्गीता का १५ अध्याय सम्पूर्ण हूआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ षोडशोऽध्यायः

अथ अब सोलहवें अध्याय की हिन्दी टीका बालक्रीड़ा का आरम्भ करते हैं।

कर्म प्रधान जगत् रचि राखा। जो जस करहि सो तस फल चाखा। इस सिद्धान्त के अनुसार कर्मों से प्राणियों के हृदय में वासनाए पैदा होती हैं। वे ही वासनाएं दैवी एवं आसुरी प्रकृति के रूप में पूर्व नवम अध्याय में बतलाई हैं। इनमें उत्तम ज्ञान के उपाय अन्तःकरण की शुद्धि के लिए वेदविहित कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति कराने वाली सात्त्विकी शुभ कामनाएं दैवी प्रकृति कहलाती हैं। अन्तः करण को अशुद्ध करने वाले रागदोषानुसारी अनर्थ हेतु वेद निषिद्ध कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्ति कराने वाली राजसी एवं तामसी अशुभ वासनाएं आसुरी प्रकृति कहलाती हैं। राक्षसी प्रकृति का अलग निर्देश नही करने का हेतु है कि असुर भी सुरद्वेषी हैं और राक्षस भी सुरद्वेषी हैं। अतः सुरद्वेषी होने के कारण असुर और राक्षस दोनों को एक माना गया है तदनुसार उन उन प्रकृतियों को भी एक मान लिया गया। वस्तुतः विषयों के उपभोग की जहां प्रधानता है वहां राग प्रबल होता हैं अतः रागमयी प्रकृति आसुरी है। और जहां हिंसा की प्रधानता है वहां द्वेष प्रबल होता है अतः द्वेषमयी प्रकृति राक्षसी है। प्रकृत में शास्त्रों के अनुसार वेदविहित प्रवृत्तियों की तरफ ले जाने वाली सात्त्विकी शुभवासना दैवी सम्पत् है और शास्त्र को अतिक्रमण करके शास्त्र के सिद्धान्तों का उल्लंघन कर के वेद निषिद्ध प्रवृत्तियों में ले लानेवाली राजसी एवं तामसी अशुभ वासनाएं (राक्षसी एवं आसुरी को एक मान लेने से) आसुरी सम्पत्ति है। इस प्रकार शुभ और अशुभ वासनाएं दो राशियों में (द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च) प्रजापति की संतान देव और असुर ये दो हैं इस श्रुति के अनुसार विभक्त हैं प्रसिद्ध है। इनमें शुभों को लेना चाहिए और अशुभों को छोड़ना चाहिए इस तथ्य को बतलाने के लिए १६वें अध्याय का आरम्भ करते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसके आरम्भ में गीता के सिद्धान्त का प्रतिपादन अभिनवगुप्ताचार्य इस प्रकार करते हैं। वे कहते हैं कि भगवान् ने १५वें अध्याय के अन्त में "एतद बुध्वा बुद्धिमान् स्यात्" यह श्लोक कहा है। इसमें बोध पदार्थ है सजातीय एवं विजातीय दोषों से रहित तथा श्रुतियों से एवं यह ठीक है ऐसा ही है इत्थंभूत है इस प्रकार ही है इससे अन्यथा नही है

ऐसी युक्ति एवं चिन्तनों से समृद्ध भावना रूप है जो विचार विमर्श या परामर्श से उदित होता है। जिसके मिलने पर ही यह कह जाता है कि इसको समझो फिर जैसा चाहो वैसा करो (यह १८वें अध्याय में कहा जाएगा)।

इनमें श्रुतियोंसे उदित होने वाले ज्ञानमें गुरु और शास्त्र की प्रधानता है और युक्ति एवं चिन्तनों से समृद्ध भावना में विचार विमर्श की क्षमता है। जो शिष्य की असाधारण गुणसम्पत् है। ऐसी क्षमता अर्जुन में भगवान् समझते हैं अत एव आगे १८।६३ में कथनीय 'विमृश्य एवम्' इस वाक्य को स्पष्ट करने की भूमिका करने के अभिप्राय से कहते हैं। अभयम्। आत्म चिन्तन के लिए पहाड़ की गुफा में एकान्त निवास में भी भयका अभाव। शास्त्रीय अर्थ का, सन्देह को छोड़ कर अनुष्ठान करना। अकेला हूं जीवन निर्वाह की वस्तुओं के विना कैसे जीवन विताऊंगा इस तरह के भय का नही होना। सत्वसंशुद्धि सभी तरह के व्यवहार में अन्तःकरण कीं पवित्रता दूसरे की वंचना नही करना एवं दूसरे के साथ माया नही करना तथा झूठ नही बोलना छल कपट नही करना शुद्ध स्वभाव से व्यवहार करना। किसी बहाने से दूसरे को वश में करना बंचना है मन में कुछ अन्यथा रखना और व्यवहार में कुछ अन्यथा व्यवहार करना माया है। जैसा देखा है या सुना है या अनुभव किया है उससे विरुद्ध बोलना अनृत है। शास्त्र से एवं आचार्य से पढकर आत्मादि पदार्थों का यथार्थ अवगम ज्ञान है। अवगत किये हुए पदार्थों को चित्त की एकाग्रता के द्वारा अपने अनुभव में लेना योग है। इन दोनों की व्यवस्था ज्ञान योग व्यवस्थित है। यह एक व्याख्या है।

जब तो अभयं सर्व भूतेभ्यः इस सिद्धान्त के अनुसार सम्पूर्ण भूतों को अभय देने के संकल्प का पालन करना अभयपदका अर्थ है। श्रवण मनन एवं निदिध्यासना के अभ्यास से अन्तः करण के दोषों का असंभावना विपरीत भावना भ्रम

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् । १ ।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।

बालक्रीड़ा

प्रमाद एवं इन्द्रिय विकलता का नही होना सत्त्व संशुद्धि है। आत्मा का साक्षात्कार ज्ञान है और मन की चञ्चलता का दुरभिसन्धियों का नाश एवं वासना के क्षय के अनुकूल पुरुष का प्रयत्न योग है इन दोनों के द्वारा होनेवाली अन्य संसारी जीवों की अपेक्षा विलक्षण जीवनन्मुक्ति रूपा अवस्था ज्ञानयोग व्यवस्थिति है ऐसी व्याख्या करते है तब यह दैवी सम्पत् साध्य है। क्यों कि भगवान् की भक्ति के विना अन्तः करण की शुद्धि नही हो सकती है उसकी शुद्धि तो भक्ति से ही होती है ऐसा भगवान् ने कहा है।

इस तरह परमहंसों की साध्य भूता दैवी सम्पत् को कहकर अब गृहस्थों के उपयोगी दैवी सम्पत् को कहते हैं। शक्ति के अनुसार दीन दुःखियों को अन्नादि का वितरण दान है। दम वाह्य कर्मेन्द्रियों का संयमन है। यानी मैथुनादि नही करना। अन्तःकरण के विषय की शान्ति को आगे कहेंगे। यहां यह भी सिद्धान्त है कि दम अन्तःकरण का दमन है क्योंकि दशकं धर्मलक्षणम् के धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहम् इसमें दम से अलग इन्द्रिय निग्रह लिखा है। अतः दोनों ही मत हैं। यज्ञ श्रौत एवं स्मार्त्त अग्निहोत्र। श्रौत पञ्चाग्नि में हवन है और स्मार्त्त गृह्याग्नि में हवन है। इसके सिवाय देवयज्ञ पितृयज्ञ भूतयज्ञ एवं मनुष्ययज्ञ यह चार प्रकार का यज्ञ है। स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ है जो वेदों का धर्मशास्त्रों का पुराणों का शिक्षादि छहों अंगों का अध्ययन एवं अध्यापन स्वरूप है। तप कायिक वाचिक एवं मानसिक भेद से तीन प्रकार का है इसको आगे १७ वें अध्याय में बतायेंगे। यहां यज्ञ शब्द से पहले ४र्थ अध्याय में बतलाये हुए यज्ञों को भी समझना चाहिए। आर्जव सरलता श्रद्धालुओं के साथ वक्रता नही करना उनसे अपने ज्ञान को नही छिपाना। १।

अहिंसा किसी भी प्राणी की वृत्ति का छेदन नही करना किसी भी प्राणी को पीडा नही देना। सत्य किसी के अनर्थ का विनाश का हेतु न बने ऐसा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् । २ ।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।

बालक्रीड़ा

जो जैसा देखा सुना या अनुभव किया उसको वैसा ही कह देना सत्य है। क्यों कि "सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् । प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः" प्रिय सत्य को कहना चाहिए अप्रिय सत्य को नही कहना चाहिए, प्रिय मिथ्या को नही कहना चाहिए यही सनातन धर्म है। अक्रोध किसी के भी द्वारा आक्रोशन निन्दात्मक कष्ट प्रदायक दुर्वचन के कहने या ताडन करने या डांट डपट करने पर उत्पन्न हुए क्रोध को दवा लेना है। नित्य नैमित्तिक काम्य एवं निषिद्ध अर्थात् सब तरह के कर्मों को ईश्वर अर्पण करने की बुद्धि से फल को छोडना त्याग है। शान्ति अन्तः करण की उपरति है। दूसरे के छिद्रों को दूसरों में प्रकाशन नही करना यानी चुगली नही करना अपैशुन है। दीनों पर दुःखियों पर उनके कष्टों को देखकर सुनकर अनुभव करके पिघल जाना चित्त का कम्पित होना दया है। अलोलुपत्व कहीं पर पाठ है और कहीं पर अलोलुप्त्व पाठ है। वस्तुतः अलोलुपत्व पाठ होना चाहिए। छन्द के अनुरोध से प के अकार का लोप कर दिया है उसका अर्थ है विषयों के मिलने पर भी इन्द्रियों में विकार नही होना। मार्दव कोमलता। ह्री लज्जा। अचापल विना प्रयोजन के वृथा चेष्टा नही करना। मार्दव का अर्थ है वृथा पूर्व पक्ष में भी शिष्यों को या औरों को विना क्रूरता के विना अप्रिय भाषण के भी पदार्थ के तत्त्व को समझाना। ह्री का अर्थ है अकार्य के दुष्कार्य के करने में चित्त का संकोच यानी प्रवृत्ति का नही होना। २।

तेज प्रगल्भता दुर्जनों के द्वारा नही दबाया जा सकना। क्षमा सामर्थ्य रहते हुए भी अपराधी अपने व्यक्ति पर या दूसरे पर चित्त की विकृति नही होना। धृति आपत्ति में भी अपने धर्म से विचलित नही होकर कर्तव्य का निश्चय करना कर्तव्य निष्ठा को बनाये रखना माने देह इन्द्रिय मन एवं बुद्धि को गिरने नहीं देना। शौच शुद्धि यह तीन प्रकार की होती है। उनमें पहली बाह्य शुद्धि जैसे मृत्तिका जल एवं उवटन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ! । ३ ।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च ।

अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ ! संपदमासुरीम् । ४ ।

दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता ।

बालक्रीड़ा

के द्वारा देह के मल को दूर करना, सावुन सोडा रीठा वगैरह से वस्त्र के मलको एवं मार्जनी आदि के द्वारा घर के मल को दूर करना । दूसरी भगवच्चिन्तन ध्यान जप पूजनादि से अन्तःकरण को शुद्ध करना । दुर्वासनाओं को नष्ट करना आन्तरिक है । तीसरी रुपये पैसे के मामले में पवित्रता । योऽर्थे शुचिः स शुचिः न मृद्वारिशुचिः शुचिः ऐसा मनुमहाराज का कथन है । अद्रोह द्रोह नही करना मन बुद्धि देह इन्द्रिय एवं वाणी के द्वारा किसी का भी अनिष्ट नही करना । नातिमानिता मैं सवसे वड़ा हूं मेरे सामने सव तुच्छ हैं इस वासना से अपने में वडप्पन की भावना का नही होना माने पूज्यों में नम्रत्ता, समकक्षा वालों में समता, अपनी विरादरी में बुद्धि में व्यवहार में छोटों बर वात्सल्य रखना अर्थात् घमण्ड नही रखना ये धर्म दैवी सम्पत् के आश्रय से पैदा होने वाले में होते हैं हे भारत ! ।।३।।

हे पार्थ ! आसुरी सम्पत् के आश्रय से पैदा होने वाले प्राणी में दम्भ अपने को धार्मिक अर्थात् धर्मध्वजित्व के रूप में ख्यापन करना । दर्प विद्या, धन, एवं बांहु बल के द्वारा आत्म संभावना से अपने वड़ों का अपमान करने में भावना प्रधान औद्धत्य । अभिमान अपने में अतिष्टश्रेष्ठता का अभिनिवेश या आवेश । क्रोध अपने एवं दूसरों के अपकार करने की प्रवृत्ति के कारण चित्त की जलन । पारुष्य रूक्षता के साथ अप्रिय कठोर बोलना और कर्त्तव्य और अकर्त्तंव्य के विवेक का नहीं होना इत्यादि धर्म होते हैं । ४ ।

अब इन दो प्रकार की सम्पत्तियों के फल को कहते हैं । जहां दम्भादि भी सम्पत्तियां हैं तब वहां विपत्तियां क्या होंगी । गीताकार ने इनको भी सम्पत् शब्द से कहा है । इसका मतलव है कि कोई काहू में मगन कोई काहू में मगन होता है । ये

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव ।५।

बालक्रीड़ा

असुर लोग हैं जो घोर कर्म करने में प्रवृत्त होते हैं। अतएव दूसरों के असु प्राणों के र माने आकर्षण करने में नहीं चूकते हैं और अपने असुर नाम को चरितार्थ करते हैं।

इन सम्पत्तियों में दैवी सम्पत् का फल है मोक्ष संसार के बन्धन से छुटकारा पाना और आसुरी सम्पत् का फल है संसार के बन्धन में जकड़ जाना। किन्तु हे पाण्डव! तुम सोच-फिक्र मत करो क्योंकि तुम दैवी सम्पत् के आश्रय से पैदा हुए हो।

प्रश्न—दैवी सम्पत् और आसुरी सम्पत्—इस तरह दो ही सम्पत् आपने बतलाई और फिर कहते हैं कि तुम सोच-फिक्र मत करो क्योंकि तुम दैवी सम्पत् में अभिजात हो। परन्तु हे भगवन्! मैं तो मनुष्य हूं। मुझे देवता कैसे कहते हैं? इसका क्या कारण है?

उत्तर—इस मनुष्य लोक में दो ही सर्ग है। एक दैव है दूसरा आसुर है।

यहां का भाव यह है कि त्रयाः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुः देवा मनुष्या असुराः। इति श्रुति के अनुसार तीन प्रकार के प्राणी हैं। इनमें जब धर्म और अधर्म दोनों का समान भाव होता है (सत्यानृते मिथुनीकृत्य) सत्य और अनृत का जोड़ा जहां रहता है वह प्राणी मनुष्य है। किन्तु जब जो मनुष्य शास्त्रीय संस्कारों की प्रबलता के बदौलत स्वभाव प्राप्त राग और द्वेष को दबा लेता है तब देव कोटी में परिगणित होता है (विद्वांसो हि देवाः) विद्वान ही देव होता है। यह श्रुति इसमें प्रमाण है। तथा जिस समय जिस मनुष्य के स्वभाव सिद्ध राग और द्वेष की प्रबलता के कारण शास्त्रीय उत्तम संस्कार दब जाते हैं अतः वह शास्त्र निषिद्ध कर्म करने के कारण अधर्म परायण हो जाता है तब वही मनुष्य असुर हो जाता है। इसी असुर को ही राक्षस भी कहते हैं क्यों कि राग की कामोपभोग की प्रधानता में मनुष्य की ही असुर संज्ञा है और द्वेष के कारण हिंसा की प्रधानता में इसी की राक्षस संज्ञा है। वस्तुतः यह मनुष्य लोक है इसमे मनुष्यों की ही ये दो संज्ञाए है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुर पार्थ मे शृणु । ६ ।

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते । ७ ।

बालक्रीड़ा

श्रुति कहती है (तदेतत् एव एषा दैवी वाक् अनुवदति स्तनयित्नुः द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वम् इति तदेतन् त्रयं शिक्षेत् दम दानं दयाम् इति) कि प्रजापति ने द द द इस एक ही अक्षर के द्वारा दम रहित मनुष्यों को दम का उपदेश किया, दान नहीं करने वालों के प्रति दान करने की शिक्षा दी, दया शून्य अन्तः करण वाले मनुष्यों को दया का सिद्धान्त समझाया। अतः ये देव मनुष्य एवं असुर विजातीय नहीं है सब मनुष्य ही हैं क्यों कि शास्त्र के अधिकारी मनुष्य ही होते हैं।

जिनमें दैव सर्ग को विस्तार से मैंने कह दिया है अब हे पार्थ ! आसुर सर्ग को मुझसे सुनो। विस्तार कहने का मतलव है स्थित प्रज्ञ के लक्षण कहने के प्रसङ्ग मे २ अध्याय में, रसोऽहमप्सु कौन्तेय इत्यादि में ७वें अध्याय में, अहं क्रतुरहं यज्ञः इत्यादि में ९म अध्याय में, अनन्येनैव योगेन इत्यादि में १२ अध्याय में, अमानित्वादि ज्ञान लक्षण में १३वें अध्याय में, गुणातीत लक्षण में, १४वें अध्याय में, निर्मानमोहा इत्यादि में १५वें अध्याय मे, अभयं सत्त्वसंशुद्धिः इत्यादि में १६ अध्याय में विस्तृत है। ६।

आसुरी सृष्टि के मनुष्यों का चाल चलन बतलाते हैं। आसुर लोग असुरों के स्वभाववाले मनुष्य वेदादि शास्त्रों के द्वारा विहित कर्तव्य कर्मों में प्रवृत्ति करनी चाहिए और निषिद्ध अकर्तव्य कर्मों से निवृत्ति करनी चाहिए इस तथ्य को नही जानते हैं इसी का परिणाम है कि न उनमें शौच है न आचार है न और सत्य है। इस के विपरीत वे अपवित्र हैं अनाचारी हैं मिथ्याभाषी हैं और पाखण्डी हैं मायावी हैं।७।

संसार में समी वस्तु या समी पदार्थों के बारे मे क्यों और क्यों नही ! ऐसा प्रश्न होता है। परन्तु सुख और दुःख ये दो वस्तु या दो पदार्थ ही ऐसे हैं जिनके बारे

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

में क्यों चाहते हो और क्यों नहीं चाहते हो ये प्रश्न नही होते हैं। इसका कारण है कि स्वभावतः सुख के लिए सबकी प्रवृत्ति होती है और दुःख से सबकी निवृत्ति होती है अतः यह शील है। शिलावत् दृढ़ है।

इनमें सुख का मूल कारण पुण्य है और दुःख का मूल पाप है। पुण्य उत्तम कर्मों से पैदा होते हैं और पाप निन्दित कर्मों से पैदा होते हैं अत एव वेदशास्त्र ने उत्तम कर्मों का शासन किया विधान किया और निन्दित कर्मों के करने का निषेध किया। वेदविहित एवं वेदनिषिद्ध कर्मों के करने एवं नहीं करने को गुरु बताते हैं गुरु के माता के पिता के उपदेश के बिना इनको जानना असम्भव है क्यों कि वेद स्वयं बतलाता नही है अतः उनके जानने का मार्ग माता पिता एवं गुरु ही हैं और कोई मार्ग नही है।

जब यही सिद्धान्त जिनका है कि [त्रयों वेदस्य कर्त्तारो धूर्त्तभाण्डनिशाचराः] धूर्त्तों ने भाण्डो नें एवं निशाचरों इन तीनों ने वेद को बनाया है। तब वे वेद को क्यों मानेंगे जब वेद को नही मानते हैं तब (मूलं नास्ति कुतः शाखा) जहां मूल ही गायब है व ां शखायें कहां से आयेगी। फलतः वेदों को नहीं मानने वाले नहीं पढ़ने पढ़ाने वालों में गुरु के उपदेश को कौन मानेगा। माता एवं पिता के उपदेश क्यों मानेगा। ऐसी हालत में किसमें प्रवृत्ति करनी चाहिए किससे निवृत्ति करनी चाहिए इत्यादि जानकारी कैसे और कहां से होगी। जब जानेगा ही नही तब उसका आचरण कैसे करेगा। आचरण नही करेगा तब धर्म भी नही प्राप्त होगा क्यों कि (आचार प्रभवो धर्मः) धर्म की पैदाइस आचार से ही होती है जब धर्म नही है तब शौच एवं सत्य कैसे प्राप्त करेगा। कैसे जानेगा। जो सत्य को नहीं जानता है उसके लिये तो सब कुछ असत्य ही है जब सब कुछ असत्य ही हैं तब जगत् भी असत्य है जब जगत् असत्य है तब यह अप्रतिष्ठ है क्यों कि जगत् का व्यवहार सत्य के आधार पर ही अवलम्बित है। जब अवलम्ब ही नही रहेगा ईशनीय यानी जिनपर शासन किया जाता है जब वे नही रहेंगे तब शासक की क्या आवश्कता है। अतः जगत् अनीश्वर है। जब जगत् में ईश्वर नही है उसका कोई शासक नही है तब सब व्यवहार मनमाना ही होगा। अतः सबका हेतु काम ही है इच्छा ही है जो जस भाव ही सो तस करही। यह तुलसी की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उक्ति चरितार्थ होगी इसके विषय में और क्या कहें अपरस्पर सम्भूत होंगे अर्थात् सब व्यवार परस्पर के सहयोग के विना अपने अपने मन से सब कार्यों को लोग करेंगे।

यह एक अर्थ है। दूसरा अर्थ इन अक्षरों के सिद्धान्त के अनुसार यह है कि (अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थः ! सम्पदमासुरीम्) आसुरी सम्पत्ति में अभिजात मनुष्य को अज्ञान है यानी उसको ज्ञान नहीं होता है इसका मतलब है शास्त्रीय ज्ञान नहीं है। यह नहीं है कि वह ज्ञान से ही शून्य है। अतः शास्त्रीय ज्ञान के नहीं होने से शास्त्रीय प्रवृत्ति निवृत्ति शौच आचार एवं सत्य नही है। इसके विपरीत अशास्त्रीय तो ये सब कुछ हैं हीं।

फलतः शास्त्र कहता है (ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या) कि ब्रह्म सत्य है और जगत् असत्य है झूठा है। (नेह नानास्ति किञ्चन) यहाँ नाना भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ने वाला कुछ नहीं है अर्थात् सब जगत् नश्वर है। वेद की मीमांसा करने वाले मीमांसक कहते हैं कर्म ही है कर्म से फल मिलता है ईश्वर नहीं हैं। सांख्य शास्त्र भी कहता है कि ईश्वर नहीं है।

जैसे सांख्य शास्त्र में गुणों को अन्योन्याभिभव वृत्ति वाले हैं अन्योन्याश्रय वृत्ति वाले हैं अन्योन्यजननवृत्ति वाले हैं अन्योन्यमिथुन वृत्ति वाले हैं ऐसा कहा है न कि अन्योन्यसम्भूत कहा है अतः वे गुण परस्परसम्भूत नहीं है। अपरस्पर-सम्भूत है।

वेदान्तशास्त्र में कहा है कि (कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा धृतिः अधृतिः ह्री धीः (बुद्धि) भीः इत्येतत्सर्वं मन एव) काम मन ही है। अतः प्रकृत कामहैतुकम् का अर्थ हुआ मनः कारणक जगत है। मनः परं कारणमामनन्ति। मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ऐसी हालत में असत्यम् यह ८वां श्लोक शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार संगत ही है। अतः दैवी सम्पत् के प्रकरण में इसको कहना चाहिए था न कि आसुरी सम्पत् के निरूपण के प्रसङ्ग में कहना चाहिये। किन्तु इसको कहा है कि आसुरी सम्पत् के प्रसङ्ग में अतः इसका यह अर्थ है—

जगत् असत्य है जैसे अनुत्तमः पुरुषः में बहुव्रीहि समास है अतः उसका अर्थ है 'नास्ति उत्तमो यस्मात्'। जिससे उत्तम पुरुष कोई नहीं है वही सर्वोत्तम है उसी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसंभूतं किमन्यत्कामहैतुकम् । ८ ।

बालक्रीड़ा

तरह असत्यम् है इसमें भी बहुव्रीहि समास है अतः नास्ति सत्यं यस्मात् जिससे बढ़कर सत्य वस्तु कोई नहीं है । ब्रह्म के लिए कहा है (सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये । सत्यस्य सत्यं ऋतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपद्ये) आप सत्यव्रत हैं सत्य पर हैं तीनों काल में सत्य हैं सत्य के कारण हैं सत्यपर निहित हैं आश्रित हैं सत्य के भी सत्य हैं अतः ऋत और सत्य को ले चलने वाले हैं और सत्यस्वरूप हैं । अत एव मैं आपको शरण रक्षक मानता हूं ।

और संसार जो झूठ ही लेना झूठ ही देना झूठ ही चवेना है किन्तु कहना होता है कि मैं कभी झूठ नहीं बोलता हूं । कचहरी में शपथ लेता है कि ईश्वर साक्षी है कि मैं सत्य कहता हूं । इस तरह सत्य बोलने की प्रतिज्ञा करता है किन्तु फिर पूरी की पूरी बात असत्य बोलता है । सत्य का लेश भर भी नहीं कहता है परन्तु कहता है मानता है दूसरों को विश्वास दिलाता है कि मुझसे बढ़कर सत्यव्रत कोई दूसरा नहीं है । पैसा सत्य है थोड़े से पैसे के लिए भाई भाई की कत्ल कर देता है ।

जगत् अप्रतिष्ठ है यहां भी वही समास है । नास्ति प्रतिष्ठः स्थितिशाली यस्मात् जिससे बढ़कर दूसरा कोई स्थितिशाली नहीं है ऐसा जगत् है अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम् । शेषा वै स्थातुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतःपरम् प्रतिदिन प्राणी यम मन्दिर जाता है मरता है किन्तु मरने वाले के सिवाय सभी कोई ठहरना चाहते हैं । अतः जगत् स्थितिशाली है ।

जगत् अनीश्वर है यहाँ भी वही कथा है । वेन राजा ने कहा था कि न यष्टव्यम् न होतव्यम् । मैं ही ईशन करने वाला हूं मेरे सिवाय दूसरा कोई ईश्वर नहीं है अतः मुझसे अन्य के लिए न यज्ञ करो और न हवन करो । जो कुछ भी यज्ञ याग हवन आदि करो वह मेरे लिये करो । आज भी वही स्थिति है किसी को कोई शासक नहीं मानता है । ऐसा अनीश्वरवाद है । जगत् अपरस्परसम्भूत है अर्थात

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः ।
मोहाद् गृहीत्वासद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः ॥ १० ॥

बालक्रीड़ा

परस्पर में एक दूसरे में सम्भून सम्भूय माने मिलकर स्थित होना नहीं है ईर्ष्या द्वेष के कारण परस्पर में मेल जोल नहीं है । अतएव कामहैतुक जगत् है मतलव की दुनिया है । मतलव निकलता है तो दुनिया है नहीं निकलता है तो नहीं । इसीलिए इस स्थिति वाले को गीताकार ने आसुरी भाव मे पैदा हुआ कहा है ।८।

इसी अर्थ को लेते हैं तभी अगले श्लोक की संगति होगी अन्यथा नहीं होगी । अगला श्लोक यह है ।

इस दृष्टि का इस दृष्टि कोण का समझने के तरीके का अवष्टम्भन अवलम्बन करके चलने वाले व्यक्ति अल्पबुद्धि होते हैं उनकी बुद्धि अल्प होती है यानी क्षुद्रविषयों की तरफ जाती है अतः वे महात्मा नही होते हैं अपितु नष्टात्मा होते हैं उनकी आत्मा उनका अन्तः करण मन बुद्धि चित्त एवं अहंकार सव कुछ गिर जाता है जिसके परिणाम स्वरूप वे अहितकारी होकर उग्र कर्म मार काट लूट पाट करने लगते हैं तथा जगत् के नाश करने के लिए तुल जाते हैं क्योंकि अपने को प्रभु समर्थ मानते हैं । ९ ।

न जातु: कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते । जैसे घी अग्नि में छोड़ने से अग्नि ओर बढता ही है शान्त नही होता है उसी तरह कामनाओं के उपभोग करने से काम बढता ही है शान्त नही होता है अतः यह काम दुःशम है दुष्पूर है । इस दुष्पूर काम का आश्रयण करके दम्भ आचरण से मिले हुए वडप्पन के मिथ्या अभिमान में चूर होकर मदोन्मत्त हुए अशुचि गन्दे व्रत नियमों का पालन करनें से विवेकशून्य हो जाते हैं दुराग्रह में प्रवृत्त हो जाते हैं । १० ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः ॥ ११ ॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोध परायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥ १४ ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मम ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥

बालक्रीड़ा

मरते दम तक वेबुनियादी चिन्ता में डूब जाते हैं और कामों का उपभोग करना ही परम लक्ष्य है ऐसा मानकर बस इतना ही है कर्त्तव्य है बस यही जीवन का लक्ष्य है ऐसा निश्चय कर लेते हैं। ११।

सैंकड़ों प्रकार के आशारूपी फन्दों से जकडे हुए काम एवं क्रोध में मशगूल होकर अन्याय के मार्ग से अर्थ के सञ्चित करने में इच्छापूर्वक लगे रहते है। १२।

आज मैंने इतना प्राप्त कर लिया है अब इस कामना को भी पूरा करूंगा। यह धन तो मेरे पास है ही यह धन भी मेरा हो जायगा। मुझे मिल ही जायगा।१३।

यह मेरा शत्रु नष्ट हो गया है अब अन्य शत्रुओं को भी मार दूंगा। मैं शक्तिशाली ईश्वर हूं। मैं भोगी हूं। मैं सिद्ध हूं। बलवान् हूं। मैं सुखी हूं। १४।

मैं आढय हूं। मैं धनी हूं। मैं अभिजनवाला हूं। कुलीन हूं। मेरे जैसा इस दुनियां में दूसरा कौन है। अब मैं यज्ञ करूंगा। दान दूंगा और मस्ती लूंगा आनन्द में विभोर रहूंगा। इस प्रकार अज्ञान से मोहित हुए। १५।

तथा अनेक प्रकार के विषयों की स्मृति से मोह के फन्दे में फसे हुए ये लोग कामों के विषयों के उपभोग में प्रसक्त होकर अपवित्र नरक में पड़ जाते हैं। १६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८ ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय! ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥

बालक्रीड़ा

अपने आप अपनी बडाई करके अपने को बडा मानकर स्तब्ध माने किसी को भी प्रमाण नही मानते हैं और धन के कारण होने वाले मान के अभिमान के मद से विह्वल हुए दम्भ कपट से विधि विधान रहित यज्ञों को करते हैं। यजन करते है जो कि सब निष्फल है। अथवा नाम कमाने के लिए यज्ञों को करते हैं ये वाजपेयी हैं ये सोमयाजी है ये दीक्षित हैं ऐसी प्रसिद्धि को कमाने के लिए यज्ञों को करते हैं जो कि नाम मात्र के यज्ञ करते हैं वस्तुतः शास्त्रानुसार विधि विधान से यज्ञ नही करते हैं। १७।

अहंकार माने मैं हूं यह तो सबको होता है किन्तु जबरन् अपने में थोप लिए हुए गुणों में मै विद्वान् है मैंने काम को परास्त कर दिया है इत्यादि मिथ्याभिमान से, बल माने दूसरे को दबा देनेवाली शरीर की शक्ति से, दर्प माने सबको तुच्छ समझकर गुरु एवं बड़ों की आज्ञा का उल्लघन करने से, काम इष्ट विषयाभिलाष से, क्रोध दूसरे के द्वारा किये गये आक्रोश एवं ताडन से होनेवाले चित्त के क्षोभ से, और दूसरे की अच्छाई को नही सहने रूप अभ्यसूया से ये लोग आत्मीयों के शरीर में तथा पराये के शरीरों में रहने वाले मुझसे द्वेष करते है।१८।

जो सबसे द्वेष करते हैं क्रूर हैं अत एव संसार में अधम नर कहे जाते हैं और अजस्र निरन्तर अशुभ पाप कर्मों में लगे हुए रहते हैं ऐसे इन लोगों को में आसुरी योनि में ही डालदेता हूं फेंक देता हूं। १९।

जन्म जन्म में प्रत्येक जन्म में ये मूढ लोग आसुरी योनि को ही प्राप्त करते हैं। अतः ये मुझको नही प्राप्त करके हे कौन्तेय! अधम गति को प्राप्त करते हैं।२०।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥
एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥ २२ ॥
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥

बालक्रीड़ा

अपने को आत्मा को नष्ट करने वाले नरक का यह तीन प्रकार का द्वार है। एक काम है दूसरा क्रोध है तीसरा लोभ है। इस लिए अपना भला चाहने वालों को चाहिए कि इन तीनों को छोड दे। २१।

हे कौन्तेय ! इन तीन नरक के द्वारों से छूटने पर ही मानव अपना कल्याण कर सकता है। उसके वाद उत्तम गति को प्राप्त कर लेता है। २२।

अतः जो शास्त्र की विधि को छोडकर मनमाना आचरण करता है वह न इस लोक की सुख समृद्धियों को प्राप्त करता है और न उत्कृष्ट गति को प्राप्त करता है। २३।

इसलिए यह कार्य है कर्त्तव्य है यह अकार्य है अकर्त्तव्य है इसकी व्यवस्था में इसके निर्णय करने में शास्त्र तुम्हारे लिए प्रमाण है। फलतः शास्त्र में बतलाये हुए विधान को जानकर तदनुसार तुमको कर्म करने चाहिए।

इति श्रीमधुसूदन शास्त्री कृति हिन्दी टीका बालक्रीडा में श्रीमद्भगवद्गीता का १६ वां अध्याय समाप्त हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ सप्तदशोऽध्यायः

अथ १७ वें अध्याय की बालक्रीड़ा हिन्दी टीका का आरम्भ करते हैं।

पहले सोलह वें अध्याय के अन्त में भगवान् ने समझाया था कि जो शास्त्र के द्वारा बतलाई हुई विधि का उत्सर्ग परित्याग करके माने जान बूझकर छोड़ कर के [उत्सर्ग परित्याग प्राप्त की हुई और जानी हुई वस्तु का ही होता है अतः जान बूझकर छोड़कर के अर्थ करना उचित है] अपने मनमाने ढंग से आचरण करता है उसको न तो सिद्धि लौकिक उत्कर्ष भौतिक फलसमृद्धि मिलती है न सुख मिलता है और न परा उत्तम गति स्वर्ग या मोक्ष ही मिलता है। अर्थात् कुछ भी नही मिलता है। अतः यह शास्त्रीय विधान है और यह शास्त्रीय निषेध है इसकी व्यवस्था के पालन करने के वारे में शास्त्र ही प्रमाण है क्योंकि इन में मनमानी व्यवस्था नही होती है। अतः शास्त्र के विधि विधान को जानकर कर्म करना चाहिए।'

इस पर अर्जुन ने पूछा [यहां अर्जुन उवाच का अर्थ 'अर्जुन ने कहा' ऐसा अर्थ नही है क्योंकि (तेषां तु का निष्ठा) उनकी निष्ठा कैसी है ऐसा अर्जुन ने पूछा है अतः अर्जुन ने पूछा यही अर्थ ठीक है] कि हे कृष्ण ! जो लोग शास्त्र के विधान एवं निषेध को छोड़कर श्रद्धान्वित माने वृद्ध व्यवहार में अनुभूयमान कुल परम्परा प्राप्त श्रद्धा के साथ यज्ञ करते हैं।

यहां शास्त्र विधि का परित्याग करना छोड़ना श्रद्धालु के लिए शक्ति रहते हुए सम्भव नही है अतः परिस्थितिवश या शक्ति के अभाव में शास्त्र की विधि छोड़नी पड़ती है या जबरन् छूट गई है ऐसा अर्थ यहां करना चाहिए इसके लिए उत्सृष्टशास्त्रविधिकाः ऐसा पाठ यहां होना उचित है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण ! सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥ १ ॥
त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां या स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ! ।

बालक्रीड़ा

यहां परिस्थितिवश शास्त्र विधि छोड़नी पड़ी या छूट गई का मतलब यह है कि जैसे गौ का पालन घर में नही कर सकते हैं क्योंकि पैसा नही है अतः गौ को रखने का स्थान नही है खिलाने के लिए चारा भी नही है किन्तु जिह्वा के स्वाद या स्वास्थ्य की रक्षा के लिए ग्वाले के यहां से गन्दे पानी से मिला हुआ दूध लाना पड़ता है और पीना पड़ता है । इसी तरह मल-मूत्र जहां से बहता है उसी मार्ग से पानी का नल घरों में सर्वत्र लगा हुआ है इच्छा के नही रहने पर भी उसी से दैविक एवं लौकिक क्रिया करनी पड़ रही हैं । अतः हमारा उक्त शोधित पाठ ही ठीक है । अस्तु ! ऐसी हालत में शास्त्रविधि के छोड़ने से क्या आसुरी भाव की निष्ठा होगी या श्रद्धालु होने से दैवी भाव की निष्ठा होगी या तृतीया मिश्रिता निष्ठा होगी । कौन ? निष्ठा होगी ऐसा प्रश्न अर्जुन करता है । क्या ? सत्त्वमयी सात्विकी निष्ठा या राजसी या तामसी या दोनों की मिश्रित निष्ठा होगी ॥१॥

इस पर भगवान् कहते हैं कि प्राणियों में उनके स्वभाव के माने प्रकृति के अनुसार जो सात्विकी राजसी एवं तामसी ये तीन प्रकार की निष्ठायें हैं । उनको तुम मुझसे सुनो । यहां का आशय यह है कि कारण के अनुरूप कार्य होता है अतः जिनको तो जन्मान्तर में शुभ कर्मो के अनुष्ठान से उत्तम संस्कार हैं उनमें केवल सात्विकी श्रद्धा ही होगी । अन्यथा स्वभावप्राप्ता प्रकृतिजन्या साधारणी श्रद्धा होगी ॥ २ ॥

क्योंकि हे भारत ! जन्मान्तरीय संस्कारों के कारण श्रद्धा के तीन भेद बतलाये थे । अब कहते हैं कि त्रिगुणात्मक पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों से उत्पन्न हुए अन्तःकरण का नाम सत्त्व है ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥
यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

बालक्रीड़ा

सभी प्राणियों में सत्त्व के अनुरूप अन्तः करण के अनुकूल श्रद्धा होती है। क्योंकि यह पुरुष श्रद्धामय है। अतः जो जिस तरह की श्रद्धा वाला होगा उसी तरह का वह प्राणी होगा। कहीं वह अन्तःकरण सत्त्व से अभिभूत होता है जैसे देवताओं का होता है। कहीं वह सत्त्व रज से अभिभूत होता है जैसे यक्षादिका। कहीं वह सत्त्व तम से अभिभूत होता है जैसे भूत-प्रेत आदि का। मनुष्यों का अन्तः करण तो प्रायः मिश्रित ही होता है। किन्तु शास्त्रीय विवेक ज्ञान से मानव अन्तः करण में सत्त्व अपने स्वरूप से रज और तम को दबाकर रहता है। शास्त्रीय विवेक ज्ञान से रहित प्राणियों में अन्तः करण की विचित्रता से भिन्न २ श्रद्धाएं होती है सत्त्व प्रधान अन्तः करण में सात्त्विकी रजः प्रधान अन्तःकरण में राजसी और तमः प्रधान अन्तः करण में तामसी श्रद्धा होती है। इस तरह श्रद्धा के द्वारा निष्ठा की व्याख्या कर दी है ॥ ३ ॥

अतः श्रद्धा के जान लेने से निष्ठा को जान लिया जायगा। प्रश्न—उस श्रद्धा को जानने का कौन उपाय है। उत्तर—उसके जानने का उपाय देवादि की पूजा है। जैसे वन्हि के कार्य धूम से पर्वत में वन्हि का अनुमितिज्ञान होता है। इसी को उपाय कहते है। कुछ अन्य जन है जो शास्त्रीय विवेक जनित ज्ञान से रहित हैं अतः स्वीय स्वाभाविक श्रद्धा से वसुरुद्रादि सात्त्विक देवताओं की पूजा करते हैं। वे सात्त्विकी श्रद्धावाले हैं। जो राजस कुवेरादि यक्ष एवं निर्ऋति प्रभृति राक्षसों की राजसी श्रद्धा से पूजा करते हैं वे राजसी श्रद्धा वाले हैं। और जो तो तामस प्रेतों की माने जो ब्राह्मण क्षत्रिय अपने धर्म से च्युत होकर देह के पात के वाद वायवीय देहान्तर को प्राप्त कर के उल्कामुख कट एवं पूतनादि नामक प्रेत हो गये हैं। अथवा मनुने जिनको पिशाच विशेष कहा है उनकी भूतगणों की सप्तमातृकादि की पूजा करते हैं वे तामसी श्रद्धा वाले है ॥ ४ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तः शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

बालक्रीड़ा

प्रश्न—जिन्होंने शास्त्र के द्वारा बतलाई हुई विधि की परिस्थितिवश या असामर्थ्य से उपेक्षा कर दी या हो गई किन्तु श्रद्धासे यज्ञादि क्रियाओं को किया। उनकी सात्त्विकादि तीन प्रकारकी श्रद्धाओं से युक्त सात्त्विकी प्रभृति तीन प्रकार की निष्ठाओंको यद्यपि कहा तद्यपि शास्त्र की उपेक्षा करने से उनमें देवत्व नही आ सका और श्रद्धा से करने में न असुरत्व ही आ सका। क्योंकि वे लोग श्रद्धा से यज्ञ यागादि का अनुष्ठान तो करते हैं किन्तु शास्त्रीय विधि का उत्सर्ग करके करते हैं। इससे निश्चय नही हो रहा है कि इनमें कौन निष्ठा है। उत्तर—जो जन दम्भ माने अपने को धार्मिक प्रसिद्ध करने के लिए ऐसा ढोंग एवं ऐसा आचरण करते हैं कि जिससे जनता उनको धार्मिक समझे। अहङ्कार अपने मैं श्रेष्ठता का अभिमान करना कि मैं सबसे श्रेष्ठ हूं सबसे बड़ा हूं। ऐसे दम्भ और अहंकार से जो युक्त हैं।

काम माने ऐहिक और पारलौकिक विषयों की अभिलाषा, राग उन विषयों के उपभोग की इच्छा अर्थात् उनमें जबर्दस्त अभिनिवेश, बल मानें देह भले ही चला जाय किन्तु कार्यको सिद्ध करना। ऐसे काम राग एवं बलसे जो अन्वित हैं। अचेता है माने क्षिति जल पावक गगन समीरा। पञ्च तत्व यह रचा शरीरा के विवेक से रहित है अत एव शरीरारम्भक इन पञ्चमहाभूतों को व्यर्थ के उपवासों के द्वारा क्षीण करते हैं इतना ही नही अपि तु शरीराधिष्ठाता मुझको भी अधम गति को प्राप्त करा कर नारकीय योनि में ढकेल देते हैं। ऐसे वे लोग वेदादि शास्त्र ने जिनका विधान नही किया है या अशास्त्रीय बौद्धादि के आगम एवं यवनादि की की बतलाई हुई झाड फूंक के अनुसार घोर अपने एवं दूसरों को पीडा देने वाले तप करते हैं जलती हुई आग पर विना जूता वगैरह पहने हुए चलना आदि आचरण करते हैं उनको आसुरी निष्ठा वाले समझना चाहिए ॥ ५ । ६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु ॥ ७ ॥

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।

बालक्रीड़ा

इस तरह यह बतलाया कि जो सात्विक हैं वे देव हैं और जो राजस एवं तामस हैं वे आसुर हैं एवं राक्षस है। उनमें सात्विकों को लेना चाहिए राजसों एवं तामसों को छोड देना चाहिए। अतः श्रद्धा एवं निष्ठा वगैरह जैसे तीन प्रकार की होती हैं उसी तरह इन सबके प्रिय आहार तथा यज्ञ तप एवं दान के भेद को मैं कहता हूं तुम सुनो। इनमें आहार का तो प्रत्यक्ष दृष्ट फल है ही किन्तु यज्ञ तप एवं दान का भी प्रत्यक्ष दृष्ट फल है। जैसे यह बड़ा धार्मिक है बड़ा दानी है इत्यादि रूप से इस लोक में प्रसिद्धि होतीं है। इसके बाद अदृष्ट फल भी है जो परलोकमें मिलता है। इसमें यज्ञ का स्वरूप कल्पकारोंने बतलाया है कि द्रव्य देवता एवं त्याग ये तीन जहाँ रहते हैं उसको यज्ञ कहते हैं। इनमें देवता उद्देश्य है उसको प्रसन्न करना लक्ष्य है अतः उसके लिए द्रव्य का त्याग विधेय है। वह यज्ञ यजति जुहोति रूप से दो प्रकार का है। याग यजन उसको कहते हैं जिसमें खड़े २ होम होता है जिसमें प्रयोग के अन्त में वषट् बोला जाता है और याज्या तथा पुरोनुवाक्या इसमें होती है। जुहोति उसको कहते है जो बैठे २ किया जाता हैं इसमें अन्त में स्वाहा बोला जाता है। याज्या तथा पुरोनुवाक्या इसमें नही होती हैं। तप माने शरीरारम्भक पञ्चमहाभूतों के शोषणकारी चान्द्रायण एवं कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत उपवासादि है। दान माने जिसमें अपना भाव या अधिकार नही रहे किन्तु दूसरे का भाव या अधिकार हो जाय ॥ ७ ॥

अब १५ श्लोकों में यानी ८ वें श्लोक से लेकर २२ वें श्लोक पर्यन्त आहार यज्ञ तप एवं दान के भेद को कहेंगे उनमें पहले तीन श्लोकों में सात्विकादि क्रम से आहार चर्व्य चोष्य लेह्य पेय चार प्रकार के भेद को बतलाते हैं—सात्विकों के प्रिय आहार वे हैं जो आयु आदि को विशेष रूप से वढाने वाले होते हैं तथा रस्य स्निग्ध स्थिर और हृद्य होते हैं। आयु चिर कालतक जीना। सत्त्व चित्त का धैर्य जिसके बदौलत जबर्दस्त दुःख के पडने पर भी प्राणी घबडावे नही।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ ८ ॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥
यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।

बालक्रीड़ा

बल शरीर की ताकत यानी अपने कर्त्तव्य कार्य में थकावट का अनुभव नही होवे । आरोग्य रोग का नही होना । सुख भोजन करने के बाद आह्लाद यानी तृप्ति । प्रीति भोजन में अभिरुचि यानी उत्कट इच्छा खाने के लिए होवे । रस्य आस्वादनीय मधुर रस बहुल । स्निग्ध जिसमें स्वाभाविक एवं बाहरी चिकनाहट रहे । स्थिर जिसका पोषक तत्व चिरकाल तक शरीर में बना रहे । हृद्य हृदय को प्रिय लगने वाला हो । यानी जिसमें दुर्गन्ध नही हो जो अपवित्र नही हो सभी तरह के दोषों से रहित हो ॥ ८ ॥

अब राजस प्रिय आहारों को कहते हैं । यहाँ अत्युष्ण शब्द में जो अति-शब्द है उसका कटु आदि सातों में अन्वय है जैसे अतिकटु नीम । अति अम्ल बहुत खट्टा जिससे धातुक्षय हो जाय । अति लवण जिसमें लवण की मात्रा सीमातिक्रान्त हो जो वमनकारी हो । अत्युष्ण जिसके छूने पर हाथ जल जाय यह उष्णता बाहरी गरमाहट है इसके सिवाय असगन्धादि काष्ठौषध एवं पारदादि रस, तथा लोहादि धातुओं की भस्म तथा आसव अरिष्टादि के कारण होनेवाली उष्णता आन्तरिक गरमाहट है जिसके कारण बेचैनी बढ जाय । अतितीक्ष्ण मरीच वगैरह । अतिरूक्ष बिलकुल स्नेहरहित काङ्गू एवं कोंदों । अति विदाही जिससे कण्ठ में पेट में जलन पैदा हो जाय राई वगैरह । जो दुःख तात्कालिक पीड़ा । शोक खाने के बाद होने वाला क्यों मैंने खा लिया नही खाना चाहिए था इत्यादि रूप में मन का भाव और आमय रोग को पैदा करने वाले हैं । ये राजस के प्रिय आहार हैं ॥ ९ ॥

अब तामसप्रिय भोजन को बतलाते हैं । जो यातयाम जिसके खाने का समय निकल गया है । (याम कहते हैं एक प्रहर को । यात माने बीता हुआ । अतः) गत रस आस्वाद रहित है । पूति दुर्गन्धमय है । पर्युषित वासी रात का वासी माने पुराना

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥
अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥
अभिसंधाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।

बालक्रीड़ा

है उच्छिष्ट झूठा किया हुआ । अमेध्य माने अपवित्र है । और भी जिनको अपथ्य कहा है जो जीवन विरोधी हैं । दुःख शोक आमयप्रद हैं आयु आदि के विरोधी है ॥१०॥

अब सात्त्विकादि भेद से तीन प्रकार के यज्ञों को क्रमशः कहते हैं । अग्नि-होत्र दर्श पौर्णमास चातुर्मास्य पशुबन्ध एवं ज्योतिष्टोमादि यज्ञ होते हैं । इनमें काम्य यज्ञ वे हैं जो फलकी कामना से किये जाते हैं तथा सर्वाङ्ग सम्पन्न एवं मुख्य कल्प से अनुष्ठेय होते हैं । नित्य यज्ञ वे होते हैं जो फल की कामना के विना किये जाते हैं सर्वाङ्ग सम्पन्न नही होते हैं प्रतिनिधि के द्वारा भी किये या कराये जा सकते है अत एव अमुख्य कल्प से अनुष्ठेय होते है । नैमित्तिक वे होते हैं जो संक्रान्ति ग्रहोपराग तिथि वारादि पर्वों पर किये जाते हैं । इनके करने के लिए कोई भी निमित्त हो सकता है । इन नित्य नैमित्तिक कर्मों के करने से पापक्षय होता है और अन्तः करण की शुद्धि होती है ऐसा शास्त्र कहते है नित्यै नैमित्ति कैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम् । चित्तशुद्धिमवाप्नोति मानवो नात्र संशयः । अतः फलकी कामना के विना शास्त्र के बतलाये हुए मार्ग से सर्वाङ्गों के नही होने पर भी स्वयं करने में असमर्थ हो जाय तो भी प्रतिनिधि के द्वारा ही, नही करने से होने वाले दोष के परिहार के लिए, अवश्य ही यष्टव्य है ऐसे निश्चय से मन को समाहित करके जो यज्ञ किया जाय वह सात्त्विक है ॥ ११ ॥

हे भारत श्रेष्ठ ! उसको राजस यज्ञ समझो जिसमें पारलौकिक फल स्वर्गादि भी और इह लौकिक धार्मिक पने की प्रसिद्धि रूप फल भी मिले (यह एक प्रकार का है) जिसमें पारलौकिक ही फल मिले इह लौकिक फल भले ही नही मिले (यह दूसरा प्रकार है) जिसमें पारलौकिक फलकी परवाह नही हो किन्तु इह लौकिक फल अवश्य मिले (यह तीसरा प्रकार हैं) ये तीन प्रकार होने का कारण है दम्भार्थमपि पद में अपि शब्द का और चकार तथा एवकार

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इज्यते भरतश्रेष्ठ ! तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।

बालक्रीड़ा

का प्रयोग । वस्तुतः एक ही प्रकार है फल मिले चाहे वह पारलौकिक ही हो चाहे ऐहिक हो ॥ १२ ॥

जो यज्ञ विधिहीन हो शास्त्र के आदेश का पालन जिसमें नही हो वह तामस होता है । शास्त्र के आदेश के पालन नही करने से इसमें ५ पांच प्रकार से हीनता आ जाता है । वे हैं—विधिहीनता १ अन्नादि दान हीनता २ मन्त्रोच्चारण नही करके यज्ञ के करने से मन्त्र हीनता ३ यज्ञ कराने वालों को दक्षिणा के नही देने से दक्षिणाहीनता ४ और श्रद्धा हीनता ५ । इस यज्ञ के अनुष्ठान से पारलौकिक एवं ऐहलौकिक कोई भी फल नही हैं । राजस में दम्भ है परन्तु ऋत्विक् वगैरह को दक्षिणा भी मिलती है अन्न का भी दान होता है अतः फल मिलता है ॥ १३ ॥

सात्विक राजस एवं तामस तपों को कहने के लिए तप के स्वरूप को बतलाते हैं । ये तप शरीर वाणी एवं मन से किये जाते हैं अतः इनको शारीरिक वाचिक एवं मानसिक तप कहते हैं । अब इनका क्रमशः निरूपण करते हैं । देवता गणपति ब्रह्मा विष्णु महेश सूर्य अग्नि एवं दुर्गादि, द्विज माने ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य, (क्यों कि ब्राह्मण की गन्धाक्षतादि से पूजा प्रसिद्ध है । और क्षत्रिय की भी पूजा राजा के रूप में प्रतिष्ठित किये जाने के समय तथा प्रतिष्ठित होने पर भी विजया दशमी प्रभृति पर्वों पर की जाती है । किन्तु वैश्य की पूजा केवल वाणी से ही न कि गन्धादि के द्वारा की जाती है । क्योंकि (सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति) जहां पैसे होते हैं वहां सभी गुण आ जाते हैं और (गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गम् न च वयः) पूजा गुणों की होती है उसके लिए गुणवान् में कोई चिह्न या अवस्था की आवश्यकता नही है । अतः वैश्य की भी मक्खनिया पूजा अवश्य होती है । गुरु माता पिता एवं उपाध्याय आचार्य एवं प्राज्ञ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

बालक्रीड़ा

पण्डित जो सत् एवं असत् का विवेचन करने वाली बुद्धि से वेदों एवं वेदाङ्गों को जानकर तत्व के उपदेश से अज्ञान का नाश करते हैं। उनका पूजन गन्धाक्षतादि उपकरणों से, प्रणाम से, स्तुति पाठ माने मक्खनबाजी से होता है। शौच बाह्य आभ्यन्तर एवं उभयविध मलका निराकरण। आर्जव अञ्जलि बना कर शरीर को झुकाए रखना। ब्रह्मचर्य निषिद्ध मैथुन नही करना। अहिंसा प्राणि मात्र को पीडा नही देना। चकार से चोरी नही करना। प्रतिग्रह नही लेना ये सब शरीर से किये जाने वाले तप है ॥ १४ ॥

जब कभी जिस किसी को भी कुछ भी कहना हो तो ऐसा वाक्य बोले जिससे सुनने वाले को उद्वेग नही हो क्षोभ नही हो, सत्य हो प्रमाण से सिद्ध हो जो अबोधित नही हों, प्रिय हो कानों को सुखकर मालूम हो माने तात्कालिक सुखजनक हो एवं हित हो परिणाम में अमृत के तुल्य हो तथा स्वाध्याय का अभ्यास यह वाचिक तप कहलाता है ॥ १५ ॥

मन की प्रसन्नता चिन्ता व्याकुलता एवं भ्रम का नही होना, सौम्यत्व सोम की तरह आह्लादकारिता सबका हित चाहना किसी का भी बुरा नही सोचना मौन मुनि का मननकारी का धर्म अर्थात् वाणी को संयत करने के लिए मन की सावधानी, आत्मविनिग्रह आत्मा का मन का विशेष रूप से खास तौर से निग्रह सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध। भाव की हृदय की शुद्धि दूसरों के साथ व्यवहार करने में माया वञ्चना छल कपट नही करना। इसको मानस तप कहते हैं ॥ १६ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥
दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥२०॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः ।

बालक्रीड़ा

फल की कामना के विना समाहित मन से उत्कृष्ट श्रद्धा के साथ जिन तीन प्रकार के तपों को मानव करते हैं वे तप सात्त्विक कहलाते हैं ॥ १७ ॥

सत्कार यह बहुत अच्छा तपस्वी है महात्मा है ऐसा लोगों से कहलवाने के लिए, मान प्रत्युत्थान एवं अभिवादन के लिए पूजा पैर पूजवाने के लिए दम्भ से छल कपट से जो तप किया जाता है वह अध्रुव कुछ काल तक भी स्थिर नहीं रहने वाला और चल नष्ट होने वाला राजस तप कहलाता है ॥ १८ ॥

जो दुराग्रह से अपने को कष्ट में डालने के लिए अथवा किसी दूसरे प्राणी का विनाश करने के लिए मारण मोहन एवं उच्चाटन के वास्ते तप किया जाता हैं वह तामस कहलाता है ॥ १९ ॥

जो अनुपकारी है जिससे प्रत्युपकार की कोई आशा नही है पात्र है एवं सदाचार का रक्षक है ऐसे महापुरुष को अवश्य देना चाहिए इस निश्चय से न कि फल प्राप्ति के उद्देश्य से; पवित्र देश गंगा क्षेत्र गया मथुरा पुष्कर कुरुक्षेत्र और उत्तम समय कार्तिक मार्गशीष माघादि महीनों में पर्वों में जो दान दिया जाता है वह दान सात्त्विक है ॥ २० ॥

किन्तु जो दान बदले की भावना से हम इसको यह वस्तु देंगे तो यह भी हमें उससे दूना या उतना देगा इस नीयत से अथवा किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

ॐतत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥

बालक्रीड़ा

देते हैं देता तो हूं परन्तु वड़ा खर्चा हो रहा है क्यों मैंने इसको देना स्वीकार कर लिया इत्यादि परिक्लेश जिसमें होता है वह दान राजस कहलता है ॥ २१ ॥

अपवित्र स्थल मे आशौच के समय में, अपात्र को वेश्या को भडवे नट एवं नटनियों को जो दान दिया जाता है वह दान तामस है। अथ च देश काल एवं पात्र उत्तम है किन्तु जिसे दान देना है उसका सत्कार नही करके प्रत्युत उसका अपमान करके जो दान दिया जाता है वह तामस दान है ॥ २२ ॥

ओम् ब्रह्म इसमें ओम्, तत्त्वमसि इसमें तत् और सदेव सौम्य इदमग्र आसीत् इसमें सत् यह तीन प्रकार से ब्रह्म का निर्देश है नाम है। इसी निर्देश से ब्राह्मणों ने प्राचीन काल में वेदोक्त यज्ञों का अनुष्ठान किया था। यहां वेदाः पद की वेदोक्त में लक्षणा है और दोनों चकार पादपूर्ति के लिए हैं। इसके कहने का प्रयोजन यह है कि आहार का तो प्रत्यक्ष फल है तुष्टि पुष्टि भूख की शान्ति एवं शारीरिक बल की रक्षा। दान का भी प्रत्यक्ष फल है जनानुराग जनवश्यता। किन्तु यज्ञ और तप का तो अदृष्ट ही फल है।

जहां प्रत्यक्ष फल है उसमें अङ्ग वैगुण्य होने की आशंका नही हो सकती है हाँ जहां फल अदृष्ट है वहां उसकी आशंका पूर्ण रूप से होनी अनिवार्य है अतः उस वैगुण्य को दूर करने के लिए या वैगुण्य जनित दोष के निवारण के लिए और यज्ञ की तप की सम्पूर्णता के लिए प्रमादात् कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत्। स्मरणादेव तद्विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः। इस स्मृति और शिष्टाचार के अनुसार ईश्वर का स्मरण करना अत्यन्त आवश्यक है इसको वतलाने के लिए इस पद्य को लिखा है। यहां ब्राह्मणैः यह तृतीयान्त पद है। प्रथमान्त पद जो छपा है वह अशुद्ध है। उसमें कोई तुक नही है ॥ २३ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥
तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २५ ॥
सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ ! युज्यते ॥ २६ ॥
यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥

बालक्रीड़ा

ओम् तत् सत् इसका निर्देश कर के ब्राह्मणों ने वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान किया है इस लिए ब्रह्मवादियों की वेद का उच्चारण करने वालों की वेद के विधान में कही गई यज्ञक्रिया दानक्रिया एवं तपःक्रियाएं ओम् इस प्रकार का उच्चारण करके निरन्तर की जाती हैं ॥ २४ ॥

वैदिक लोग जैसे ओम् का उच्चारण करके यज्ञादि क्रिया करते हैं उसी प्रकार मुमुक्षु लोग भी तत्त्वमसि का उच्चारण करके फल का अभिसंधान किये बिना अमुक फल मुझे मिलजाय इस आकांक्षा को नही करके विविध नाना प्रकार की यज्ञक्रिया दानक्रिया तपः क्रियाओं को करते हैं ॥ २५ ॥

हे पार्थ ! सदेव सौम्य इदमग्र आसीत् इत्यादि श्रुतियों में प्रसिद्ध इस सत् शब्द का प्रयोग सत्ता के अर्थ में और साधुता के अर्थ में होता है। तथा जैसे सद्भाव एवं साधु भाव के अर्थ में सत् इस शब्द का प्रयोग होता है उसी तरह प्रशस्त माङ्गलिक विवाहादि कर्मों मे भी इसका प्रयोग होता है। २६ ॥

और भी बात है कि यज्ञ तप एवं दान की जो स्थिति हैं मर्यादा है या उनमें निष्ठा है उसको सत् इस शब्द से कहते हैं। इतना ही नही है भगवान् को अर्पण करने के लिए जो भी कर्म किया जाता है उसको सत् इस नाम से ही कहा जाता है ॥ २७ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ ! न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो
नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

बालक्रीड़ा

इसके विपरीत अश्रद्धा से भगवान् को अर्पण किये विना जो भी यज्ञ दान किया गया है और जो तप तपा गया है उन सबको हे पार्थ ! असत् कहते है। अतः उसका कोई भी या किसी तरह का भी फल न यहां इस लोक में हैं और न मरने के बाद परलोक में मिलता है। २८।

इस प्रकार श्रीमधुसूदनशास्त्री की कृति हिन्दी टीका बालक्रीड़ा में श्रीमद्भगवद्गीता का १७ वां अध्याय समाप्त हुआ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथाष्टादशोऽध्यायः

अथ अब अठारहवें अध्याय की हिन्दी टीका बालक्रीड़ा का आरम्भ करते है।

यहां यह विचार है कि गीता के अठ्ठारह अध्यायों में संन्यास शब्द स्पष्ट संन्यास रूपमें अपने आकार में और संन्यस्त एवं सन्यस्य इस अस्पष्ट रूप में २१ वार प्रयुक्त हुआ है। इसको अन्त में समीक्षा में देखेंगे। इनमें सम्यक् नितराम् आस इस पदच्छेद के आधार पर निर्विकल्पक समाधि और सविकल्पक समाधि तथा काम्यकर्मों का या

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत्
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम्। ९। २७

इस भगवान् के कथन के अनुसार नित्य नैमित्तिक काम्य एवं निषिद्ध चारों प्रकार के कर्मो का भगवदर्पण ये तीन अर्थ संन्यास शब्द के किये हैं। इसके सिवाय 'यं संन्यासमिति प्राहुः योगं तं विद्धि पाण्डव ! ६।२ में संन्यास और योग को पर्याय भी माना है। तथा 'नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते' १८।७ में संन्यास और त्याग को समकक्ष भी समानार्थक भी कहा है। परन्तु वस्तुतः संन्यास और त्याग ये दो भिन्न भिन्न पदार्थ हैं इसको बतलाना जरूरी है।

क्यों कि समीक्षा में वक्ष्यमाण वचनों के अनुसार संन्यास शब्द का कर्मशब्द के साथ २१ वार और त्याग शब्द का फल शब्द के साथ २४ वार प्रयोग १८ अध्यायों में जहां जहां ये शब्द आये हैं वहां वहां किया है।

इसमें अर्जुन के प्रश्न का हेतु यह है कि ब्रह्मचर्य १ गार्हस्थ्य २ वानप्रस्थ ३ एवं संन्यास ४ ये चार आश्रम हैं। इन आश्रमों में रहने बाला व्यक्ति क्रमशः ब्रह्मचारी १ गृहस्थ २ वानप्रस्थ ३ एवं संन्यासी होता है। इनमें संन्यास का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही है अन्य वर्णों को नहीं है किन्तु आज तो और कोई

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संन्यासी मिले या नही भी मिले शूद्र ही चारों तरफ संन्यासी के रूप में व्याप्त हैं। छोडिये इस कथा को।

इस संन्यासी का मतलव (मतस्य लवः) आशय है जो सब कुछ छोड देता है अतः संन्यास का अर्थ है त्याग छोडना। यह अर्थ लोक प्रसिद्ध है रूढ है। किन्तु शास्त्रीय विधान के अनुसार कर्मों का न्यास (आत्मनि अग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात्) अग्नि के रहने पर ही सब वेद विहित कर्म ब्राह्मण कर सकता है किन्तु जब वह उस अग्नि का अपनी आत्मा में समारोप कर लेगा तब सब कर्म उसके छूट जायेंगे अतः) त्याग संन्यास है और उन कर्मों के फल का त्याग त्याग पद का है। अर्थात् वह गृहस्थ है अग्नि के साध्य कर्मों को करता है किन्तु करता हुआ भी (न मम) मेरा कुछ नही है कहता है अतः कर्मफल का त्यागी गृहस्थ ही होता है। कर्म का त्यागी गृहस्थ नही होता है इसी लिए भगवान् कहते हैं यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्। अतः संन्यास का मतलव कर्मों को रखना है क्योंकि वे स्वतः छूट गये हैं और त्याग का मतलव छोडना है ही। इस तरह संन्यास और त्याग ये शब्द दो हैं किन्तु अर्थ इनका एक है अतः संशय होना स्वाभाविक है कि ये दो हैं या एक हैं। अतः अर्जुन पूछता है कि हे महाबाहो ! हे केशी राक्षस का सूदन हिंसन करने वाले ! हे हृषीकेश ! मैं संन्यास और त्याग के तत्त्व को निश्चित अर्थ को पृथक् एक दूसरे से अलग करके जानना चाहता हूं। क्या संन्यास और त्याग शब्द गो एवं ब्राह्मण की तरह भिन्न जातीय अर्थ वाले हैं या गो और बलीवर्दकी तरह एक जातीय अर्थवाले हैं। उनमें वे यदि भिन्न जातीय अर्थवाले हैं तदि त्याग का निश्चित किन्तु संन्यास की अपेक्षा अलग जानना चाहता हूं। यदि एक जातीय अर्थ वाले हैं तदि केवल अवान्तर उपाधि के भेद को बतलाइये क्योंकि एक के बतलाने से दोनों की प्रतीति नही होगी। पृथक् पृथक् प्रतीति नही हो सकती है अत एव मूल में च शब्द और पृथक् शब्द का उपन्यास किया है।

यहां महाबाहो इस सम्बोधन से सम्बोध्य की स्वरूप योग्यता बतलाई कि महान् बलशाली हैं और केशिनिषूदन से उसमें फलोपधायकता बतलाई। बाहु को बहुत लम्बा फैलाया और स्थल भी कर लिया जब कि केशीराक्षस घोड़ा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अर्जुन उवाच

संन्यासस्य महाबाहो ! तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।
त्यागस्य च हृषीकेश ! पृथक् केशिनिषूदन ! ॥१॥

बालक्रीड़ा

बनकर आया और मुंह फैलाकर खाने को दौडा हुआ आया तब पेट में हाथ को घुसा कर मार डाला । हृषीकेश से इन्द्रियों का ईशन माने निरोध करके योग बल से सम्पन्नता बतलाई ।

मधुसूदन सरस्वती जी ने तीन प्रकार के संन्यास को लिखा है और दो प्रकार के प्रश्न के बीजों को बतलाया है । उनमें पहला संन्यास फलभूत सर्व कर्म सन्यास है जो तत्त्वज्ञान के हो जाने के बाद होता है । इसमें सर्वकर्मों का स्वतः संन्यास हो जाता है । दूसरा वह है जो तत्व बोध के नही होने से उसके लिए वेदान्त विचारार्थ सर्व कर्म संन्यास करना जरूरी है । इसमें यह संन्यास जानबूझकर किया जाता है । तीसरा संन्यास कर्ममिश्रित होने से गौण संन्यास है इसमें कर्माधिकारी पुरुष कुछ कर्मों को करता है और कुछ को नही करता है छोड देता है । इनमें पहले एवं दूसरे में सात्विक राजस एवं तामस इन तीन प्रकार के भेदों का होना संभव नही है । किन्तु तीसरे में उन भेदों का होना संभव है । क्यों कि कारण के गुणों का सम्बन्ध कार्य में भी होता ही है ॥ १ ॥

इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि काम्य कर्मों का किसी फल की इच्छा से अमुक फल मुझे मिल जाय इस कामना से किये गये क्रिया कलाप का न्यास भगवान् के पास धरोहर के रूप में थाती के रूप में रख देना संन्यास है ऐसा कवि लोग जानते हैं । यहां का रहस्य यह है कि नित्य नैमित्तिक काम्य एवं निषिद्ध ये चार प्रकार के कर्म होते हैं । इनके विषय में सिद्धान्त है कि (अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् शुभ हो या अशुभ कर्म, जिसको किया है उसको अवश्य भोगना ही पड़ेगा । क्यों कि (नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि) चाहे करोड़ों कल्प बीत जाँय परन्तु विना भोग किये कर्म क्षीण नही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रीभगवानुवाच

काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥

बालक्रीड़ा

होते हैं वे तो भोग से ही क्षीण होते हैं। कीचड में पैर को फंसा कर धोने की अपेक्षा कीचड़ से दूर ही रहना उसको नही छूना ही अच्छा है किन्तु ऐसा हो नही सकता है क्यों कि जन्म जन्मान्तर की वासनाएं इतनी प्रवल है कि पुत्रैषणा वित्तैषणा एवं लोकैषणा विवशता से अपने आप छूट जाय यो छोडनी पडें यह बात दूसरी है परन्तु छूट नही सकती है ऐसी स्थिति में (ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा) ईश्वर का भरोसा करके अपने कर्मो को थाती के रूप में उसी में रख देनेवाला पक्ष उत्तम है अन्य था जन्म मरण का झगडा छूटना अत्यन्त कठिन है इसीलिए निषिद्ध कर्म तो निषिद्ध ही है सर्वथा अकर्त्तव्य ही है। नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों को नही करने से दोष लगता है अतः दोषों से छूटकारा पाने के लिए उनको अवश्य करना है शरीर धारी कोई भी विना कुछ किये क्षण भर भी नही रह सकता है। जब कि कर्म करना स्वभाव सिद्ध है और जिसके नही करने से पाप ही लगे उसके विषय में छोड़ने न छोड़ने का कोई प्रश्न ही नही है। अब वचे काम्य कर्म और उनके फल। उसके विषय में भगवान् कहते हैं कि काम्य कर्मों का धरोहर के रूप में रखने का नाम संन्यास है और फल को छोड़ने का नाम त्याग है ॥ २ ॥

कुछ मनीषी कहते हैं कि सभी कर्म दोषवत् दोषयुक्त हैं अतः त्याज्य है अथवा सभी कर्म दोष की तरह ज्याज्य हैं। जैसे काम क्रोध लोभ मोह मद मात्सर्य दोष त्याज्य हैं वैसे ही सभी कर्म भी त्याज्य हैं क्योंकि करेंगे। उसका फल मिलेगा फिर फल भोगने के लिए शरीर भोगायतन मिलेगा। शरीर मिलेगा तो कर्म करना पड़ेगा। कर्म करेंगे तो फिर फल फिर शरीर और फिर कर्म इस तरह बैल की घाणी की तरह चक्कर लगा ही रहेगा इस लिए न रहेगा वांस न बजेगी

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञदानपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

बालक्रीड़ा

बाँसुरी अतः कर्म को ही छोडो। अपर लोग कहते हैं नही भाई ऐसा नही कि कर्ममात्र को छोड़ दे किन्तु यज्ञ दान और तपरूपी कर्म को तो अवश्य करना हैं इनको नही छोड़ना है ॥ ३ ॥

इस पर अर्जुन कह सकता है कि कभी आप कहते हैं कि सभी कर्मों को छोड़ दो और कभी कहते हैं कि यज्ञादि कर्मो को तो नही छोडना है। उनको तो करना ही है इस तरह के मिश्रित वाक्यों से मेरी बुद्धि को व्यामोह में क्यों डालते हैं। अतः निश्चय करके एक बात को बतलाइये। क्योंकि आप कह ही चुके हैं कि कर्म फल को प्राप्त करने की इच्छा को छोड़कर अवश्य कर्त्तव्य कर्म को जो करता है वह संन्यासी है वह योगी है। इसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि हे भरत सत्तम ! उस त्याग के विषय में निश्चय सिद्धान्तभूत तथ्य को सुनो। हे पुरुषव्याघ्र ! त्याग को तीन प्रकार का कहा है। यहां का आशय यह है कि कर्म त्याग शब्द का अर्थ है कर्माभाव। यह अभाव एक सामान्याभाव है दूसरा विशिष्टाभाव है। इनमें विशिष्टाभाव का अर्थ है फल की इच्छा से किये गये कर्मका अभाव। यह अभाव तीन प्रकार से होता है। एक विशेषण नही होने से, दूसरा विशेष्य के नही होने से और तीसरा विशेष्य एवं विशेषण दोनों के नही होने से होता है। यहां इस अभाव में कर्म विशेष्य है और फल की इच्छा से कर्म का करना विशेषण है। यहां कर्म तो किसी ने किया किन्तु फल की इच्छा से नही किया। इसमें विशेष्य तो है किन्तु विशेषण नही है अतः विशिष्ट कर्म का अभाव है। उदेश्य तो लक्ष्य तो कर रखा है कि हमको अमुक्त फल मिल जाय किन्तु उसके लिए व्यवसाय को कर्म को नही किया ऐसी स्थिति में विशेषण फलकी इच्छा तो है किन्तु उसकी इच्छा से किया जाने वाला कर्म नही है। अतः विशिष्ट कर्म का अभाव है। फल की इच्छा भी नही है यानी विशेषण भी और कर्म भी विशेष्य भी नही है अतः दोनों के नही होने से भी यह विशिष्टा भाव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ! ।

बालक्रीड़ा

हुआ । इनमें कर्म तो किया किन्तु फल की इच्छा से नही किया यह कर्माभाव कर्मत्याग सात्विक है अतः ग्राह्य है । दूसरा फल की इच्छा तो है किन्तु कर्म नही करता है क्योंकि पैसा भी खर्च होता है और दौड़ धूप भी करनी पड़ती है बड़ा कष्ट होता है अतः छोड़ो हम कर्म वर्म कुछ नही करेंगे । यह राजस कर्म त्याग है । अथवा विपर्यास से किया यानी यदि हमने कर्म किया फल नही मिला तो सब गुड़ गोबर हो जायगा । अथवा यदि कर्म करने से फल मिलने लगे तो सभी कोई कर्म करने लगेंगे और फल भागी हो जायेंगे । अतः फल चाहते हुए भी विपरीत बुद्धि से कर्म नही करता है यह कर्म त्याग तामस है । ये दोनों हेय है । इसी कर्म त्याग के विषय में अर्जुन का प्रश्न है कि त्याग पदार्थ क्या है । क्योंकि यह कर्म करने का अधिकारी होता हुए भी कर्म नही करता है तब यह त्याग कैसा । तीसरे (न जहां इच्छा है और न कर्म है) के विषय में अर्जुन का प्रश्न नही है । क्योंकि यह कर्म त्याग तत्त्वबोध के लिए शास्त्रीग विचार में तत्पर विविदिषु का त्याग है और तत्वबोघशाली विविद्वान् का त्याग है अतः सन्देह के नही होने से इसमें प्रश्न की गुञ्जाइस ही नही है । यह भी साधन और फल के भेद से दो प्रकार का है ।

फल की इच्छा नही कर के यानी फलत्यागपुरः कर्म का अनुष्ठान करना यह विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभावरूप सात्विक त्याग है इससे अन्तःकरण की शुद्धि और आत्मतत्त्व के जानने की इच्छा पैदा हो जाती है जिसके फलस्वरूप आत्मा का ज्ञान करने के लिए वेदान्त शास्त्र के सुनने में प्रवृत्ति हो जाने से कर्मों के करने की आवश्यकता ही नही रहती है जैसे चावलों के तुष रहित हो जाने से उनको कूटने की आवश्यकता नही रहती है । यही पहला विविदिषा संन्यास है । इसी को आगे नैष्कर्म्य सिद्धि के नाम से कहेंगे । दूसरा विद्वत्संन्यास है जिसमें जन्मान्तर में किये हुए कर्मों के अनुष्ठान एवं शास्त्राभ्यास के कारण वर्त्तमान जन्म में ही आत्मा का ज्ञान हो जाता है । जिसके बाद न कोई इच्छा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः संप्रकीर्तितः ॥ ४ ॥
यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गंत्यक्त्वा फलानि च।

बालक्रीड़ा

रह जाती है और न किसी कर्म के अनुष्ठान करने की आवश्यकता रह जाती है। इसी का व्याख्यान पहले यस्तु आत्मरतिरेव स्यात् के द्वारा कर दिया गया है। इस तरह त्याग के तत्त्व को समझना बड़ा कठिन है। तुमने उसके तत्व को समझने की इच्छा की है अतः इस विषय में मेरे निश्चय को सुनो ॥ ४ ॥

कौन वह निश्चय है इसको भगवान् कहते हैं कि वह निश्चय यह है कि फल की कामना के विना किये जाने वाले यज्ञ श्रौत और स्मार्त्त, दान पात्र में अर्थ का समर्पण और तप अध्ययनं परमं तपः इस श्रुति के अनुसार स्वाध्याय मनीषी गृहस्थों को पवित्र करने वाले हैं माने ज्ञान के प्रतिबन्धक पापरूपी मलको धोकर ज्ञान की उत्पत्ति की योग्यता का आधान करने वाले पुण्य रूपी गुण से शुध्द करने वाले हैं। फल की इच्छा किये विना ही अनुष्ठित ये यज्ञ दान एवं तप शुध्द करने वाले होते ही हैं क्योंकि उपाधि की शुध्दि से ही उपहित की शुध्दि यहां मानी है। अतः अन्तःकरण की शुध्दि चाहने वाले अधिकारी पुरुषों को फल की कामना किये विना यज्ञ दान एवं तप को छोड़ना नही चाहिए अपि तु करना ही चाहिए ॥ ५ ॥

प्रश्न—जब इन यज्ञादि में अन्तःकरण को शुध्द करने की सामर्थ्य है अतः इच्छा या अनिच्छा किसी भी तरह से उसको करो हर हालत में वे शुध्द करेंगे ही तब कर्मों के अनुष्ठान के वियष में फल की इच्छा को नही करने में कौन तुक है। उत्तर—यद्यपि काम्य कर्म भी अन्तःकरणके शोधक नही हैं क्योंकि वह शुद्धि भोग की सिध्दि के उपयोगिनी होगी ज्ञान के उपयोगिनी नही होगी अतः संग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्तव्यानीति, मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपद्यते ।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

बालक्रीड़ा

को यानी मैं इस कर्म को करता हूं ऐसे अभिनिवेश को और फल की कामना को छोंड़कर इन कर्मों को करना ही चाहिए छोड़ना नही चाहिए यह मेरा सर्वोत्तम निश्चित मत है ॥ ६ ॥

इस प्र ार अपने मत को स्थापित करके कर्म दोष युक्त होते हैं है अतः दोषों को जैसे छोड़ते उसी तरह कर्मों को भी छोड़ना ही चाहिए ऐसे पक्ष को करते हैं कि काम्य कर्मों से अन्तःकरण की शुध्दि नही होती है अपि तु वन्धन ही होता है अतः दोष युक्त होने से वन्धन की निवृत्ति के हेतु ज्ञान को चाहने वाले के लिए उनका न्यास ही करना उचित है। किन्तु नियत कर्म से नित्य कर्म से अन्तः करण की शुद्धि होती है और वह दोष रहित भी है क्योंकि अन्तःकरण की शुद्धि चाहने वाले मुमुक्षु के लिए उसका न्यास करना उचित नही हैं अतः शास्त्र भी कहता है और युक्ति से भी सिद्ध है कि अन्तः करण की शुद्धि के लिए कर्मों का अनुष्टान अवश्य ही करना चाहिए। जैसा कि कहा है योग मार्ग में बढ़ने वाले के लिए कर्म कारण है। इस लिए मोह से तम से अर्थात् ज्ञान के विपरीत अज्ञान से शास्त्र से विहित में निषेध के ज्ञान से, निषिद्ध में विहित के ज्ञान से, अनर्थ का हेतु नही है तव भी अनर्थ का हेतु है ऐसा समझ लेने से, अनर्थ का हेतु है तब भी अनर्थ का हेतु नही है ऐसा समझ लेने से, धर्म के विषय में अधर्म की बुद्धि होने से, अधर्म में धर्म की बुद्धि होने से, अकर्त्तव्य में कर्त्तव्यता का ज्ञान होने से और कर्त्तव्य में अकर्त्तव्यत्व का ज्ञान होने से जो नियत कर्म का नित्यानुष्ठान का परित्याग है उसको तामस कहते हैं। ॥ ७ ॥

शरीर कर्मेन्द्रिय घटित है और कर्म कर्मेन्द्रियों से होता है। जब कर्म करने से शरीर ही विकल हो जाय तब ऐसे क्लेश प्रद कर्मों के करने से क्या लाभ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दुष्टमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ! ॥
संङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥

बालक्रीड़ा

है। क्योंकि शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् । धर्म के साधनों में शरीर पहला साधन है जब वही गड़बड़ा जायगा तो फल का भोग किससे किया जायगा इस तरह की भावना से कर्म न करे तो भले ही न करे किन्तु दुःख ही समझ कर शारीरिक क्लेश के भय से छोड़ देता है वह राजस त्याग करता है अतः उसको त्याग का फल अन्तः करण की शुद्धि के द्वारा मिलने वाला ज्ञान निष्ठा रूप फलनही मिलता है ॥ ८ ॥

हे अर्जुन ! जो तो नियत कर्म कर्त्तव्य है अवश्य करणीय है ऐसी कर्त्तव्य बुद्धि से आसक्ति एवं फल को छोड़ कर करता है उसका वह त्याग सात्त्विक त्याग है ।

यहां का निष्कर्ष यह है कि जैसे पशु की कामना से यज्ञ करो । शौर्य वीर्य एवं परा भूति की कामना से खदिर की लकड़ी का यूप बनाओ इत्यादि काम्य कर्मों का फल सुनाई पड़ता है वैसे नित्य कर्मों का तो कोई फल ही नही सुनाई पड़ता है । ऐसी स्थिति में फल को छोड़कर नित्य कर्म करना चाहिए यह कहना वन्ध्या का पुत्र को छोड़ना ब्रह्मचारी का भार्या को छोड़ना जैसा ही हुआ ।

उत्तर यह है कि फल को छोड़कर जो नित्य कर्म किया जाता है' ऐसा यह भगवान् का कहना ही प्रमाण है कि नित्यकर्म का भी फल होता है यदि नित्य कर्म का फल नही होता तो छोड़ने के लिए कैसे कहते क्यों कहते अतः फल है ॥ ९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न द्वेष्टचकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥

बालक्रीड़ा

वस्तुतः त्यागी वही है जो सत्व से आत्मा एवं अनात्मा के विवेककारी ज्ञान से सम्यक् अच्छी प्रकार से आसमन्तात् विष्ट है व्याप्त है तथा मेधा सम्पन्न होने से संशयों से शून्य है अत एव जो अकुशल अशोभनीय कर्मों से द्वेष नही करता है और कुशल कर्मों में आसक्ति नही करता है ॥ १० ॥

प्रश्न—जब सत्त्व समाविष्ट मेधावी कुशल अच्छे कर्मों में राग प्रेम नही करता है और न अकुशल कर्मों से द्वेष ही करता है तब उसके लिए नियत कर्मों के करने की क्या आवश्यकता है क्यों वह नियत कर्म करेगा। उत्तर—जो देह भृत् है यानी मैं मनुष्य हूं ब्राह्मण हूं गृहस्थ हूं कर्त्ता हूं भोक्ता हूं इत्यादि अबाधित अभिमान से अनादि अविद्या जनित वासना के वश से व्यवहार सञ्चालन के लिए कल्पित को स्वाभाविक, असत्य को सत्य, भिन्न को अभिन्न समझता हुआ कर्मों के फलों का भोग करने के हेतु वर्ण एव आश्रम से युक्त स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरेन्द्रिय संघात देह का शरीर का धारण पोषण करता है वह पूर्ण रूप से कर्मों का त्याग नही कर सकता है। यहां का आशय है कि देह का शरीरका लक्षण स्वरूप है (भोगायतनं शरीरम्) भोगायतन माने भोग के आयतन स्थान को शरीर कहते हैं भोग शब्द का अर्थ है सुख दुःखादि फल का अनुभव और फल कर्मों से पैदा होते हैं अनुभव अन्तः करण मन का धर्म है जैसा कि कहा है सुख दुःखादि की उपलब्धि का साधन इन्द्रिय मन है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य का नाम जीव है। अत एव जीव को शरीरी कहा है अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। देहभृत् कहा है अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वरः। न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः इत्यादि में।

अतः भोगों को भोगने के लिए कर्म जन्य फलों का अनुभव करने के लिए जीव यदि कर्मों को नही करेगा तो फल भी उत्पन्न नही होंगे और यदि फल

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥

बालक्रीड़ा

नही उत्पन्न होंगे तो फलों को भोगने के लिए भोगायतन शरीर भी नही मिलेगा। क्योंकि (मूलं नास्ति कुतः शाखा) जब मूलभूत कर्म ही नही है तब उनके फल उनके भोग और उनके भोगने का आयतन शरीर कैसे मिलेगा कहां से मिलेगा अर्थात् नही मिलेगा। ऐसी हालत में यदि भोगायतन शरीर है तब शरीरी के लिए यहशक्य नही है कि वह भोग के अनुभव के विषय फलों को छोड़ दें या नही चाहे और फलोत्पादक कर्मों को नही करें क्योंकि कर्म नही करने वाला कर्महीन पुरुष भोग्यपदार्थ के सामने उपस्थित होने पर भी उनको भोग नहीं सकता है। जैसा कि तुलसी ने कहा है— सकल पदारथ हैं जग मांही कर्महीन नर पावत नाही। दूसरे यह भी बात है कि कोई भी क्षणभर के लिए भी बिना कर्म किये नही रह सकता है। अतः फलों के छोड़ने एवं कर्मों के नही करने पर शरीर का स्वरूप भोगायतनत्व ही गायब हो जायगा। शरीर यात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः कहा भी है कि कर्म किये बिना अर्थात् कर्म नही करने से शरीर यात्रा भी सिद्ध नही होगी। इसके सिवाय जिस पर अपना अधिकार हो अपना स्वामित्व हो वही वस्तु छोड़ी जा सकती है। कर्मणि एव अधिकारस्ते मा फलेषु कदाचनापि। क्यों कि कर्म में ही कर्म करने में ही तुम्हारी ड्यूटी है फल तो तब मिलेगा जब मालिक लोग बिल पासकरेगें चेक मिलेगा। जब फल पर स्वामित्व ही नही है तब त्याग किस का करेगा। जब फल मिला ही नही उस पर अधिकार हुआ नही। तब त्याग कौन करेगा। अतः यस्तु कर्म फल त्यागी स त्यागीत्यभिधीयते जो तो कर्म के फल को त्याग देता है वह त्यागी कहलाता है यह बात बनती नही हैं। अतः विचारणीय है।

यहां कर्माणि त्यक्तुं शक्यम् में कर्माणि बहुवचन है और शक्यं क्रिया एक वचन है ऐसा विपर्यासमय प्रयोग है। जैसा क्षुत् प्रतिहन्तुं 'शक्यम् यह भाष्य कार का स्त्रीलिंग एवं नपुंसक लिंग के विपर्यास का प्रयोग है। अतः दोनों बराबर हैं॥ ११ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अच्छे, बुरे एवं मिले जुले यानी भले और गन्दे दोनों इस तरह तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं। तदनुसार तीन प्रकार के इष्ट अच्छे अनिष्ट बुरे एवं मिश्र कर्म तथा वैसे ही उनके फल होते हैं। यहां कर्मणः में यह एक वचन जाति के अभि-प्राय से हैं अर्थात् कर्मत्वेन यावत्कर्मों का ग्रहण यहां किया गया है। अतः सभी प्रकार के कर्मों के ऐसे तीन प्रकार है।

यहां विचार यह है कि देहधारी कर्म का त्याग नही कर सकता है अतः वह कर्मत्यागी नही कहला सकता है। अर्थात् त्यागी नही कहला सकता है। तब प्रश्न होता है कि त्यागी किसे कहा जाय त्यागी कौन है। उत्तर—जो कर्मों के फलों का त्याग करता है वह त्यागी है। फिर प्रश्न होता है। कि फलों का त्याग करना असंभव है क्योंकि जो कोई भी जिस किसी वस्तु का त्याग करता है उस वस्तु पर उसका अधिकार होना चाहिए उस पर उसका स्वत्व होना चाहिए। इस प्रकारस्वत्व होगा तभी स्वसत्वनिवृत्ति पूर्वक परसत्वोत्पादन किया जा सकता है अन्यथा नही। इसमें त्याग नही कर सकने में दो कारण है। कर्म में ही तुम्हारा अधिकार है फल में नहीं है इस सिद्धान्त के अनुसार कर्मफल में अधिकार नही होने से अर्थात् स्वत्व नही होने से त्याग नही कर सकता है। यह एक कारण है।

दूसरा है भोगायतनस्वरूप शरीर का स्वरूप ही लक्षण ही गायब हो जायगा। क्योंकि शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्। फलों को भोगने के लिये ही शरीर मिलता है। और नामुक्तं क्षीयते कर्म बिना फलों के भोग किये कर्म क्षीण नही होते हैं तथा क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे। वे तो भोगा देव भोग से ही क्षीण होते है या योग बल से या भगवान् के साक्षात्कार से ही।

इस सिद्धान्त को यदि नही मानेंगे तो किसी ने ब्रह्महत्या की और अगम्या पुत्री आदि में गमन किया उसके बाद कहे कि हे भगवन्! मैंने जो यह ब्रह्महत्या एवं अगम्यागमन किया वह अब आपको समर्पित करता हूं। वस बन गया काम मनमाना व्यवहार एवं सिद्धान्त हो जायगा तब यह नही कह सकेंगे कि अमुक

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्म का फल बुरा है और अमुक का अच्छा तथा अमुक का मिश्र। अतः नामुक्तं वाला सिद्धान्त ही ठीक है एवं तीन प्रकार का कर्मफ़ल भी है। अन्ततः उसका त्याग नही कर सकता है। अस्तु। प्रकृत का अनुसरण करते हैं यह तो एक विचार है।

वह फल प्रेत्य माने कर्मानुष्ठान करने के बाद अत्यागी को ही कर्म का त्याग नही करने वाले रागी को ही मिलता है संन्यासी को कहीं भी यानी न किसी भी समय में, न किसी भी देश में, न किसी भी अवस्था में और न किसी भी रूप में मिलता है।

यहां सभी टीकाकारों व्याख्याकारों भाष्यकारों ने मातुलानी पी पीकर के प्रेत्यशब्द की टीका की है व्याख्या की है और भाष्य लिखा है। सब ने प्रेत्यशब्द का अर्थ किया है मरने के बाद शरीर पात होने के अनन्तर। यदि मरने के बाद ही कर्म करने का अपराध करने का और सुराध करने का फल मिले तो किसी दण्डनीय को दण्ड देने वाले शासक की आवश्यकता नही है और न कारागार की आवश्यकता है। क्योंकि चोरी करने वाले डाका डालने वाले अपराधी को मरने के बाद फल मिल ही जायगा। इसी तरह पारितोषिक या इनाम देने की या दिलाने की भी कोई आवश्यकता नही है क्यों कि मरने के बाद अच्छा कर्म करने वाले सुराधी को वह फल मिल ही जायगा।

दूसरे यह भी सिद्धान्त है कि

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते।

अत्युत्कट पुण्य एवं पापों का फल इसी जन्म में तीन वर्ष, तीन मास, तीन पक्ष एवं तीन दिन पर मनुष्य भोगता है। भला जब यह भी बात है तब प्रेत्य का जन्मान्तर में मरने के बाद अर्थ कैसे संगत होगा।

यह प्रेत्य शब्द की कथा हुई। अब संन्यासिनां शब्द की कथा सुनिये। यहां संन्यास और त्याग शब्दों के अर्थों के बारे में जानकारी का अहंकार मधूसूदन सरस्वती जी को है अतएव आप लिखते हैं कि 'कोई कहता है' इससे आरम्भ करके उसे बतलाते हैं कि आपने शब्द की मर्यादा का और अर्थ की मर्यादा का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

निर्धारण निर्णय नही किया है इस लिए आप ऐसा कहते हैं इत्यादि। वस्तुतः बात यहां यह है गीताकार ने त्यागी अत्यागी (रागी) और संन्यासी इन तीन व्यक्तियों का निर्देश किया है। उनमें पहला संन्यासी है जो अपने कर्मों का न्यास कर देता है कर्मों को जमा कर देता है धरोहर रख देता है। जैसे आजकल डिपोजिट रख देते हैं और समयके पूरे होने पर ले लेते हैं। दूसरा है त्यागी जो मन्दिर की रक्षा एवं छात्रों को वृत्ति के लिए दान कर्म करता है किन्तु उसके फलों को नही चाहता है उनका त्याग कर देता है। तीसरा है अत्यागी अर्थात् रागी जो कर्म करता है और प्रेत्य माने कर्म की समाप्ति के बाद फल चाहता है। प्रकृत में फल का प्रसङ्ग है अतः फल को चाहने वाला अत्यागी अर्थात् रागी या उसका त्यागी ; बस इन दोनों को ही कहना चाहिए इन दोनों की जोड़ी है किन्तु संन्यासी की यहां क्या आवश्यकता है उसको यहां क्यों कहा ऐसा प्रश्न होता है। इसका उत्तर यह है कि रागी जो कर्म के फलो कों चाहने वाला है वह विहित को तो करता ही है लोक वेद निषिद्ध मारण मोहन उच्चाटनादि कर्मो को भी अपनी कामना की पूर्ति के लिए करता है अतः वह फल का अत्यागी है उसको इष्ट विहित अनिष्ट निषिद्ध एवं मिश्र तीनों प्रकार के फल मिलते हैं क्योंकि वह त्यागी नही हैं।

यहां त्यागी नही है इसमें त्यागी का अभाव कहा है अभाव के निरूपण के लिए प्रतियोगी आवश्यक होता है क्यों कि प्रतियोगी के विना अभाव को नही कह सकते हैं अतः अत्यागी कहने पर त्यागी स्वतः प्राप्त होता है। प्रकृत में त्यागी वही है जो फलको नही चाहता है अत एव उसका त्याग करता है। जो व्यक्ति उत्तम फल का भी त्याग करता है यह अनिष्ट निषिद्ध फल का स्वप्न भी नही ले सकता है अतः वह मिश्र फल का भी त्याग करता है। किन्तु इन त्यागी और अ त्यागी दोनों का फल से सम्वन्ध अवश्य है क्यों कि इन लोगों ने फलजनक कर्मों को किया है यह बात अलग है कि एक ने फल को चाहकर किया है और दूसरे ने नही चाहकर किया है। अतः अत्यागिनाम् कहकर दोनों का संकेत कर दिया। किन्तु जिसका तो फल के मूल कर्म का न्यासकर देने के कारण फल से कोई भी सम्बन्ध ही नही है उस संन्यासी को स्पष्ट अपने शब्द संन्यासी शब्द से कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् ।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥ १२ ॥

बालक्रीड़ा

क्यों कि जिसने अपने कर्मों का ही न्यास कर दिया निक्षेप कर दिया अतः जब मूल ही नही है तब शाखा कहां से होगी के अनुसार उसका उन कर्मों के फल से देश काल अवस्था एवं स्वरूप से किसी भी प्रकार से लेश मात्र भी सम्बन्ध नही रहा इसी सम्बन्धाभाव को कहने लिए क्वचित् शब्द का उपन्यास यहां किया है। इस तरह ग्रन्थ की संगति स्पष्ट हो जाती है ऐसी स्थिति में श्रीधर स्वामी जी का और मधुसूदन सरस्वती जी का व्याख्यान अपनी जगह में ही बुद्धि का व्यायाम मात्र है और कुछ निष्कर्ष नही है।। १२ ॥

पहिले आपने कहा है कि कर्म करने में ही तुह्मारा अधिकार है फल में नही है यहां कहते हैं कि संन्यासी को छोड़कर [क्योंकि उसने फलोत्पादक कर्मों का न्यास निक्षेप कर दिया है धरोहर रख दिया है जैसे आजकल डिपोनिट में रखे हुए धन से व्याज प्राप्त कर सकता है किन्तु व्यापार में लगाकर पैसा नही कमा सकता है उसी तरह संन्यासी की भी स्थिति है] त्यागी एवं अत्यागी सबको फल मिलता है अतः फल पर भी अधिकार है। त्यागी छोड़ देता है यह बात अलग है किन्तु मिलता तो है ही। यदि नही मिले तो छोड़े किसको 'प्राप्तौ सत्यां निषेधः !' यह कैसे। उत्तर देते हैं कि हे महाबाहो ! इष्ट विहित अनिष्ट अविहित अर्थात् निषिद्ध एवं मिश्र विहितनिषिद्धोभयविध सब प्रकार के कर्मों की सिद्धि के निष्पत्ति के वास्ते साख्य शास्त्र में बतलाये हुए इन आगे कहें जाने वाले पांच कारणों को मुझसे समझो।

यहां का भाव यह है कि प्रकृति के गुण या प्रकृति करती है। यह तभी संभव है जब वह पुरुष प्रकृति को देखता है अन्यथा नही अतः कर्म की निष्पत्ति के लिए आत्मा को द्रष्टा और कर्ता मानना आवश्यक है। असंगो ह्ययं पुरुषः नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च। मन्ता कर्त्ता विज्ञा-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नात्मा पुरुषः इन श्रुतियों के अनुसार सिद्ध भी है। इसी लिए कहा कि तुम्हारा कर्म करने में अधिकार है तुम कर्त्ता हो सकते हो किन्तु फल में अधिकार नही है क्योंकि तुम अकेले कर्मों के निष्पादक साधक नही हो तुम्हारे अतिरिक्त चार और हैं। इस तरह तुमको मिलाकर पांच है। ऐसी हालत में तुम्हारा फल में अधिकार है ऐसा नही हो सकता है। इस तथ्य को वेदान्त शास्त्र में कहा गया है।

यहां सांख्ये कृतान्ते शब्दों की निरुक्ति के प्रसङ्ग में शांकर भाष्य की टीका करने वाले आनन्दगिरिजी, एवं मधुसूदनसरस्वतीजी ने, जो यह लिखा है कि जीव एवं व्रह्म इन दोनों की एकता तथा उसके जानने के उपयोगी पदार्थों का संख्यान व्युत्पादन जिसमें किया है वह सांख्य है जो कृतान्त है वेदान्त है। इसमें विचार है कि चिज्जड़ग्रन्थि रूप जीव उपहित है उपाधि से युक्त है और व्रह्म अनुपहित है उपाधि से रहित है। तव इन सोपाधिक एवं निरुपाधिक तत्त्वों की एकता अभेद कैसे संभव है अर्थात् असंभव है। क्योंकि अभेद की सिद्धि के लिए कोई मार्ग वनाना पड़ेगा। वह मार्ग यदि कोई हो सकता है तो उन दोनों में सम्वन्ध ही हो सकता है। अभेद तो स्वयं सम्वन्ध रूप है। सम्वन्ध का सम्वन्धान्तर बनाया जायगा तो अनवस्था हो जायगी। सम्वन्ध संयोग रूप में वन नही सकता है क्योंकि वह परिच्छिन्नों में ही होता है शुद्ध अशुद्ध उपहित अनुपहित परिच्छिन्न अपरिच्छिन्नों में नहीं। अतः वह सम्वन्ध रूप मार्ग जीव व्रह्म में कैसे हो सकता है। हां ईश्वर और जीव का सम्बन्ध हो सकता है। ये दोनों उपहित हैं उपाधि विशिष्ट होने से अशुद्ध भी है। ईश्वर में माया उपाधि है जीव में अविद्या उपाधि है। इन उपाधियों के हटने पर इनकी एकता अभेद होना स्वतः प्राप्त है। जैसा कि पंचदशीकार ने कहा है।

सत्वशुध्यविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते।
मायाविम्वो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वरः।

माया शुद्ध सत्त्ववाला है और अविद्या में सत्त्व अशुध्द है। इस तरह सत्व की शुध्दि और सत्त्व की अशुध्दि के कारण माया और अविद्या ये दो उपाधियां

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

पञ्चैतानि महावाहो ! कारणानि निवोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

बालक्रीड़ा

मानी गई है। इनमें से माया में प्रतिफलित हुआ चिदात्मा माया को वश में कर लेता है तव वह सर्वज्ञ ईश्वर है।

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा।

जो तो अविद्या के वश में है वह जीव है। जो विद्या की विचित्रता के कारण अनेक प्रकार का है।

ये ही ईश्वर और जीव माया और अविद्या इन उपाधियों से रहित हो जाते हैं तव अखण्ड सच्चिदानन्द ब्रह्म कहलाते हैं।

मायाविद्ये विहायैवमुपाधी परजीवयोः।
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्मैव लक्ष्यते बुध्यते इत्यर्थः॥ १३ ॥

आत्मा को कर्त्ता बनाने के लिए जो पांच कारण बतलाये थे वे कौन है इस आकांक्षा की पूर्ति के वास्ते उन्हें गिनकर बतलाते हैं।

अधिष्ठान देश, काल, अवस्था, स्वरूप आदि से अवच्छिन्न शरीर अर्थात् तद्देश तत्काल तदवस्थापन्न तत्स्वरूप विशिष्ट ही शरीर तत् तत् कर्मों की निष्पत्ति में कारण है न कि शरीरत्वेन यावत् शरीर कर्मों के कारण हैं पशु पक्षी के भी शरीर हैं उनसे वे यागादि कर्म नही कर सकते हैं। प्रकृत में सर्वविध कर्मों की निष्पत्ति का हेतु भूत अधिष्ठान मानव शरीर ही हो सकता है। इस लिए यहां अधिष्ठान शब्द से शरीर का उल्लेख किया है सभी टीकाकारों ने तथा हमने भी। अन्यथा यह गीता श्रुति स्मृति एवं सूत्ररूप वेदान्त शास्त्रीय प्रस्थानत्रयी में स्मृति रूप है अतः यहाँ वेदान्त गीता में अधिष्ठान शब्द का अर्थ ब्रह्म होना चाहिए था क्योंकि शुक्ति में रजत भ्रम रजताधिष्ठान शुक्ति के साक्षात्कार से नाश्य है वैसे ही यह जगद्विषयक भ्रम जगदधिष्ठान ब्रह्म के साक्षात्कार से नाश्य है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।

बालक्रीड़ा

पृथिवी और जल या वायु को साक्षात् माने विना किसी व्यवधान भूत अधिष्धान के देख सकते हैं या दिखा भी सकते हैं किन्तु ज्योतिः स्वरूप विद्युत् अग्नि आदि को साक्षात् नही देख या दिखा नही सकते हैं उसके देखने या दिखाने के लिए मेघ लकड़ी, कोयला एवं ताम्बे के तार रूप अधिष्ठान की आवश्यकता है विना व्यवधान भूत अधिष्ठान के नही देख सकते हैं। इस लिए भी इच्छा द्वेष सुख दुःख एवं चेतना की अभिव्यक्ति के लिए यह महाभूत संघात शरीर ही अधिष्ठान शब्द वाच्य है।

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता 'यहां पर जो तथा पद उपात्त है उसमें तथा पद के साथ यथा पद का जोड़ा है। अतः स्वप्न में न रथ है और रथी है तब भी रथ हैं और रथी है इस स्वप्न रथ की तरह मायाकल्पित भौतिक अधिष्ठान जैसे है वैसे ही माया कल्पित भौतिक एवं मैं कर्ता हूं ऐसे अभिमान वाला ज्ञान शक्ति प्रधान कर्ता है। पृथक् विध नाना प्रकार के पांच कर्मेन्द्रियों पांच ज्ञानेन्द्रियों और मन एवं बुद्धि इस तरह बारह भेदों वाला शब्दादि की प्राप्ति का साधन श्रोत्रादि करण है। इन बारह प्रकार के करणों में मन संशयात्मक वृत्ति विशेष है और बुद्धि निश्चयात्मक वृत्ति विशेष है जैसा कि कहा है।

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे।

इन वृत्तियों वाला कर्त्ता है। पृथक् असंकीर्ण विविध अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतों के कार्य प्राण अपान व्यान उदान एवं समान ये पांच और नाग कूर्म कृकलास देवदत्त एवं धनञ्जय ये पांच दोनों मिलाकर दश प्रकार की सदागमनाख्य क्रियाप्रधान वायु नाम धारी क्रिया ही चेष्टा हैं। इन कर्मों की निष्पत्ति करने वाले चार कारणों में पांचवां कारण दैव है अदृष्ट है जैसी कि श्रुति है देहो बाह्यार्थेन्द्रियाद्याः क्रियाश्च तथाऽदृष्टं पञ्चमं कर्महेतुः। इन सबमें

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥

बालक्रीड़ा

अदृष्ट बलवान् है फलति कपालं नहि भूपालः भाग्य फलदाता है भूपाल नही। और भी कहा है मा धाव मा धाव विनैव दैवम्। यदि अदृष्ट भाग्य नही है तो मत दौड़ मत दौड़ अर्थात् भाग्य के बिना दौड़ना व्यर्थ है। भाग्यायत्तमतः परम्। यहां सभी टीकाकारों एवं भाष्यकारों ने लिखा है कि दैव पद का अर्थ इन अधिष्ठानादि का अनुग्राहक देवता है ॥ १४ ॥

पंचैतानि १३ वें श्लोक में इन फलप्रद कर्मों के निष्पादक पांच कारण है ऐसा कहा इनमें पहला फलप्रद कर्म, दूसरी पांच संख्या, है एवं तीसरा कारण ये तीन तथ्य कहे हैं। उनमें से इष्टादि फलों को १२ श्लोक में, अधिष्ठानादि ५ को १४ वें श्लोक में, कह कर अब करण को कहते हैं। मनुष्य, शरीर माने हाथ पैर गुद एवं जनन इन्द्रियों एवं वाक् तथा मन से जो शास्त्र से विहित कर्म धर्म करता है और विपरीत माने शास्त्र से निषिद्ध कर्म अधर्म करता है उन कर्मों के ये अधिष्ठानादि पांच हेतु हैं।

यहां शरीर से पृथक् वाणी को कहने का आशय है कि चेष्टाश्रय एवं भोगायतन शरीर है। अतः शरीर कहने से चेष्टाएं और चेष्टाओं का अधिष्ठान आश्रय शरीर दोनों का ग्रहण हो जाता है। और वाक् कर्मेन्द्रियों में प्रधान है प्रधानानुपातिनो हि गुणा भवन्ति प्रधान के अनुयायी गुण होते हैं अतः प्रधान के कह देने से गुणों का भी ग्रहण हो जाता है। शरीर में सुख दुःख ईर्ष्या द्वेष एवं चेतना की अभिव्यक्ति का साधन मन है अतः मन के कह देने से ज्ञान की अभिव्यंजक ज्ञानेन्द्रियों का भी ग्रहण हो जाता है। कर्त्ता स्वयं नर है ही। जिसने प्रारब्ध कर्म अदृष्ट को भोगने के लिए शरीर को धारण किया है वह अदृष्ट के बिना रह ही नही सकता हैं अतः अदृष्ट का भी अर्थात् ग्रहण हो जाता है। इस तरह सब कुछ समञ्जस हो जाता है तब शंकरानन्दजी का और भाष्योत्कर्षदीपिकाका जो लिखना है वह अटर का पटर है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥ १५॥

बालक्रीड़ा

इन दोनों का क्रमशः लेख है कि जब सभी कर्म शरीर वाणी एवं मन इन तीन करणों से सिध्द हो जाते है तब अधिष्ठानादि पांचों को कर्मों का कारण कहना व्यर्थ है। यह शंकरानन्दी है। पञ्चेमानि श्लोक में अधिष्ठानादि पांचों को सब कर्मो का कारण कहा है और यहां शरीर वाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ऐसा कहा है यह तो पूर्वापर में विरोध हैं यह भाष्योत्कर्ष दीपिका है॥ १५॥

तत्र माने उन अधिष्ठानं १४ वें श्लोक तथा शरीर १५ वें श्लोकों में एवं सति इस प्रकार अधिष्ठानादि शरीरादि पांचों को कर्मों का कारण कहा है तब जो कोई केवल अकेले आत्मा को कर्मों का कर्त्ता मानता है समझता है वह ठीक नही समझता है क्योंकि यह अकृत बुध्दि होने से अर्थात् ऐसा समझने वाले की बुध्दि अकृत हैं संस्कृत नही हैं शास्त्र आचार्योपदेश एवं युक्तियों के द्वारा किये जाने वाले या होने वाले संस्कारों से सम्पन्न नही है अतः दुर्मति है अर्थात् जब बुध्दि संस्कृत ही नही है अत एव कुछ नही जानता है तब आचार्यो के उपदेश से शास्त्र को पढ़ कर युक्तियों को क्यों नही जान लेता है इस पर कहते हैं कि वह दुर्मति है उसकी मनन शक्ति विवेक शक्ति दुष्ट है।

यहां विचार होता है कि 'भवत्यत्यागिनां प्रेत्य' इसमें कहा है कि प्रेत्य मरने के बाद रागी को कर्मो के फल मिलते हैं। जब मर गया अर्थात् जिस शरीर से जिन करणों से जिन चेष्टाओं से और जिस दैव से कर्म किये थे वे सब तो नष्ट हो गये तब बचा कौन। अच्छेद्य अदाह्य अशोष्य अक्लेद्य आत्मा ही तो बचा। ऐसी हालत में करेगें तो सब मिलकर और भोगेगा अकेला आत्मा। यह कौन न्याय हैं या कृत बुध्दित्व है या सुमतित्व है। अतः कहना चाहिए कि आत्मा चेतन है और बाकी सब जड़ हैं चेतन में ही कर्तृत्व शक्ति हैं। जड़ उस शक्ति से शून्य है इस लिए यही न्याय्य है कृत बुध्दित्व है यही सुमतित्व है कि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥ १६॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

बालक्रीड़ा

केवल चेतन आत्मा ही कर्त्ता है अधिष्ठान करण चेष्टा एवं भाग्य सब जड़ वर्ग उपकरण हैं वे कर्ता नही हैं। यही सिध्दान्त है तभी अग्निम श्लोक 'यस्य नाहं कृतो भावः. की संगति हो सकेगी। क्योंकि जिस ज़ड़ वर्ग में मैं हूं यह भाव माने भावना या प्रत्यय त्रिकाल में भी सम्भव नही है और बुध्दि अन्तःकरण का भी सद्भाव सम्भव नही है उसके विषय में उक्त श्लोक को कोई असंस्कृत बुध्दि एव दुमति भी नही कह सकता है किन्तु चेतन के विषय में तो इसको सभी कोई कहेगा दुः, सु, कृत और अकृत सभी बोलेगा॥ १६॥

जिसको अहं मैं कृत् कर्ता हूं ऐसा भाव भावना या प्रत्यय नही है और न जिसकी बुध्दि कर्म से लिप्त होती है यानी जिसके अन्तःकरण में जिसकी बुध्दि में मैंने ये कर्म अच्छे या बुरे या मिश्रित किये हैं मुझे इसका फल आवश्य ही भोगना पड़ेगा ऐसा संस्कार मन में जमा नही है वह पुरुष इस संसार के लोगों को मार कर भी मारने वाला नही है और न उन कर्मों के शिकञ्जों में जकड़ा जाता है।

यहाँ एक विचार होता है कि यदि यह भाव वस्तुतः तथ्य हो कि मैंने तो ये ब्रह्म हत्या मातृगमन पुत्रीसम्भोग वगैरह कर्म नही किये हैं जो कुछ किया है वह सब इन अधिष्ठान शरीर इन्द्रिय प्राणादि एवं दैव ने किया है मैं तो केवल इन व्यापारों का साक्षी हूं। तब तो कर्म कर्त्ता का इष्टतम नही देकर शरीर का इन्द्रिय का चेष्टा का इष्टतम होगा और ये धर्म शास्त्र स्मृति और पुराण सदाचार सब पढ़ना लिखना व्यर्थ है। करके भी नही करता है मारकर भी नही मारता है वह परस्पर विरुध्द कथन भी सिध्दान्त हो सकता है तब तो

नहि कर्म कृतं तावत् सद्यः फलति गौरिव
न चेत्स्वस्मिन् ततो ह्येतन पुत्रपौत्रेषु नप्तृषु।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

बालक्रीड़ा

जैसे बछड़े ने थनों में मुंह लगाया वैसे ही गौ पिघल गई इस तरह किया हुआ कर्म सद्यः तत्काल नही फलता हैं वह समय पर फलता हैं और यदि वह कर्म कर्त्ता में फली भूत नही हुआ तो उसके पुत्रों में होगा पौत्रों में होगा और नप्त लड़की के लड़को में होगा। ये सब वाक्य भी मिथ्या होंगे।

यदि कहे कि यह सब लौकिक सत्य हैं परमार्थ सत्य नही है तब तीर्थ यज्ञ दान जप तप एव पुरश्चरण भी श्रुति भी सब लौकिक हैं। ये सब भी तो लोक व्यवहार में ही हैं। इस पर कहते हैं कि सुनो भाई! जैसे भोजन करते हैं वह भोजन सर्वाङ्ग पोषण करता है। किन्तु शौच टट्टी नही लगती है उसके लिए दवा खाते हैं टट्टी लग जाती है मूत्र या वमन नही लगता है। टट्टी लगती हैं उसको रोकने की दवा लेते हैं तो टट्टी रुक जाता है मूत्र नही रुकता है इससे सिद्ध है कि ये औषध प्रतिनियत कर्मकारी होते हैं इसी तरह ये पुण्य पाप भी प्रतिनियत फलजनक हैं जैसे औषधियों के जानकार औषधियों को देते हैं बतलाते हैं वैसे ही पुण्यपापको बतलाने वाले और निषेध करने वाले शास्त्र आचार्य एवं उपपत्तियां है। अतः जैसे अग्नि में हवन करने का फल अग्निप्रज्वलन प्रत्यक्ष है और भस्म में हवन करना व्यर्थ है यह भी प्रत्यक्ष है उसी तरह संसार, व्यवहार दशा में सत्य है परमार्थ में असत्य है ॥ १७ ॥

पहले अधिष्ठानादि पांचों को कर्मों का कारण बतलाया। फिर उनमें कर्त्ता का कर्म में अभिमान रहित होने से मैं कर्त्ता हूं ऐसा नहीं मानने से कर्म एवं उसके फल से सम्बन्ध नही होता है ऐसा कहा। अब उन्ही का ज्ञान ज्ञेयादि की प्रक्रिया एवं गुणों के कारण होने वाले भेदों का व्याख्या के द्वारा विवरण करने के लिए उपक्रम करते हैं। ज्ञान जिससे विषयों को जाना जाय यानी विषयों

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

को प्रकाशित करने वाली क्रिया, ज्ञेय माने उक्त क्रिया का कर्म अर्थात ज्ञान का विषय, परिज्ञाता [यहां परिशब्द अधिपरी अनर्थकौ सूत्र के निर्देशानुसार अर्थ शून्य है] ज्ञाता उक्त ज्ञान का आश्रय इन तीनों के रहने पर ही इसको छोड़ना इसको नही छोड़ना इसको लेना या इसको नही लेना वगैरह हो सकता है अतः ये तीन प्रकार कर्मो के प्रवर्त्तक हैं । यहां चोदना का अर्थ प्रवर्त्तक है ।

[चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः यह शावरभाष्य का वचन है]

करण कर्मों के अतिशय साधन उनमें वाह्य कर्णादि, आन्तर वुध्यादि हैं । कर्म कर्त्ता का अत्यन्त इष्ट कर्त्तव्य । कर्त्ता स्वतंत्र कर्मादि सकल कारकों का प्रयोजक क्रिया को करने वाला; यह तीन प्रकार का कर्मसंग्रह है क्रिया का आश्रय है । संप्रदान अपादान और अधिकरण ये तीन कारक कर्त्ता कर्म एवं करण के अन्तर्गत हैं पृथक् नही है ऐसा समझना चाहिये ।

अथवा इसकी दूसरी व्याख्या करते हैं । ज्ञान माने लिङ् लोट् तव्य एवं तव्यत् आदि शब्दों से होने वाली या दी जाने वाली प्रेरणा । ज्ञेय माने उक्त ज्ञान के विषय होने से लिङादि शब्द से प्रेरणा दी जाती है अतः ये लिङादि शब्द प्रेरक हैं । परि ज्ञाता ज्ञान का आश्रय लिङादिशब्दों से प्रेरणीय यह तीन प्रकार की कर्मचोदना है । यहां कर्म माने पुरुष के द्वारा करणीय व्यापार क्रिया अर्थात् आर्थी भावना । चोदना माने उसकी प्रेरणा विधि शाव्दी भावना ।

करण माने इतिकर्त्तव्यता के सहित साधन धात्वर्थ । कर्म माने भाव्य स्वर्गादि फल । कर्त्ता फल की कामना से क्रिया करने वाला पुरुष । यह तीन प्रकार का कर्मसंग्रह है । कर्म माने पुरुष के द्वारा करणीय व्यापार क्रिया आर्थी भावना । संग्रह माने उसका संक्षेप । यहां आर्थी भावना पुरुष प्रयत्न है और शाब्दी भावना विधि है प्रेरणा है ।

विधि ब्रह्मा का भी नाम है वह भी प्रेरणा देता है कहा भी जाता हैं विधि विधान कभी टलता नही" । विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य यहां विधि शब्द सूत्र का वाचक है । अतः विधि का अर्थ है विधायक प्रेरक । वेद में वह लिङादि शब्द हैं ।

विधि प्रेरणा शाब्दी भावना, प्रवृत्ति की हेतु है प्रवृत्ति की जनिका है यह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।

बालक्रीड़ा

सब लोगों में प्रसिद्ध है। क्यों कि प्रवृत्ति करने वाले लोग कहते हैं कि हम लोग अमुक की प्रेरणा से कहने से यह कार्य करते हैं। यही प्रेरणा प्रवर्त्तना जब छोटेके प्रति बड़े की होती है तब उसको आज्ञा या प्रेषणा या प्रेरणा कहते हैं और जब बड़े के प्रति छोटे की होती है तब उसका नाम याञ्चा या अध्येषणा है। तथा छोटे बड़े का भेद नही रहता है बराबरी का दर्जा रहता है तब यही प्रवंतना अनुज्ञा अनुमति सहमति कहलाती है। यह सब प्रवर्त्तन रूप आज्ञादि प्रेरक पुरुष के ज्ञान विशेष हैं या इच्छा विशेष है अतः चेतन के धर्म हैं ऐसा सब लोग जानते हैं। यह कथा लोक की है। उसमें वेद तो शब्दरूप है अतः अचेतन हैं। अग्निहोत्रं जुहुयात् इसतरह के लिङादि शब्द ही प्रेरक हैं प्रभुतुल्य हैं। यही धर्म चोदना प्रेरणा प्रवर्त्तना, विधि उपदेश शाब्दी भावना आदि शब्दों से कहा जाता है।

यह जुहुयात् आख्यातरूप विधिशब्द पुरुषप्रयत्नरूप आर्थी भावना के जानने में हेतु है इस तरह भावना के जानने में हेतु होनेवाला भी शब्दभावना का भी परम्परया हेतु है॥ १८॥

इस तरह पूर्वप्रतिज्ञात अधिष्ठानादि पांचों का ज्ञानज्ञेयादि की प्रक्रिया के द्वारा विवरण करके अब गुणों के कारण होने वाले उनके भेदों की व्याख्या के द्वारा विवरण करते है। उनमें ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञान ज्ञेय एवं ज्ञाता का एक त्रिक बनता है और कर्मेन्द्रियों के द्वारा करण कर्म एवं कर्त्ता का दूसरा त्रिक बनता है। इन दोनों को यहां कहा है। अब ये दोनों त्रिक सात्विक राजस एवं तामस होते हैं इसको बतलाने का उपक्रम करते हैं। सत्व रज एवं तम इन गुणों के भेद से ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता प्रत्येक तीन ही प्रकार का है अर्थात् ज्ञान भी सात्विक राजसिक एवं तामसिक है ज्ञेय भी सात्विक राजसिक एवं तामसिक है और ज्ञाता भी सात्विक राजसिक एवं तामसिक है। इसी तरह करण भी सात्विक राजसिक एवं तामसिक है।

यहां का सार यह है कि विधि से अपना अर्थात् विधिबोधक शब्द का ज्ञान होता है जिस शब्द को प्रवर्त्तना के रूप में कहते हैं अतः विधिज्ञान ही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

बालक्रीड़ा

भावना है उसमें पुरुष प्रवृत्ति रूप आर्थभावना ही भाव्य है। और विधि ज्ञान करण है जैसे यजते सामान्यशब्द का अर्थ है इष्टं भावयेत् इष्ट को प्राप्त करो। इसमें करण की आकांक्षा होती है कि किससे इष्ट की भावना करें। तब आकांक्षा की पूर्ति के लिए दूसरा वाक्य है सोमेन यजेन; यहां सोम की मतुबर्थ में लक्षणा करते है अतः सोमवता यागेन इष्टं भावयेत् अर्थ होता है। फिर प्रकार शैली की आकांक्षा होती है कि कैसे भावना करे तब स्तुति रूप अर्थवाद से प्राप्त हुआ कि ऐसा करना है इतिकर्त्तव्यता की प्राप्ति हुई। जैसे इस गो को खरीदना है।

यहां प्रश्न होता है कि इसी को क्यों खरीदते हैं अन्य को क्यों नहीं। उत्तर-यह बहुत दूध देती है। इसके बच्चे जीते हैं। इसको बछिया ही होती है और हर साल व्याती है इस तरह की कथा लोक में है यही कथा वेद में भी है। यह प्रशंसात्मक अर्थवाद है।

कर्म भी सात्त्विक राजसिक एवं तामसिक है और कर्त्ता भी सात्त्विक राजसिक एवं तामसिक है ऐसा गुण संख्यान में सांख्य-शास्त्र में कहते हैं मैंउसको यथावत् शास्त्रानुसार सुनो अर्थात् सुनने के लिए सावधान होओ। पहले १४ वें अध्याय में 'सत्वं रजस्तम इति गुणाः निबध्नन्ति' ऐसा गुणों को बन्धक कहा है और १७ वें अध्याय में 'यजन्ते सात्त्विका देवान्' इस तरह तीन गुणों के कारण तीन प्रकार के प्राणियों का तथा उनके तीन प्रकार के स्वभावों का निरूपण किया और बतलाया कि इस रजःस्वभाव एवं तमःस्वभाव को छोड देना चाहिए और सात्त्विक आहारादि का सेवन करके सात्त्विकस्वभाव को प्राप्त करना चाहिए ऐसा कहा और यहां कहते हैं कि इस त्रिगुणरूप उपाधि के बदौलत ही आत्मा का क्रिया कारक एवं फल के साथ सम्बन्ध है स्वतः उनसे उसका कोई सम्बन्ध नही है। अतः यहां वहां यही वैलक्षण्य है ॥ १९ ॥

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

बालक्रीड़ा

अब सात्त्विक ज्ञान के स्वरूप को कहते हैं । सम्पूर्ण भूतों में [यहां सर्व कहने से सर्वत्वेन यावत् सर्व आ ही गये थे फिर भूतेषु कहने का अभिप्राय है कि जो भी भवन धर्मा हैं होने वाले हैं वे सब ब्रह्मादि स्थावरान्त यहां लेने हैं । हिरण्य गर्भ विराट् नामक कारणरूप सूक्ष्मरूप एवं स्थूलरूप है समष्टि तथा व्यष्टि है जो जाति स्वमात्र से देव दानव मानव पशु पक्षी नाम से विभक्त परस्पर से व्यावृत्त उत्पत्ति विनाशशील दृश्य वर्ग है उनमें अव्यय उत्पत्तिविनाश आदि सर्वविध विकारों से शून्य अविभक्त अव्यावृत्त सर्वत्र अनुस्यूत और अधिष्ठान होने से बाध का अवधि [अर्थात् यह रजत है यहां शुक्ति में प्रतीयमान रजत का शुक्तिरूप अधिष्ठान के साक्षात्कार होने पर बाध हो जाता है माने शुक्ति में रजतविषयक भ्रमात्मक ज्ञान का नाश हो जाता है] होने से एक अद्वितीय भाव को जिस से देखते हैं उसको तुम सात्त्विक ज्ञान समझो । २० ।

पृथक्त्वेन तु में उपात्त तुशब्द संसार के उच्छेद के हेतु सात्विक ज्ञान से से संसार के कारण की विलक्षणता को बतलाता है ।

जिस ज्ञान के द्वारा पृथक् धर्मों के कारण पृथक् विध यानी सुखी एवं दुःखी रूपवाले नाना भावों को पुरुष देखता है उस ज्ञान को राजस समझो । यहां ज्ञानं वेत्ति के रूप में ज्ञान को कर्त्ता बनाया है वह (एधांसि पचन्ति) लकड़ियां पकाती हैं वाक्य में जैसे—करण को पकाने में साधन लकड़ी को पकाने वाली कर्त्ता कहा है उसी प्रकार प्रकृत में भी जानने के साधनभूत ज्ञान को जानने वाला वेत्तिक्रिया का कर्त्ता कहा है क्योंकि विवक्षातः कारकाणि भवन्ति इस सिद्धान्त के अनुसार बोलने वाले कारक को कर्त्ता को करण, करण को कर्त्ता, अधिकरण को कर्त्ता (स्थाल्यां पचति होता है किन्तु उसको स्थाली पचति थाली बटलोई पकाती है ऐसा) अपनी इच्छा से बोल सकता है ।२१।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥
नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहंकारेण वा पुनः ।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥
अनुबन्धं क्षयं हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

बालक्रीड़ा

अब तामस ज्ञान को कहते हैं जो तो अहेतुक है निर्युक्तिक है निष्कारण है अतएव पूर्णरूप से बस यही है इतना ही है इस प्रकार एक कार्य में प्रतिमा में या देह में सक्त है लगा हुआ है वह तत्त्व रहित अल्प तुच्छ ज्ञान तामस है ।२२।

अब कर्म के तीन प्रकारों को कहते हैं जो नियत है जिसमें फल अवश्य ही रहता है अर्थात् नित्य है सङ्ग से रहित है मैं ही महायाज्ञिक हूं ऐसा अभिमान और जो फल की कामना से रहित पुरुष के द्वारा राग एवं द्वेष से नही किया गया है उस कर्म को सात्विक कर्म कहते हैं ।

यहां राग का आशय है इस कर्म के करने से मुझे लोक में प्रतिष्ठा मिलेगी और द्वेष का मतलव है इस कर्म के वदौलत मैं शत्रुओं को परास्त कर दूंगा ।२३।

जो तो फलप्राप्ति की भावना से अथवा अहंकार से पुरुष के द्वारा क्लेश वहुल कर्म किया जाता है । वह कर्म राजस कहलाता है ।२४।

अनुवन्ध भविष्य में इसका क्या होगा ऐसे परिणाम, क्षय हानि, हिंसा प्राणियों के उत्पीडन एवं पौरुष शरीर सामर्थ्य की अवेक्षा आलोचना नहीं करके जिस कर्म को करते हैं वह कर्म तामस कहलाता है ।२५।

अब क्रमशः कर्त्ता के तीन भेदों को कहते हैं जो फल की अभिसन्धि से मुक्त है, अनहंवादी है अहंकार से अपने गुणों को अपने मुंह से नही बघारता है। धैर्यवान् है माने विघ्नों के उपस्थित होने पर भी आरम्भ किये हुए कर्मों को नही

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक ईच्यते ॥ २६ ॥
रागी कर्मफलप्रेप्सलुंब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलस।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

बालक्रीड़ा

छोड़ने वाला है उत्साही है शरीरं वा पातयेयं कार्यं वा साधयेयम् ऐसा दृढ निश्चय वाली है तथा कार्य की सिद्धि होने पर गर्वसे फूला नही समाना और असिद्धि में रोने लगना ऐसे विकारोंके स्पर्शसे जो शून्य है वह कर्त्ता सात्विक कर्त्ता कहलाता है।२६।

अब राजस कर्त्ता को कहते है। जो रागी है विषयों में जिसका मन लगा हुआ है अतः एव कर्मों के फल की कामना करता है, लोभी है, हिंसात्मक है यानी दूसरे को दवाने का मारने का या दूसरे की वृति के छेदन करने का जिसका स्वभाव है, अशुचि है पवित्रता रहित है और कार्य की सिद्धि होने पर प्रसन्न होता है और असिद्धि में शोक से आकुल होता है ऐसा कर्त्ता राजस कर्त्ता कहलाता है।२७।

अब तामस कर्त्ता को कहते है जो अयुक्त है युक्त नहीं है अर्थात् सर्वदा विषयों में इधर उधर के कर्मों में व्यासक्त ही रहता है अतः अपने कर्त्तव्य के पालन में असावधान है। प्राकृत है शास्त्र के अध्ययन नही करने, आचार्यों के उपदेश के नही मिलने एवं उतम पुरुष के साथ संसर्ग के नही होने से विवेक शून्य है। स्तब्ध है आचार्य गुरु सन्त महात्मा देवता आदि अपने से बडों को प्रणाम करने से विमुख रहता है। शठ है छिपकर दूसरे का विगाड करने में नुकसान पहुचाने में तत्पर रहता है अर्थात् वञ्चक है। यहां नैष्कृतिक या नैकृतिक दोनों पाठ के माने है दूसरे की हानि करके भी अपने मतलव को सिद्ध करने में परायण है। अलस है उद्योग करने में मन्द स्वभाव वाला है अर्थात् उद्योग करने की प्रवृत्ति से शून्य है। विषादी है सर्वदा असन्तुष्ट स्वभाव के कारण दुःखी रहता है। दीर्घ सूत्री है जो काम क्षणभर में ही हो सकता है उसको भी देर में करता है वह तामस कर्त्ता कहलाता है।२८।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृण।

प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ! ॥ २९ ॥

बालक्रीड़ा

इस प्रकार गुणों की विभिन्नता से ज्ञान कर्म एवं कर्त्ता की विभिन्नता को कहा। अब धृत्युत्साहसमन्वितः में उपात्त धृति और उत्साह के भी सत्त्वादि गुणों के कारण होने वाले भेदों को कहते हैं। हे धनञ्जय ! अब मैं तुमको अलग २ करके बुद्धि और धृति के सत्वादिगुणों के कारण होने वाले भेदों को पूर्ण रूप से कहूंगा उनको तुम सावधानी से सुनो। यहां एक विचार है कि बुद्धि शब्द का क्या अर्थ है। उत्तर—

बुद्धिर्विवेचनारूपा सा ज्ञानजननी श्रुती

बुद्धि विवेचनारूपा ज्ञान की जननी निश्चयात्मिका वृत्ति है। यह ब्रह्मवैवर्त्त के प्रकृतिखण्ड में उल्लेख है अतः बुद्धि ज्ञान है ऐसा नैयायिकों का कहना गडवड है। इसके पांच भी गुण हैं और सात भी गुण हैं। जैसे—

इष्टानिष्टविपत्तिश्च (१) व्यवसायः (२) समाधिता (३)

संशयः (४) प्रतिपत्तिश्च (५) बुद्धेः पञ्च गुणान् विदुः।

इष्टानिष्ट की विपत्ति माने विनाश अभाव जिसमें होता है वह निद्रा रूपा वृत्ति है यह बुद्धि का पहला गुण है। व्यवसाय उत्साह। समाधिता समाहितचित्तता चित्तास्थैर्यं माने चित्त की वृत्तियों का निरोध। प्रतिपत्ति प्रत्यक्षादि प्रमाणों से प्राप्त ज्ञान। संशय यह है अथवा यह है ऐसा कोटिद्वयावगाही ज्ञान। ये पांच गुण हैं—

शुश्रूषा (१) श्रवणं (२) चैव ग्रहणं (३) धारणं (४) तथा

ऊहापोहो (५) ऽर्थविज्ञानं (६) तत्वज्ञानञ्च (७) धीगुणाः।

यहां ऊह और अपोह शंका और समाधान को एक माना है।

बुद्धि के विनाश करने वाले १५ दोष होते हैं

शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मोहः परासुता

ईर्ष्या मानो विचिकित्सा कृपाऽसूया जुगुप्सता

बुद्धिक्षयकरा एते भाषकासवमृत्तिकाः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये ।
बन्ध मोक्ष च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥३०॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी ॥३१॥

बालक्रीड़ा

बुद्धिवृद्धिकारी पदार्थ

निम्बाटरूष वृन्ताश्च बुद्धिवृद्धिकरा मताः

अब क्रमशः बुद्धि के तीनों भेदों को कहने के उपक्रम में पहले सात्त्विकी बुद्धि को कहते हैं। हे पार्थ ! प्रवृत्ति को धार्मिक कर्मों के करने को, निवृत्ति को धर्म विरुद्ध कर्मों से हटने को, कार्यों को प्रवृत्ति मार्ग में रहकर कर्त्तव्य कर्मों के करने को, अकार्यों को निषिद्ध निन्दित कर्मों के नही करने को, भय को बुरी संगति से बुरी आदतों से बुरी चीजों से बुरे विचारों से डरने को, अभय को श्रुति स्मृति शास्त्र विधान आचार्योपदेश युक्ति एव अनुभूति से सिद्ध कर्मों को क ता हुआ भी सर्वपरिग्रह रहित होकर अत एव अकेले का जीवन निर्वाह कैसे होगा ऐसे भय को छोड़कर "नहि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात ! गच्छति" कल्याण मार्ग में रह कर उत्तम आचरण करने वाला कभी भी दुर्गति को नही प्राप्त कर सकता है इस भगवान् की उक्ति का अनुसरण करके भय रहित होने को, बन्ध को मेरा है मैं करता हूं ऐसे अभिमान द्वारा संसार में फँसने और फँसाने को, मोक्ष को शम दम तितिक्षा वैराग्यरूप साधनचतुष्टय सम्पत्ति का आश्रयण करके चिदचित् की ग्रन्थि से यानी चैतन्य और अन्तः करण की ग्रन्थि के कारण अविद्या रूप उपाधि से छूटने को जिसके द्वारा समझता है वह बुद्धि सात्त्विकी की बुद्धि है। यहां भी करण भूत बुद्धि को 'या बुद्धिर्वेत्ति' जो बुद्धि जानती है इस प्रकार कर्त्ता बनाया है ३०

अब राजसी बुद्धि को कहते हैं। हे पार्थ ! जिसके द्वारा धर्म को शास्त्र विहित को, निषिद्ध को अधर्म को, कार्य को अवश्य कर्त्तव्य को और अकार्य को दूरतः परिहरणीय को उपेक्षणीयको देश काल पात्र अवस्था एवं स्वरूप के अनुरूप नही समझता है वह बुद्धि राजसी है। ३१ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी ॥ ३२ ॥

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ ! राजसी ॥३४॥

बालक्रीड़ा

अब तामसी बुद्धि को कहते हैं। हे पार्थ ! तमोगुण से आवृत हुई आच्छन्न हुई बुद्धि सभी पदार्थों को विपरीत मानती है समझती है जैसे धर्म को अधर्म, विधि प्राप्त को अविधि प्राप्त, अधर्म को विधि से निषिद्ध को धर्म, विहित कार्य को अवश्यानुष्ठेय को अकार्य एवं उपेक्षणीय अकार्य को दूरतः परिहरणीय को कार्य अवश्य कर्त्तव्य मानती है वह बुद्धि तामसी बुद्धि है। ३-।

धृति के भी तीन भेदों को कहने लिए पहले सात्त्विकी धृति को कहते हैं— योग से वृत्तियों के निरोध के द्वारा ब्रह्म में चित्त की एकाग्रतारूप समाधि से अव्यभिचारिणी सर्वदा समाधि से व्याप्त रहनेवाली अर्थात् कभी भी व्यभिचरित नही होने वाली जिस धृति से धारणात्मक धीवृत्ति से माने प्रयत्न से मन प्राण एवं चक्षुरादि इन्द्रियों की क्रियाओं को चेष्टाओं को बाह्य प्रवृत्तियों को धारण करती है शास्त्र प्रतिपादित मार्ग से बहिर्मुख होकर इधर उधर जाने से रोकती है वह धृति सात्त्विकी धृति है। ३३।

अब राजसी धृति को कहते हैं। यहाँ यया तु में उपात्त तु शब्द सात्त्विकी से राजसी को भिन्न करता है। अर्जुन ! जिस धृति से धर्म और काम को धारण करता है यानी यह धर्म है यह अर्थ है और यह काम है ऐसा निश्चय करता है और उसकी प्राप्ति का उपाय करता है इसी के प्रसंग से धर्मादि के सम्बन्ध से अर्थात् धर्म के धारण के प्रसंग से धर्म जनित सुख को अर्थ के और प्रसंग से काम से मिलने वाले फल को चाहता है वह धृति हे पार्थ ! राजसी धृति है।३४।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा पार्थ ! तामसी ॥
सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ !
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥

बालक्रीड़ा

अब तामसी धृतिको कहते है हे पार्थ ! तमोदोष दूषित बुद्धि वाला जिसके बदौलत स्वप्न (निद्रा) भय, शोक, विषाद एवं शास्त्र निषिद्ध विषयों के उपयोग की तत्परता को नही छोड़ता है प्रत्युत सर्वदा कर्तव्य समझकर उसको धारण करता है वह धृति तामसी धृति है। ३५।

इस प्रकार ज्ञान कर्म कर्त्ता बुद्धि और धृति प्रत्येक के सत्वादि तीन गुणों के कारण होने वाले तीन तीन भेदों का निरूपण करके अब सम्पूर्ण जीवों के अभिलषित सुख के भी उसी प्रकार तीन भेदों को कहने का उपक्रम करते हैं" हे भरतर्षभ ! अब मुझसे तुम तीन प्रकार के सुखों को सुनो और सुनकर समझो। हेय और उपादेय के विवेक के लिए दूसरे विक्षेपों को हटाकर मन को स्थिर करो। अब सुख के सामान्य लक्षण को कहते हैं। अभ्यास से माने बार बार अनुभव करने के कारण अतिसम्पर्क हो जाने से मन जिसमें रम जाता है अर्थात् मन प्रसन्न हो जाता है तथा मन के प्रसन्न हो जाने से सब दुःखों का अन्त नाश हो जाता है क्यों कि कहा भी है कि प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योप जायते मन के प्रसन्न हो जाने पर सब दुःखों की हानि हो जाती है वह सुख है।३६।

सामान्य सुख के स्वरूप को कहकर सात्विकादि विशेष सुखों को कहने के उपक्रम में सात्त्विक सुख का लक्षण करते हैं। जो वह है या वह जो है माने यत् तत् शब्द का प्रतिपाद्य है वस्तुतः स्वरूपतः कहने के अयोग्य हैं अर्थात् अनुभव-मात्रगम्य है। जो सुख अग्रे मिलने के पहले अथवा प्राप्त करने की प्रथम आरम्भिक दशा में विष के सदृश, है और परिणाम में अमृत के तुल्य है उस अपनी बुद्धि की प्रसन्नता निर्मलता से उत्पन्न होने वाले सुख को सात्त्विक कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहां विपमिव यह पाठ विचारणीय है। जो आरम्भ में विषकी तरह दुःखावह है" यह कहना प्रथम ग्रास में मक्षिकापतन के जैसा कहना है सुख का सामान्य स्वरूप है कि अभ्यास से जिसमें चित्त रम जाता है यानी जैसे जैसे उसका परिचय होता है वैसे वैसे मन प्रसन्न होता है और दुःख का उसमें नितरां अभाव हो जाता है। जब सुख मिलने वाला है यानी अब सुख के मिलने की स्थिति उत्पन्न होने वाली है ऐसी भावना होने पर भी मन में उमंग आती है या उठने लगती है तब सुख के मिलने के आरम्भ में प्रथम क्षण में दुःख की स्थिति कैसे हो सकती है। यदि सुख के स्वरूप में दुःख का भी संश्लेष रहेगा तो सुख का सुखत्व ही गायब हो जायगा। क्योंकि सुख और दुःख ये दो भिन्न भिन्न पदार्थ हैं अत एव मैं सुखी हूं मैं दुःखी हूं ऐसी प्रतीतियां होती हैं। ऐसी स्थिति में दुःख से भिन्न सुख के स्वरूप में लक्षण में विषमिव इस दुःखावह पद का उपन्यास दोषावह हैं।

यदि विष और अमृत इन शब्दों की जोड़ी को ही मिलाना उद्देश्य हो तब यह जोड़ी तो राजस सुख में भी है ऐसी हालत में सात्त्विक और राजस सुखों में अन्तर क्या होगा। और भी एक बात है कि विष का परिणाम विशेष स्थिति को छोड़कर दुःखावह ही है यह आपामर प्रसिद्ध है आरम्भ में वह किसी भी स्थिति में दुःखावह नही है। यह भी बाल वृद्ध जनता में प्रसिद्ध है। क्योंकि विष के खाने के पहले और विष के खाने के समय मे कोई कष्ट नही होता है। जो भी कुछ कष्ट होता है वह खाने के बाद और मरने के पहले होता है। वल्कि देखा गया है कि सांसारिक दुःखों से ऊबकर मरने के वास्ते विष को खाने के लिए प्रवृत्त व्यक्ति प्रसन्न ही रहता है क्यों कि उसकी भावना है कि मरने के बाद इन दुःखों से छुटकारा मिल जायगा इस लिए विषमिव पाठ की प्रकृत में संगति नही है।

यदि कहें कि जैसा कि शांकरभाष्य एवं उसके अनुगत व्याख्याओं में लिखा है कि सुख को प्राप्त करने के लिये जो उपाय बतलाये गये हैं उनको करने में उनको जुटाने में महान् कष्ट है जैसे ब्रह्म सुख को प्राप्त करने के लिए पहले आरम्भ काल में वेदान्तादि शास्त्रों के ज्ञान का अर्जन करना इसके लिए

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सांसारिक विषयों में संलग्न मन को रोकना और इस रोकने में उपयोगी ध्यान धारणा एवं समाधि का अभ्यास करना मुख्य है प्रथम सोपान है।

इसमें सांसारिक विषयों में संलग्न मन को रोककर इस सोपान पर आरोहण करना विष की तरह दुःखावह है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए विषमिव यह पाठ लिखा है।

यह लिखना भी असंगत है क्योंकि आप ही के कथनानुसार मूख प्राप्ति के साधन उपाय ही दुःखावह है या दुःखरूप है न कि उपेय सुख। वह तो अपने सुख रूप में ही है न वह दुःखावह है या न वह दुःखरूप ही है।

यदि कहें कि 'कार्य और कारण में अभेद माना जाता है। इस अभेद मानने के सिद्धान्तानुसार कारण के धर्मों को कार्य में कहा जाता है। क्योंकि सुख के कारण दुःखावह है अतः कार्य सुख को दुःखावह कहा है' तो यह कहना भी असंगत है क्योंकि आप (अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखस्यान्तं निगच्छति) दुःखासंभिन्न सुख के स्वरूप को कहने के लिए प्रस्तुत हैं न कि दुःखसंभिन्न सुख के। किन्तु यह तो दुःखरूप ही सुख हुआ इसको कौन चाहेगा। अतः यहां द्विषमिव पाठ संगत है। आरम्भ में सांसारिक सुख जिसमें जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों से मन व्यासक्त है व्यामुग्ध है उससे छुड़ाकर वेदान्तादि शास्त्राध्ययन एवं समाधि के द्वारा अपनी तरफ ले जानेवाला ब्रह्मसुख आरम्भ में दुश्मन की तरह ही मालूम पड़ता है।

प्रश्न—अजी साहब! दुश्मन भी तो विष ही है अतः द्विष कहो या विष कहो एक ही बात हुई। दुश्मन कौन या कैसा या कहां सुखरूप है?

उत्तर—अग्नि को जानो या मत जानो वह अपने सम्पर्क में आने वाले को जलायेगी ही। भले ही वह सम्पर्क में आनेवाला व्यक्ति अपना उपासक ही क्यों न हो। विष ऐसा नहीं है। विष को हाथ में लो विष को अपने जेब में रखो कष्टप्रद नहीं है वह तो खाने के बाद और मरने के पहले ही कष्टप्रद होगा। किन्तु दुश्मन तो दिखाई पड़ते ही। वह भी नादान नासमझ व्यक्ति के लिए ही दुश्मन होगा। क्योंकि नासमझ व्यक्ति उपदेश देनेवाले अपने हितैषी माता पिता को भी दुश्मन

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

बालक्रीड़ा

समझता है । अतः विष में और द्विष में बड़ा अन्तर है । क्योंकि विष तो सबके वास्ते ही बुरा है नासमझ हो चाहे या समझदार हो ।

एक बात और भी है यह लक्षण सात्विक सुख का है । सत्त्व तो सुखात्मक है सुख स्वभाव है । अतः सात्विक के लक्षण में स्वरूप में दुःखावहत्व का निवेश होना तो आश्चर्यकर ही है । वह तो व्याघात ही है । बस भैया अब विचार को समाप्त करो । राजस सुख ही दुःखमिश्रित होता है । सात्विक भी दुःखमिश्रित हुआ तो सात्विक सुख और राजस सुख में क्या अन्तर होगा क्या भेद होगा । ३७ ।

अब राजस सुख को कहते हैं जो वह स्त्रीसंगमादि से उत्पन्न होने वाला अतिप्रसिद्ध सुख है वह आरम्भ में मनोनिरोधादि के नहीं करने के कारण उनसे होने वाले दुःख से रहित है अत एव अमृत के तुल्य है परन्तु परिणाम में विष के सदृश है विष जैसे बल वीर्य रस प्रज्ञादि का नाशक होने तथा आत्महत्यारूप अधर्म से जनित नरक के हेतु होने से दुःखावह है । वैसे ही राजस सुख भी है । क्योंकि यह सुख विषय माने सांसारिक पदार्थ और इन्द्रियों के संयोग से ही होता है न कि आत्म-विषयक बुद्धि की स्वच्छता से होता है ।३८।

तामस सुख को कहते हैं—जो आरम्भ तथा अनुबन्ध में परिणाम में आत्मा को सत् और असत् का विवेक करनेवाली बुद्धि की शक्ति का मोहक है तिरोधायक है और जो निद्रा आलस्य एवं प्रमाद असावधानी से उन्मत्तावस्था से उत्पन्न होता है उसको तामस सुख कहा है । ३९ ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

न तदस्ति पृथिव्यां वाऽदिवि देवेषु वा पुनः ।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप ।

बालक्रीड़ा

अब त्रिगुणात्मक प्रकरण का उपसंहार करते हैं तथा जो छूट गये हैं उनका भी संग्रह करते हैं। ऐसा कोई भी सत्त्व प्राणिमात्र पृथिवी में या अदिवि पाताल में वा अथवा देवों में माने देवलोक में नहीं है जो इन प्रकृति के गुणों से मुक्त हो रहित हो। ४०।

इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् त्रिगुणात्मक है यह कहा। इस पर शंका होती है इस तरह यदि सभी लोग त्रिगुणात्मक होंगे तो इसका मोक्ष हो जायगा यह मुक्त हो गया है यह व्यवहार कैसे होगा। इसके उत्तर में कहते हैं कि हे परन्तप ! ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्रों के कर्म अपने भाव धर्म ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व वैश्यत्व एवं शूद्रत्व के प्रभव जनक गुणों के वदौलत पृथक् पृथक् हैं।

यहां यह कहना आवश्यक है कि सत्वगुण ब्राह्मणस्वभाव ब्राह्मणत्व का जनक है क्योंकि ब्राह्मण में शान्ति प्रधान है। सत्त्व मिश्रित रजोगुण क्षत्रिय स्वभाव क्षत्रियत्व का प्रभव है क्योंकि इसमें ईशन कर्त्तृत्व शासकत्व मुख्य है। तमः संपृक्त रजोगुण वैश्यत्व का कारण है क्योंकि इसमें ईहा धनाद्यर्जन की इच्छा व्याप्त है। रज से मिला हुआ तम शूद्रत्व का हेतु है क्योंकि इसमें मूढ़ता अज्ञान विशेष है। इन सब के कहने का मतलब है १५वें अध्याय में संसार को अश्वत्थ वृक्ष बनाया और कहा कि इस वृक्ष को असङ्गशस्त्र से काट कर उस परब्रह्म को खोजो। इसमें गुणात्मक वस्तु ससङ्ग है और गुणातीत असंग है इसको बतलाने के लिए क्रियाओं और कारकों के सम्बन्ध से जन्य फल लक्षण सम्पूर्ण संसार गुणात्मक है अतः ससङ्ग है और परमेश्वर गुणातीत है अतः असंग है ऐसे गीतार्थ का निरूपण किया। अब गीतार्थ का उपसंहार और असंग शस्त्र की प्राप्ति के उपाय का प्रदर्शन करने के लिए प्रकरणान्तर का आरम्भ करते हैं।

यहां स्वभावप्रभवैः पद में स्वभाव शब्द का अर्थ है संस्कार ; अतः उससे प्रभव उत्पन्न गुण है यही अर्थ यहां होता है, क्योंकि निष्कारण गुणों की पैदाइस अनुप-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥

बालक्रीड़ा

पन्न है अतः स्वभाव गुणों का कारण है। जन्मान्तर में किये हुए धर्मादि का संस्कार जो मरने के समय में अभिव्यक्त होता है उसे स्वभाव कहते हैं ऐसा स्वभाव का अर्थ "त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा" इस १७वे अ. के २रे श्लोक के शांकरभाष्य में लिखा है "जन्मान्तर में किये हुए कर्म का संस्कार जो प्राणियों के वर्त्तमान जन्म में अपने कार्यों के अभिमुख अनुरूप अभिव्यक्त होता है वह स्वभाव है यह गुणों का प्रभव है गुणों की उत्पत्ति में कारण है ऐसा १८वें के इस ४१वें में लिखा है।

अतः स्वभाव माने जन्मान्तरीय संस्कार। उससे उत्पन्न होनेवाले न कि अमुक कुल में उत्पन्न होने के कारण स्वतः प्राप्त होनेवाले गुण। जैसे पक्षियों का का आकाश में उड़ना पक्षी कुल में जन्म होने से प्राप्त है। छिपकलियों विस्तुइयों का कमरे के भीतरी छत पर निरवलम्ब दौड़ना जन्म से ही सिद्ध है। अत एव एक जाति की अपेक्षा दूसरी जाति से व्यावृत अर्थात् उसमें नहीं रहने वाले धर्मों का पाठ शमादि श्लोक में नहीं दिखाई पड़ता है। क्योंकि द्विजातियों ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य इन तीन वर्णों में रहने वाले धर्म अध्ययनादि जो शूद्र में नहीं रहते हैं। इसी तरह ब्राह्मण में रहनेवाले जो अध्यापन प्रतिग्रह एवं याजन क्षत्रिय एवं वैश्य में नहीं रहते हैं। उनका यहां इस प्रकरण में पाठ नहीं है किन्तु सभी जातियों में समान रूप से रहनेवाले साधारण धर्म शमादि हैं। ऐसा यहां दिखाई देता है। जैसे द्रोण, कृपाचार्यादि ब्राह्मणों में शौर्यादिगुण भरतादि क्षत्रियों में शमादि गुण दिखाई पड़ते हैं। अत एव इन संस्कार प्राप्त गुणों से युक्त शूद्र को भी ब्राह्मण ही समझना चाहिये और इससे रहित ब्राह्मण को भी शूद्र समझना चाहिये।

इसीलिए कहा गया है कि कलियुग में दो जातियों (ब्राह्मण और शूद्र) की ही स्थिति रहेगी। सभी वर्ण शूद्रप्राय हो जायेंगे जैसा कि आजकल हो गया है। कहीं कहीं नाममात्र के ब्राह्मण रह जायेंगे। जैसा कि महाभारत के वनपर्व में शाप

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

से सर्प हुए नहुष के प्रति युधिष्ठिर का वाक्य है—

सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा
दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र ! स ब्राह्मण इति स्मृतः ।

हे नागेन्द्र ! जिसमें सत्य, दान, क्षमा, शील, आनृशंस्य (माने अक्रूरता) तप और घृणा (दया) दिखाई पड़ती हैं वह ब्राह्मण माना गया है। तथा—

यत्रैतल्लक्ष्यते सर्पः वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः ।
यत्रैतन्न भवेत्सर्प ! तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ।

हे सर्प ! जिसमें यह वृत्त आचरण दिखाई पड़ता है वह ब्राह्मण माना गया है और जिसमें यह वृत्त नहीं हो उसको शूद्र कहना चाहिए। यहां शील शब्द का उपन्यास किया है उसका स्वरूप हारीत एवं अन्य आचार्यों ने ऐसा लिखा है। जैसे—

ब्रह्मण्यता ब्राह्मणों को श्रेष्ठ मानने का भाव। देव गुरु माता-पिता में भक्ति करना। सौम्यता। अपरोपतापिता दूसरों को ताप नहीं पहुंचाना। अनसूया, किसी से भी ईर्ष्या एवं द्वेष नहीं करना। मृदुता सबके साथ मधुर रहना। अपरुषता ; कठोर नहीं होना। मित्रता। प्रियवादिता। कृतज्ञता। शरण्यता घर में या रक्षा में आये हुए का पालन करना। कारुण्य एवं शान्ति यह १३ प्रकार का शील होता है ऐसा हारीत का कथन है। शीलं राग द्वेष परित्यागः राग एवं द्वेष का परित्याग शील है और 'शीलं सद्वृतम्' शील सदाचार है ऐसा अन्य स्मृतिकारों का कथन है।

शील समाधि है क्योंकि शील समाधौ धातु से शील शब्द बना है समाधि माने समाधान जो मन का धर्म है अतः 'यच्चेतसोऽन्यविषय व्याक्षेपपरिहारेण शास्त्रीयार्थनिरूपणप्रवणता तच्छीलम्'। चित्त के अन्य विषयों में होनेवाले व्याक्षेप को हटाकर जो शास्त्रीय अर्थ के निरूपण में प्रवणता है वह शील है ऐसा मनु के व्याख्याकार मेधातिथि का कथन है।

"शीलं स्वभावो नियमश्च धर्मे" शीलस्वभाव माने जन्मान्तरीण संस्कार है और धर्म के विषय में नियम है ऐसा तत्त्वबोधिनीकार ने शीलं को मलोपश्च इस वार्तिक की व्याख्या में लिखा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धर्म में नियम का स्वरूप यह है कि यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यं मेव यजन दान और अध्ययन करना ये तीन कर्म ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए अवश्य कर्त्तव्य हैं छोड़ने के योग्य नहीं है क्योंकि असाधारण है। यहां तपः शब्द का "अध्ययनं परमं तपः" इस उक्ति के अनुसार अध्ययन है। अवशिष्ट अध्यापन, याजन और दान लेना ये तीन कर्म ब्राह्मण की जीविका है। प्रजा का पालन न्यायोचित दण्ड देना एवं युद्ध करना यह क्षत्रिय की जीविका है। कृषि गोरक्षण वाणिज्य एवं कुसीद (ब्याज के लिए धन का लेन देन करना) यह वैश्य की जीविका है। ये कर्म इन तीनो के साधारण है इनके विषय में कोई नियम नही है क्योंकि ये जीविका के लिए है अतः इनको नही भी कर सकता है। शूद्र का एक ही कर्म है इन तीनों वर्णों की सेवा करना। इन में (चतुर्थ एकजातिस्तु) चतुर्थ वर्ण शूद्र एक जाति है क्योंकि उसका वेद के अध्ययन में अधिकार नही है अतः उसका मौञ्जीबन्धनरूप द्वितीय जन्म नही होता है। ब्राह्मणादि तीन वर्ण द्विजाति है। इनके दो जन्म होते हैं जैसा कि लिखा है।

'मातुरग्रेऽधि जननं द्वितीयं मौञ्जीबन्धने। इति
'अत्रास्य माता सावित्री पिता त्वाचार्य उच्यते ॥' इति च।

प्रथम जन्म माता से होता है द्वितीय जन्म मौञ्जी मोखला के धारण करने से होता है। इस मौञ्जी बन्धन में सावित्री माता और आचार्य पिता कह लाता है।

इस सबके लिखने का मतलब है कि भगवान् का —

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पि तुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते।
अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि।

और आचार्य टीकाकारों का

'युद्धत्यागे स्वधर्म हानिः। क्षत्रधर्मे युद्धे प्रवृत्तोऽपि।
निनधर्मयुद्धपरित्यागपरधर्मभिक्षाभिसन्धिपरमर्जुनम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इस प्रकार युद्ध को जो क्षत्रिय के लिए अवश्य कर्त्तव्य धर्म बतलाना और युद्ध के नही करने को जो धर्म की हानि बतलाना है वह कैसे। क्योंकि यज्ञ दान और अध्ययन कर्म ही नही छोड़े जा सकते है ये कर्म तीनों वर्णों के लिए अवश्य कर्त्तव्य हैं ये कर्म असाधारण है अतः ब्राह्मण की तरह क्षत्रिय और वैश्य के लिए भी यजन दान और अध्ययन ही प्रधान मुख्य कर्म है बाकी सब कर्म जीविका है ऐसी हालत में इनको ऐच्छिक भी कहा गया है। इसीलिए द्रोणाचार्यादि का युद्ध विद्या को पढ़ाना और युद्ध करना जीविका के रूप में था। तदनुरूप शौर्यादि का होना भी उचित ही था।

फलतः यदि युद्ध नही करोगे तो लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे जो निन्दा महान् पुरुष के लिए मरने से भी बढकर दुःख की बात है इतना ही नही जो लोग तुमको सम्मान की दृष्टि से देखते हैं वे भी यही कहेंगे कि अर्जुन भयभीत होकर युद्ध से भाग गया। इत्यादि कहकर बढावा देने की क्या आवश्यकता थी। क्षत्रिय के लिए युद्ध करना अवश्य नियत धर्म होता तो युद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिए श्रेयस्कर दूसरा नही है और युद्ध नही करोगे तो पाप लगेगा इत्यादि कहने की क्या आवश्यकता थी अतः यह सब अर्थवाद है प्रशंसा ही है अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त करना और युद्ध से विरत नही होने देना ही परम लक्ष्य है ऐसा मालूम पड़ता है।

इस श्लोक के व्याख्यान करने के प्रसङ्गमें भाष्यकारों एवं टीकाकारोंने एक गप्प हाँक दी है कि 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां' यहां ब्राह्मणादि तीनों का समास किया है और 'शूद्राणां' का उन तीनों के साथ समास नही किया है! यहाँ यह समास करना बतलाता है ये तीन द्विज हैं ये तीनों वेदाध्ययन के अधिकारी हैं। और शूद्र पद का उनके साथ समास नही करना बतलाता है कि शूद्र एक जाति है और वेदाध्ययन का अधिकारी नही है। अधिकार का अर्थ है योग्यता और अधिकारी का अर्थ है योग्य।

इन ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र पदों में समास करना योग्यता का विधायक हैं और समास नही करना योग्यता का निषेधक है यह कहना लिखना ही गप्प है। क्योंकि कौन वेद पढ़ने का अधिकारी है और कौन नही इस सिद्धान्त का प्रतिपादन धर्मशास्त्र ही करता है अन्य शास्त्र नही करता है। इस विषय में विधि एवं निषेध की व्यवस्था करने में धर्मशास्त्र ही प्रमाण है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

'अन्य शास्त्र नही और श्रुतिस्तु वेदो विज्ञयो घर्मशास्त्रन्तु वै स्मृतिः'

इस सिद्धान्तभूत वाक्य के अनुसार घर्मशास्त्र ही स्मृति है। स्मृतिकारों मनु, याज्ञवल्क्य; वसिष्ठ, आपस्तम्ब, गौतम सभी ने इन चारों पदों का समास किया हैं जैसे मनु के वाक्य में—

लोकानां तु विवृद्धयर्थं मुखबाहूरुपादतः।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्त्तयत्। १। ३१।

यहाँ मखबाहूरुपादतः समस्त पद है। इसमें चारों का एक साथ उपन्यास है।

सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक् कर्माण्यकारयत्। १।८७।

इसमें भी मुखबाहूरुपज्जानां यह समस्त पद है इसमें चारों का एक साथ उपन्यास है।

याज्ञवाल्क्य के वाक्य में—

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।

द्वितीय ब्रह्मचारि प्रकरण के १०वें श्लोक में इन चारों का समास करके एक साथ उपन्यास है।

वसिष्ठ का वाक्य—

चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषां त्रयो वर्णा द्विजातयः। इसमें भी वही कथा है।

आपस्तम्ब का वाक्य—

चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रास्तेषां पूर्वः पूर्वो जन्मतः श्रेयान्। इसमें भी वही बात है।

इस विषय में प्रमापक आप लोग नही है क्योकि आप लोग भाष्यकार एवं टीकाकार कोई भी स्मृतिकार नही है अतः आपलोगों का समास करने और नही करने से ऐसी कल्पना करना सब गप्प ही गप्प है और क्या है।

इसी तरह शम दम शौच आदि पदों की व्याख्या भी मनमानी की गई है जैसे—

घृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः,
घीर्विद्यासत्यमक्रोघो दशकं घर्मलक्षणम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यह मनुस्मृति के षष्ठ का ४२वां श्लोक है। इसकी व्याख्या में मेधातिथि लिखते हैं कि — दमः अनौद्धत्यम् विद्यामदधनमदाभिजनमदादि त्यागः। दम का अर्थ है औद्धत्य का अभाव। यानी विद्या धन और अभिजन कुलीनता के मद का त्याग करना। महाभारत में शौच संकरवर्जनम्

सांकर्य को नही करना ही शौच है लिखा है।

इसी तरह याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः। दानं दमो दया शान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्। आचाराध्याय गृहस्थ धर्म प्रकरण पंचम। १२२।

दमः अन्तःकरण संयमः। अन्तकरण का संयम ही दम है।

कि शुक्रनीति में लिखा है। योऽर्थे शुचिः स शुचिः न मृद्वारिशुचिः शुचिः।

मिताक्षरा में श्लोक है। अतः शौच अर्थ की शुद्धि है।

शौच आभ्यन्तर मानसिक शुद्धि और वाह्य मट्टी से जल से शुद्धि। मेधातिथि ने लिखा है शौच आहारादिकी शुद्धि है।

मेधातिथिने लिखा है कि जिन विषयों का निषेध नही किया है यानी जिनका सेवन किया जाना अनुचित नही है तव भी उनमें प्रसक्ति नही करना इन्द्रिय निग्रह है।

मिताक्षराकारने लिखा है ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का अपने नियत विषयों में वर्तन व्यवहार या आचरण करना इन्द्रिय निग्रह है।

अभक्ष्यपरिहारश्चासंसर्गश्चापि निर्गुणैः। स्वधर्मे च व्यवस्थानं शौचमेतत् प्रकीर्तितम्। वृहस्पति ने बतलाया है कि अभक्ष्य का परिहार, मूर्खों के साथ संसर्ग नही करना और अपने धर्मों में व्यवस्थित रहना ही शौच है।

एक कहते हैं कि स्वभावप्रभव का अर्थ है अपने भाव माने ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र वर्णों में पैदा होने के कारण प्राचीन कर्म। इन कर्मों से सत्वादि गुण भिन्न २ वर्णों में आते हैं। यह रामानुज भाष्य है।

अमृततरंगिणीकार कहते हैं कि स्वपद का अर्थ है भगवान्। अतः भगवान् कहते हैं कि स्व माने मेरा जो भाव यानी प्राणियों को सात्विक राजसिक एवं तामसिक भेदों से विचित्र रूप में देखने की इच्छा। इस इच्छा से ये सत्त्वादि तीन गुण पैदा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ।४२।

बालक्रीड़ा

होते हैं और उन गुणों से कर्मों का प्रकृष्ट विभाग होता है। इत्यादि भिन्न-भिन्न व्याख्यायें अपनी-अपनी बुद्धि की कसरत है ।४१।

अब क्रमशः तीनों वर्णों के जन्मन्तरीय संस्कार जनक गुणों के कारण प्रविभक्त अलग-अलग कर्मों को कहने का उपक्रम करते हैं। जो अलगाव माने विभाग संस्कार जनक गुणों के कारण हुआ है। उनमें पहले ब्राह्मण के कर्म को बतलाते हैं।

शम अन्तः करण का उपशम शांकर। अन्तः करण का मन का अनर्थकारी विषयों से नियमन निग्रह करना शम है मधु. त. प्रकाश., शंकरानन्दी, श्रीधरी, सदानन्दी, भाष्योत्कर्ष, परमार्थप्रपा, नीलकण्ठी।

बाहरी एवं भीतरी दोनों इन्द्रियों का संयमन निग्रह शम है ऐसा अपरः के नाम से जयतीर्थ का उद्धरण है। इसी को मिताक्षरा याज्ञवल्क्य की टीका में इन्द्रिय-निग्रह कहा है।

परमात्मा में निष्ठा शम है मध्व भाष्य रामानुज भाष्य। परमानन्द की प्राप्ति अमृत तरंगिणी।

तत्त्वप्रकाशिका में एवं रामानुज भाष्य में बाह्येन्द्रियो का संयमन शम है और मन का नियमन दम है। ऐसा भी लिखा है जो विषय निषिद्ध नहीं हैं उनमें भी प्रसक्ति नहीं करना इन्द्रिय निग्रह है ऐसा मनुस्मृति की टीका में मेधातिथि का लेख है।

दम बाह्येन्द्रियो का दमन शांकर, नील. अमृत. मधु. शंकरी, श्रीधरी, सदा. भाष्योत्कर्ष, परमा, राघवे। दम मन का नियमन रामानुज, तत्व। शम दृष्ट एवं अदृष्ट सभी प्रकार के विषयों की भोगाशा से मन की निवृत्ति।

तप कायिक वाचिक एवं मानसिक त्रिविध है। जिनका वर्णन या उल्लेख १७वें अध्याय के १४, १५, १६वें श्लोको में किया है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्य युद्धे चाप्यपलायनम् ॥

बालक्रीड़ा

शौच बाहर एवं भीतर की शुद्धि मिथ्या नहीं बोलने से दुर्वाक्यो के प्रयोग नहीं करने से मुख की शुद्धि और परान्न के नहीं खाने से जिह्वा की शुद्धि। प्रतिग्रह नहीं करने से पाणि की शुद्धि। शास्त्रविहित ब्रह्मचर्य से उपस्थ की शुद्धि। राग द्वेष काम क्रोध ईर्ष्या असूया लोभ एवं मात्सर्य के त्याग देने से मन की शुद्धि। वेद विहित आचरण से क्रिया की शुद्धि। इस तरह ६ प्रकार का शौच है।

तप शास्त्रीयविहित व्रत अब्व्रत केवल पानी पीकर रहना पानी के सिवाय और कुछ भी नहीं खाना न पीना। पयोव्रत दूध ही पीना इत्यादि खाने-पीने का नियमन, उपवास भोजन नहीं करना। ऐसे नियम से शरीर को तपाना यह तत्त्व प्रकाशिका है। यहां जो मन में आया वही लिखा है। पातञ्जल सूत्र है शौच सन्तोष तपः स्वाध्याय एव ईश्वरप्राणधान ये पांच नियम कहलाते हैं। यहां तप नियम का एक अवयव है फिर व्रतोपवसनियमैः शरीरोत्तापनं तपः इस मधुसूदनीसमुद्धृत वाक्य में नियमैः यह बहुवचन कैसे। नियमोव्रतम् यहां नियम और व्रत अलग २ पर्याय है फिर व्रत और नियम दोनों का उल्लेख कैसा। तप ब्रह्मचर्यादि राघवेन्द्रीतप भोगों का नियमन शास्त्रों में प्रसिद्ध कायक्लेश रामानुज भाष्य है।

क्षान्ति क्षमा बहुत बार अपकार करने पर भी चित्त के विकृत होने की अवस्था के प्राप्त होने पर भी विकृत नहीं होना है।

आर्जव सरलता कुटिलभाव का नहीं होना। अर्थात् शरीर वाणी एवं मन इन तीनों से समान आचरण करना। ज्ञान सम्यक् प्रकार से पढ़े हुए वेदादिशास्त्रों के अर्थ का अवबोध। विज्ञान उनका अनुभव, आस्तिक्य शास्त्र के विषयों में श्रद्धा। सिद्धान्ततः ये शमादि नो पदार्थ चारों वर्णों में साधारण है परन्तु ब्राह्मण में सत्वगुण के उद्रेक से स्वभाव से प्राक्तन धार्मिक विचारों से स्वतः प्राप्त हैं।४२।

अब क्षत्रियों के स्वभाव प्राप्त कर्मों को कहते हैं। शौर्य विक्रम बलवानों को दबाने की प्रवृत्ति। तेज बलवान् भी जिसको नहीं दबा सकें ऐसा प्रागल्भ्य। धृति बड़ी भारी आपत्ति में भी देहेन्द्रिय संघात का अवसन्न नहीं होना। दाक्ष्य सभी क्रियाओं को सिद्ध करने में चातुर्य प्रत्युत्पन्न मतित्व। युद्ध से भागना नहीं पराङ्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥४३॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

बालक्रीड़ा

मुख नहीं होना । दान औदार्य पात्रों में बिना संकोच के वित्तपर अपने सत्त्व का परित्याग करके परके सत्त्व को उत्पन्न कर देना । ईश्वरभाव प्रजा के पालन करने के लिए शासनीय व्यक्तियों पर प्रभु शक्ति का प्रकट करना । ये यद्यपि चारों वर्णों में भी हो सकते हैं तद्यपि क्षत्रियों में जन्मान्तरीय मंस्कार से पैदा होते हैं ।४३

अब वैश्य एवं शूद्र के जन्मान्तरीय संस्कार जनित कर्मों को कहते हैं । कृषि अन्न को उत्पन्न करने के लिए हलादि से भूमि का विलेखन उत्कर्षण । गोरक्षा, वाणिज्य व्यापार लेन-देन करना बेचना, खरीदना । यह वैश्य का संस्कार प्राप्त कर्म है । इन तीनों ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्यों की सेवा करना शूद्र का संस्कार प्राप्त कर्म है ।

यहां प्रश्न होता है कि कर्म निरूपण के आरम्भ करते समय कहा था कि अब में ब्राह्मणों के, क्षत्रियों के एवं वैश्यों के नियत कर्मों को अवश्य कर्त्तव्य कर्मों को कहूंगा किन्तु आपने दम एवं दम ऐसे शौर्य एवं तेज ऐसे तथा कृषि ऐसे सर्वसाधारण प्राकृत कर्मो को ही कहा नियम से करने के योग्य कर्मों को नहीं कहा । यह क्यों । उत्तर—यद्यपि शौर्यादिक एवं शमादिक कर्म संध्यादि कर्मों की तरह अवश्य नियमेन अनुष्ठेय नहीं है तद्यपि इनमें कुछ वैशिष्टय है । सुनिये ।

अहरहः सन्ध्यामुपासीत, प्रतिदिन सन्ध्या की उपासना करो । सायं काल एवं प्रातःकाल में अग्निहोत्र का हवन करो । स्वाध्याय वेद का अध्ययन करना चाहिए । ह्रिया देयं भिया देयं हतं यज्ञमदक्षिणम् । विना दक्षिणा दिये यज्ञ नष्ट हो जाता है अतः लज्जा से भय से प्रेम से औचित्य से दान अवश्य करना चाहिए । इस तरह जैसे शास्त्र ने द्विजातियों के लिए नियम से नित्य करने के योग्य कर्मों का उपदेश दिया वैसे ही ब्राह्मणादि शान्त लोग शम के द्वारा शिव कर्म का आचरण करते हैं । दान्त लोग दम से किल्विष का दमन करते हैं । तप से पाप का तपन करते इस तरह सबके लिए साधारण कर्म भी कहें । क्षत्रिय के लिए सब प्राणियों की

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥

बालक्रीड़ा

रक्षा करना, उचित दण्ड व्यवस्था करना। संग्राम में स्थिरता के साथ सन्नद्ध होना युद्ध से भाग नहीं जाना ये अधिक कर्म बतलाये हैं। वैश्य के लिए कृषि गोरक्षा एवं कुसीद करना ये कर्म अधिक कहे और चतुर्थ वर्ण शूद्र के लिए भी सत्य बोलना क्रोध नहीं करना ये कर्म परिचर्या के सिवाय अधिक कहे।४४।

ऐसी स्थिति में ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ और मुमुक्षु नर व्यक्ति फलाभिसंधि को छोड़कर अपने अपने वर्ण, आश्रम, वर्णाश्रम, गौण एवं नैमित्तिक रूप से शास्त्र के द्वारा विहित न कि अपनी इच्छा से कल्पित धर्मों में अभिरत सम्यक् अनुष्ठान करने में तत्पर संसिद्धि को यानी देह एवं इन्द्रिय संघात की अशुद्धि के विनष्ट हो जाने से ज्ञान की उत्पत्ति होने से सम्यक् योग्यता को प्राप्त कर लेता है।

यहाँ नरपद के उपादान का मतलब यह है कि वर्णाश्रमाभिमानी मनुष्य ही कर्मकाण्ड में अधिकारी है। देवादि को वर्णाश्रमो का अभिमान नहीं है अतः उनको कर्मकाण्ड में अधिकार नहीं है किन्तु वर्णाश्रमादि की जिसमें अपेक्षा नहीं है ऐसे उपासनादि में तो देवतादि का भी अधिकार है ऐसा देवता अधिकरण में सिद्ध कर दिया है।

प्रश्न—प्रायः सभी लोगों को देखते है कि लोग अपने-अपने कर्मो में लगे रहते हैं ऐसी हालात में सभी लोगी को सम्यक् ज्ञान होना चाहिए किन्तु वे सम्यक् ज्ञानी क्यों नहीं होते हैं तव उनको संसारी नहीं होना चाहिए वे तो पूरी तौर से संसारी हैं यह कैसे ?

उत्तर—अपने कर्मो में निरत श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करता हुआ मनुष्य जिस प्रकार संसिद्धि को सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करता है उस प्रकार को सुनो और सुनकर उसके अनुष्ठान करने में मन को लगाओ।

श्रेय का लक्षण अभ्युदय है माने अभ्युदय ही श्रेय है। वह अभ्युदय धर्म से प्राप्त होता है जैसा कि कहा है—यतोऽभ्युदयतिः श्रेयस सिद्धिः स धर्मः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

वेदोऽखिलो धर्ममूलम् के अनुसार वेदमूलक वह सनातन धर्म वर्ण धर्म १ आश्रम धर्म २ वर्णाश्रम धर्म ३ गौण धर्म ४ एवं नैमित्तिक धर्म ५ नाम से ५ प्रकार का है। उनमें वर्ण धर्म उसे कहते हैं जो केवल वर्ण के आश्रय पर होता है जैसे उपनयन। आश्रम धर्म वह है जो आश्रम के आश्रय से प्रवृत्त होता है जैसे भिक्षा एवं दण्डादि का ग्रहण। ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए भिक्षा का प्रकार भिन्न भिन्न होता है जैसे भवति भिक्षां मे देहि यह ब्राह्मण का प्रकार है। भिक्षां भवति मे देहि यह क्षत्रिय का है। भिक्षां मे देहि भवति यह वैश्य का है। इसी प्रकार दण्डादि का भी प्रकार भिन्न है। ब्राह्मण का पलाश का क्षत्रिय का खदिर का वैश्य का उदुम्बर का दण्ड होता है इत्यादि। जो तो वर्ण और आश्रम दोनों के आश्रय से प्राप्त होता है वह वर्णाश्रम धर्म होता है जैसे मौञ्जी वगैरह की मेखला का धारण करना। ब्राह्मण की मेखला मौञ्जी होती है। क्षत्रिय की मेखला धनुष की प्रत्यञ्चा की, वैश्य की शण की होती है इत्यादि। जो तो गुण से यानी जन्मान्तर के संस्कार से स्वभाव से प्राप्त होता है वह गौण धर्म होता है जैसे शम दम आदि। ब्राह्मण के धर्म शम दम आदि क्षत्रिय के धर्म शौर्य तेज इत्यादि। जो तो किसी निमित्त के आधार से किया जाता है वह नैमित्तिक धर्म है जैसे चान्द्रायण कृच्छ्र चान्द्रायणादि प्रायश्चितों की विधि अनुष्ठान।

अपने अपने आश्रम में आश्रमियों के पृथग् धर्म १ विशेष धर्म २ समान धर्म ३ एवं कृत्स्न धर्म ४ संस्कार के धर्म होते हैं। उनमें पृथक् पृथक् आश्रमों के अनुसार किये जाने वाले धर्म पृथग्धर्म कहलाते हैं। जैसे चारों वर्णों के धर्म। अपने-अपने आश्रम विशेष द्वारा अनुष्ठीयमान धर्म विशेष धर्म कहलाते हैं जैसे—नैष्ठिक ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य कर्म। यहां निष्ठा का अर्थ है संसार की समाप्ति यानी विवाह नहीं करना वही है प्रयोजन जिसका वह नैष्ठिक है। यायावर के द्वारा अनुष्ठेय कर्म। यायावर जो एक ग्राम में कुटी बनाकर नहीं रहने वाले अतएव इस ग्राम से उस ग्राम में बराबर यात्रा करने वाले होते हैं ये गृहस्थ हैं। अनुयाज्ञिक वानप्रस्थ विशेष। चारों आश्रमों में सिद्धि को पाने वाले सिद्ध लोग यति विशेष इन अनुयाज्ञिक और चातुराश्रम्य सिद्धों के कर्त्तव्य कर्म। सभी वर्णों का और सभी आश्रमवालों के समान धर्म। जिनमें सर्ववर्णों का साधारण धर्म जैसे—

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥ ४६॥

बालक्रीड़ा

आनृशंस्य । अहिंसा । अप्रमाद । संविभागिता सबको हिस्सा देकर अवशिष्ट को अपने उपयोग में लेना । श्राद्ध कर्म । आतिथेय अतिथि की सेवा । सत्य । अक्रोध । अपनी ही स्त्री में सन्तोष । बाहर भीतर की शुद्धि । असूया नहीं करना । अपने को समझना । तितिक्षा शीतोष्णादि सुखदुःखादि द्वन्द्वों को सहना ।

सभी आश्रमवालों के साधारण धर्म जैसे—अहिंसा । सत्य । चोरी नहीं करना । शुद्धि । इन्द्रिय निग्रह । दम । क्षमा । आर्जव । दान ।

मोक्ष के हेतु आत्मज्ञान की उत्पत्ति में प्रतिबन्धक प्रत्यवाय के परिहार के लिए जो निष्काम कर्म का अनुष्ठान है वह कृत्स्न धर्म है ।

सभी वर्ण वाले अपने अपने आश्रम के अनुरूप धर्मों के अनुष्ठान करने पर इस लोक में अपरिमित परम सुख को प्राप्त करते हैं और मरने के बाद अपने कर्म फल का भोग करते हैं । लौटने पर पुनर्जन्म को ग्रहण करके अवशिष्ट पुण्य के अनुरूप देश जाति कुल रूप आयु वर्ण, बल, वृत्त, मेधा, प्रज्ञा, सुख, वित्त एवं मान प्रतिष्ठा को प्राप्त करते हैं । और जो तो विष्वक् हैं सर्वतोगामी हैं इच्छानुसार चेष्टा करते हैं विपरीतकारी हैं वे नरक को भोगते हैं एवं कीट पतंग की योनि में पैदा होते हैं ।४५।

अब सिद्धि की प्राप्ति के उपाय कहते हैं । जिस मायोपहित आनन्द घन सर्वज्ञ सर्व शक्तिमान् सर्वान्तिर्यामी ईश्वर जो जगत् का उपादानकारण भी है और निमित्त कारण भी है उससे सभी भूतों की भवन धर्मवाले आकाशादि पांचों की प्रवृत्ति माने उत्पत्ति होती है और जिस एक सद्रूप एवं स्फुरण रूप से यह सम्पूर्ण दृश्य जगत् तीनों कालों में व्याप्त हैं । कल्पित पदार्थ की अधिष्ठान के सिवाय अन्यत्र स्थिति नहीं होती है अतः अपने में अपने अधिष्ठान में ही अन्तर्भूत है । जैसा कि श्रुति भी कहती है जिससे जीवन लाभ करते हैं तथा जिसमें प्रयाण करते हैं और अभिनिवेश करते हैं उसको जानों । वह कौन है । उत्तर—आनन्द से ये भूत पैदा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।

बालक्रीड़ा

होते हैं और आनन्द से जीते हैं अथच आनन्द में ही प्रयाण एवं अभिनिवेश करते हैं ।

उस अन्तर्यामी भगवान् की अपने वर्ण आश्रम एवं वर्णाश्रमोभय के अनुरूप विधि प्राप्त कर्म से अर्चना करके प्रसन्न करके उसके प्रसाद से सिद्धि को मानव प्राप्त करता है। देवादि तो उस भगवान् की केवल उपासना करके मनोऽनुकूल फल को प्राप्त करते हैं।४६।

जब कि मानव का अपना ही धर्म भगवान् की प्राप्ति का हेतु है अतः वह धर्म श्रेयान् है अतिशय प्रशस्य है। जिसका सम्यक् सुखपूर्वक अनुष्ठान किया जा सकता है ऐसे दूसरे के धर्म की अपेक्षा विगुण माने जिसका सुख से अनायास से अच्छी तरह अनुष्ठान नहीं किया जा सकता है बल्कि कष्ट से किया जाता है ऐसा असुन्दर भी अपना धर्म प्रशस्यतर है इस लिए तुम क्षत्रिय हो तुम्हें अपने धर्म युद्धादि का ही अनुष्ठान करना चाहिए न कि ब्राह्मणोचित भिक्षाटनादि का अनुष्ठान करना चाहिए।

प्रश्न—ठीक है मुझ क्षत्रिय का युद्धादि अपना धर्म है किन्तु युद्ध में बन्धुओं का वध होता है इससे युद्ध पाप का हेतु है तब कैसे इसका अनुष्ठान करना चाहिए।

उत्तर—जो कर्म स्वभाव नियत है उसको करने से पाप नहीं लगता है अतः स्वभाव नियत कर्म करने वाले तुम को पाप नहीं लगेगा। "पहले सुखदुःखे समे कृत्वा" इसमें जैसे बतलाया था कि सुख के मिलने की और दुःख को दूर करने की कामना को छोड़कर युद्ध करना क्षत्रिय का अपना धर्म है। इस बुद्धि से करने पर गुरु एवं ब्राह्मणादि के मारने से और नित्य कर्म के नहीं करने से होने वाला पाप नहीं लगता है। जो तो फल की कामना से युद्ध करता है उसको वध करने का और नित्य कर्म के नहीं करने का पाप लगेगा। अतः जैसे वेद विहित ज्योतिष्टोम की अङ्ग-भूत पशु हिंसा पापजनक नहीं होती है वैसे ही क्षत्रिय के लिए स्वभाव नियत युद्ध में होनेवाली गुरु बन्धु हिंसा पापजनक नहीं है। अतः मुझे याद करो और युद्ध करो।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ।

बालक्रीड़ा

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः ।

परधर्मांश्रयाद्विप्रः सद्यः पतति जातितः । मनुस्मृतिः ।

यहां इस प्रकरण में श्रेयान् स्वधर्मः तथा परधर्मः इन १८वें अध्याय के श्लोकों में धर्म शब्द का अर्थ कर्म है। क्योंकि इस 'श्रेयान्' श्लोक के पहिले के श्लोकों में 'कर्माणि प्रविभक्तानि, ब्राह्मं क्षात्रं वैश्यं शौद्रं कर्म स्वभावजम्। स्वे स्वे कर्मणि अभिरतः' 'स्वकर्मनिरतः' 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' में तथा उसके पीछे के श्लोकों 'स्वभाव नियतं कर्म' सहजं कर्म, में वार २ कर्म का प्रतिपादन किया है कर्म शब्द का प्रयोग किया है अतः उक्त अर्थ सिद्धान्त है।

यह श्रेयान् स्वधर्म श्लोक पहले ३रे अध्याय में और यहां प्रकृत १८वें अध्याय में भी भगवान् ने कहा है यहां यद्यपि पूर्वार्ध में दोनों की पाठ में समानता है किन्तु उत्तरार्ध में भिन्नता है जैसे—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।३।३५।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्

स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ।१८।४७।

सम्पूर्ण गीता में स्वभाव शब्द का प्रयोग १० बार और नियत शब्द का प्रयोग १० बार किया है और आचार्यों ने इन शब्दों की व्याख्याओं भाष्यों एवं टीकाओं में इनके भिन्न २ अर्थ किये हैं। उनको हम अध्याय के अन्त में की जाने वाली समीक्षा में कहेंगे या दिखायेंगे ।४७।

वेदादि शास्त्र ज्ञान वृद्ध वयोवृद्ध आचारवृद्ध एवं एवं माता-पिता तथा गुरु के द्वारा बतलाये हुए धर्म का कर्म का आचरण करना चाहिए उसके करने में दोष नहीं है। तथा अपनी जाति कुल, वर्ण, आश्रम, वर्णाश्रमोभय की परम्परा से प्राप्त एवं समयोचित कर्मों को अवश्य करना चाहिए भले ही वे बाहर से देखने में समझने में दोषयुक्त हों या करने में कष्टकर हों किन्तु दूसरे के धर्म का आचरण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।।४८।।

कभी भी नहीं करना चाहिए। चाहे वह देखने में समझने में एवं करने में निर्दोष या सुख साधन मालूम पड़े।

प्रश्न—यह सदोष कर्मों के अनुष्ठान के लिए किया जाने वाला उपदेश तो कापुरुषों का उपदेश हुआ 'तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति' वाली कहावत को चरितार्थ करना हुआ। उत्तर—सुनो और समझो। जैसे अपने कर्म कर्म हैं वैसे ही पराये कर्म भी कर्म हैं। तब इसकी क्या गारण्टी है कि अपने कर्म तो सदोष ही हैं और दूसरों के कर्म निर्दोष हैं। कर्म सब बराबर हैं ये कर्म सदोष हैं तो वे कर्म भी सदोष हैं।

बराबर होने से निर्दोष कोई नही है इसीलिए भगवान् कहते हैं कि सभी आरम्भ सभी कर्म दोष से वैसे व्याप्त हैं जैसे अग्नि धुवें से। क्योंकि पुरुष कामना का पुतला है अतः वह जो कुछ भी करता है वह सब काम का चेष्टित है और काम संकल्प से होता है संकल्प अच्छे बुरे सभी प्रकार के होते हैं वे संकल्प रजो गुण के कार्य होते हैं रजो गुण दुःखस्वरूप होने से दोष युक्त हैं। यदि दोष युक्त होने से कर्मों का अनुष्ठान अनायास से नही हो सकता है तब परधर्म स्वनुष्ठित होगा यानी पराये धर्म का अनुष्ठान सुख पूर्वक किया जा सकेगा है इसमें क्या प्रमाण है कुछ प्रमाण नही है अतः पर धर्म भी पर कर्म भी स्वनुष्ठित नही है।

प्रश्न—यदि परधर्म स्वनुष्ठित नही है तब भगवान् ने (परधर्मात् स्वनुष्ठितात्) पर धर्म को स्वनुष्ठित कैसे कहा।

उत्तर सुनिये समझिये। जैसे दूसरे की थाली में भोजन पात्र में घी अधिक दिखाई पड़ता है या वह समझता है वस्तुतः वहां घी अधिक नही है तब भी मृगतृष्णा से उसे वह अधिक मालूम पड़ता है वैसे ही जिनकी भ्रान्त बुद्धि में पर धर्म स्वनुष्ठित मालूम पडता है वस्तुतः स्वनुष्ठित नही है तब भी उसको जो वैसा समझते है उन भ्रान्त व्यक्तियों को सन्मार्गस्थ करने के लिए तुष्यतु न्याय से प्ररोचनार्थ कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ।।४९।।

बालक्रीड़ा

यह सिद्धान्त भी अकाट्य है कि कोई भी व्यक्ति विना कर्म के लिए क्षण भर भी नही रह सकता हैं उसको हर हालत में कर्म करना ही पड़ेगा। जब हर हालत में कर्म करना ही पड़ेगा और सभी कर्म सदोष हैं तब दोष युक्त अपने ही कर्मों को करना चाहिए न कि पराये कर्मों को।

इसके सिवाय पराये धर्मों के करने से निन्दा भी तो होगी कि यह व्यक्ति अपनी वस्तु के रहते हुए पराये की वस्तु को ग्रहण करता है और अपनी का त्याग करता है अतः शास्त्र के विधान का उल्लंघन करता है इत्यादि।

सम्पूर्ण गीता में आरम्भ शब्द का उपन्यास ८ वार किया गया है। टीकाकारों ने उसका अर्थ भी भिन्न भिन्न किया है इसको पाठक समीक्षा में समीक्षण करें।४८।

यह सिद्धान्त है कि जीव का मुख्य लक्ष्य है (आत्मा वारे द्रष्टव्यः) आत्म दर्शन माने चित् और जड़ की ग्रन्थि का मोक्ष। इसके लिए अपेक्षित है (ज्ञानादेव तु कैवल्यम् ; ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः) ज्ञान। इस ज्ञान का उदय चित्त में तभी होता है जब चित्त शुद्ध हो जाय। वह चित्तशुद्धि निष्काम कर्मों के करने तथा योग रूप उपाय से साध्य है अतः शुध्दि के लिए (यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् अध्ययनं परमं तपः) पावन करने वाले (यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् के बल पर) यजन दान और अध्ययन कर्म सबको अवश्य करने ही है छोड़ने नही है किन्तु निष्काम भाव से करने है। क्योंकि फल की कामना किये विना ही कर्मों के करने पर अर्थात् इन कर्मों से हमें ये फल मिल जांय ऐसी कामना नही करने पर ही इन कर्मों से चित्त शुध्दि होगी अन्यथा माने कामना करने पर चित्त शुध्दि नही होगी इसलिए कहते हैं कि सर्वत्र माने सभी कर्मों में असक्तबुध्दि रहे अर्थात् कर्म में बुध्दि को संलग्न करें यानी इस कर्म से यह फल मुझे मिल जाय ऐसा लगाव नही करें। इसलिए दूसरा विशेषण देते हैं जितात्मा। असक्तबुध्दि भी मानव तभी होगा जब वह जितात्मा होगा

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।
समासेनैव कौन्तेय ! निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥
बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।

बालक्रीड़ा

यानी मन को जीत लेगा मन को वश में कर लेगा। मन भी वश में तभी होगा जब मानव विगतस्पृह होगा यानी विषयों में स्पृहा कामना नहीं करेगा। अतः कामना के विषय फलों के जनक काम्य कर्मों के संन्यास से साधक पुरुष परमा मुख्य: लक्ष्यभूता नैष्कर्म्य सिदधि को ज्ञान को प्राप्त करता है जहां कर्म नही है वह (निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्) निष्कर्म पर ब्रह्म है। उस निष्कर्म भाव की ब्रह्मभाव की सिद्धि प्राप्ति जिससे होती है (यहां व्यधिकरण बहुव्रीहि है) उस को प्राप्त करना है ॥४९॥

अब कहते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य सिद्दि को ज्ञान को प्राप्त करता है उसी प्रकार ब्रह्मत्व को भी प्राप्त करता है उस प्रकार को संक्षेप से हे कौन्तेय ! मुझसे तुम समझो जो प्रकार ज्ञान की परा अन्तिमा निष्ठा है समाप्ति स्थिति है। यहां प्रकार का वाचक यापद विधेयभूत निष्ठा के अनुरोध से स्त्रीलिङ्ग है। जैसे शैत्यं हि यत् सा प्रकृनिर्जलस्य में शैत्यं के अनुसार यत् क्लीब है और प्रकृति के अनुसार सा स्त्रीलिंग है। सर्वनाम शब्दों में कभी उद्देश्य के और कभी विधेय के अनुरोध से स्त्रीपुंभाव होता रहता है।

सम्पूर्ण गीता में सिद्धि शब्द का उपन्यास १८ बार भगवान् ने किया है। टीकाकारों ने उनके भिन्न अर्थ लिखे हैं उनको पाठक लोग अध्याय के अन्त की समीक्षा में समीक्षण करें।५०।

नियम से साधना के साथ ज्ञानार्जन करने वाले साधक को ब्रह्म की प्राप्ति होती है इस बात को बुद्धया इत्यादि तीन श्लोकों से कहते हैं। विशुद्ध माने श्रुति स्मृति अनुभूति एवं युक्तियों से अर्थ के निश्चित हो जाने से असंभावना विपरीत-भावना एवं संशय से रहित बुद्धि से सम्पन्न होकर, धृति के द्वारा बाह्य संसार की तरफ उन्मार्ग में प्रवृत्तिशील मनको एवं प्राण तथा इन्द्रियों की क्रियाओं को

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥५२॥

बालक्रीड़ा

रोककर, शब्द स्पर्श रूप रस एवं गन्ध रूपविषयों को छोडकर, इष्ट में राग प्रेम अनिष्ट में द्वेष को दूर हटाकर, स्वभावतः विविक्त माने जनसंमर्द रहित एकान्त एवं पवित्र अरण्य पर्वत गुहा एवं तीर्थ स्थानों में रहकर हित एवं मेध्य अल्प भोजन कर कर, मन वाणी एवं शारीरिक क्रियाओं का यमन कर, करे। क्यों कि विषयों के चिन्तन करने से मन निश्चल नहीं होकर चंचल एवं विकल ही हो जाता है और विषय वासना बढ़ती है अतः मन के संयत करने के लिए और वासनाओं के नाश के लिए की जाने वाली समाधि गजस्नान की तरह निष्फल ही हो जाती है अतः सदा विषयों की चिन्ता से रहित ही होना चाहिए। अधिक बोलने की प्रवृत्ति से तू तू मैं मैं यह वह ऐसा वैसा इत्यादि विरुद्ध कथन नष्ट होने के बजाय बढते ही है जैसे रोगी का अपथ्य सेवन से रोग बढता है अतः वाणी संयमन करना आवश्यक है। शारीरिक क्रियाओं में प्रवृत्ति करने से मन एवं इन्द्रियों का संचलन होता है जिससे समाधि में विघ्न होता है अतः क्रियायों का निरुद्ध करना आवश्यक है।

ध्यानयोग में नित्य सर्वदा तत्पर संलग्न होकर अर्थात् प्रत्यगभिन्न सत् चित् आनन्द स्वरूप एकरस निर्विशेष अद्वितीय परब्रह्मरूप अधिष्ठान में आरोपित नाम रूपादि विजातीय प्रत्ययों का तिरस्कार करके निरन्तर तैल की धारा की तरह अविच्छिन्न प्रत्यगभिन्न वृत्ति के द्वारा बाहर भीतर सर्वत्र एक मात्र ब्रह्माकार प्रत्यय का जो प्रवाहीकरण है वह ध्यान है और विजातीय प्रत्ययों से नही दबने वाली केवल सत्प्रत्ययों से सम्पन्न तथा विक्षेपकारी मलों के नष्ट हो जाने से शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि का जो निर्वात स्थल में रखे हुए दीपक की तरह ब्रह्म में निश्चलीभाव है। वह योग है इसका नित्य निरन्तर सदा अभ्यास करकर और दृढ वैराग्य का आश्रयण करके अर्थात् सांसारिक विषयों को झूठें एवं हेय समझकर भोगने के लिए राग इच्छा का विगत हो जाना वैराग्य है उसको निश्चय माने

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।

बालक्रीड़ा

दृढ सम्यक् निश्चलता के साथ आश्रयण करके, अहंकार माने मैं महाकुल में पैदा हुआ हूं महान् आचार्य का शिष्य हूं मेरा सम्प्रदाय सर्वश्रेष्ठ है मैं अत्यन्त विरक्त हूं मेरे समान दूसरा कोई नही है मैं अद्वितीय हूं ऐसे अभिमान का, बल दुराग्रह का, [यद्यपि बल का अर्थ शरीर सामर्थ्य है जो शरीरनियत है उसको छोडना असंम्भव है अतः यहां कामरागादि प्रयुक्त सामर्थ्य दुराग्रह असद्ग्रह बल को ही कहा है] दर्प हर्षजन्य मद का [जिसके कारण मनुष्य धर्म का अतिक्रम कर बैठता है क्यों कि जब हर्ष से मनुष्य विह्वल हो जाता है तब नियमों का उल्लंघन करने लगता है वह मद कहलाता है] काम विषयों की अभिलाषा का, क्रोध द्वेष का, परिग्रह का परोपनीत वस्तुका त्याग करके किसी में भी ममता अपनापन नही रख करके शान्त होने वाला सभी तरफ से उपरत होने वाला साधक ब्रह्मभाव को प्राप्त करने में समर्थ होता हैं।५१।५२।५३।

इस प्रकार विशुद्ध वुद्धि प्रभृति उत्तम सहकारी साधन सम्पत्ति के बदौलत अच्छी प्रकार से किये गये ध्यान एवं योग के अनुष्ठान के द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान से मैं ब्रह्म हूं ऐसा दृढ निश्चयशाली अत एव प्रसन्न साधक न किसी का शोक करता है कि यह नष्ट हो गया ऐसा फिकर करता है और न किसी वस्तु के पाने की आकांक्षा करता है। सब प्राणियों में समभाव रखता है वह मेरी उत्कृष्ट भक्तिको प्राप्त कर लेता है अर्थात् मुझमें प्रेम करता है।५४।

उस प्राप्त हुई भक्ति के द्वारा मैं जितना जैसा जो हूं वैसा मुझे तत्वतः जान लेता है अर्थात् मैं विभु सर्वव्यापक, नित्य त्रिकालाबाधित, परिपूर्ण आनन्दघन चिदेकरस सभी तरह की उपाधियों से रहित अद्वितीय ब्रह्म हूं ऐसा मुझे वह

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥
सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥५६॥
चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

बालक्रीड़ा

विवेक से समझ लेता है। इसके बाद इस तरह तत्व से मुझको जान लेने के बाद अज्ञान एवं उसके कार्यों की निवृत्ति हो जाने से सम्पूर्ण उपाधियों से विमुक्त होकर मद्रूप ही हो जाता है। ५५।

पहले कहा कि यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। तं मानवः स्वकर्मणा समभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति। सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे। ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।

जिससे सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति हुई है जिसने इस सब जगत् को व्याप्त कर लिया है उसकी अपने कर्म से पूजा करके मानव सिद्धि को चित्तशुद्धि को प्राप्त कर लेता है। चित्त शुद्धि को प्राप्त करनेवाला जैसे ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है वैसा मुझसे सुनो। ब्रह्मभूत हो जाने पर मेरी भक्ति को पा जाता है उसके बाद वह मत्स्वरूप हो जाता है। इस प्रकार चित्त शुद्धि, ज्ञान एवं मोक्ष का क्रमशः प्रतिपादन करके योगारूढ की स्थिति को बतलाया है। अब आरुरुक्षु की स्थिति को बतलाने का उपक्रम करते हैं। आरुरुक्षु साधक मद् व्यपाश्रय होकर यानी मैं वासुदेव ही एकमात्र व्यपाश्रय हूं शरण हूं माने रक्षक हूं ऐसी भावना से अपने कर्मों को ईश्वर के अर्पण करता हुआ सदा सभी नित्य नैमित्तिक काम्य कर्मों को करे। इस तरह कर्मों को करने वाला पुरुष मेरे प्रसाद से मेरे अनुग्रह से शाश्वत नित्य एवं अव्यय अपरिणामी पद को प्राप्त कर लेता है।५६।

इसलिए ईश्वर के अनुग्रह से ही शाश्वत एवं अव्यय पद मिलता है इस विवेक बुद्धि से सभी कर्मों को मुझे समर्पण करके मत्पर मेरे अधीन हो जाय यही भावना करे कि मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई रे। उसके बाद बुद्धि-योग को स्वीकृत करके अर्थात् सम्पूर्ण भूतों को अपने समान समझते हुए निरन्तर मेरे में चित्त को लगा दो।५७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥५८॥
यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥
स्वभावजेन कौन्तेय ! निवद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

बालक्रीड़ा

प्रश्न—इस तरह आप में चित्त को लगा देने से क्या होगा ।

उत्तर—मेरे में विश्वास करके मेरे कहने से यदि मेरे में चित्त को लगा दोगे तो मेरे प्रसाद से मेरी प्रसन्नता से सम्पूर्ण सभी तरह की कठिनाइयों को पार कर दोगे ।

अगर कहीं तुम अहंकार से "हैं मैं तो ऐसा वैसा सब कुछ कर सकता हूँ मैं तो शक्तिशाली गाण्डीवधारी पाशुपतास्त्र की शक्ति से सम्पन्न हूं मुझे किसी शरण रक्षक की क्या आवश्यकता है कुछ भी नही है ऐसा अभिमान करके मेरे कथन को नही सुनोगे तो नष्ट हो जाओगे ।५८।

यह सिद्धान्त तो है ही । इसके सिवाय एक तथ्य और भी है कि यदि तुम अहंकार करके यह मान लोगे कि मैं युद्ध नही करूंगा तो वह भी तुम्हारा व्यवसाय तुम्हारा मानना मिथ्या ही होगा यानी निष्फल ही होगा । क्यों कि (शौर्यं तेजो धृति दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्) क्षत्रिय का बच्चा यदि युद्ध से भाग खड़ा होगा तो वह असली क्षत्रिय नही है वर्ण संकर है ऐसी प्रकृति ऐसा क्षत्रियोचित स्वभाव ही तुम को युद्ध करने में वरवश लगा देगा । अतः तुम युद्ध करने से बच नही सकते हो क्यों कि ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुकूल ही जब चेष्टा करता है तव अज्ञानी भूतों की बात ही क्या है वे तो प्रकृति के वश में ही हैं । वहां निग्रह क्या कर सकता है जबरदस्ती नही चल सकती है ।५९।

इसका हेतु है क्यों कि हे कौन्तेय ! सभी प्राणी अपने स्वभावजन्य यानी पूर्वोपात्त संस्कारों से प्राप्त कर्मों से बँधा हुआ है । अतः जिस युद्ध को बन्धु बान्धव

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥६१॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत!
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥

बालक्रीड़ा

मारे जायेंगे इस मोह के कारण नही करना चाहते हो उसको विवश होकर करोगे तुम्हारे टाले नही टलेगा। तुमको युद्ध करना ही पड़ेगा।६०।

इस तरह आधिभौतिक जगत् की शक्ति को बतलाकर अब आधिदैविक शक्ति को बतलाते हैं। हे अर्जुन! यह ईश्वर शासन करने वाला दिव्य पुरुष अपनी शक्ति से सम्पूर्ण प्राणियों को यन्त्रों पर चढ़ाकर घुमाता है रेल, मोटर, हवाई जहाज आदि पर चढ़ा कर चक्कर करवाता है जो ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय प्रदेश में बैठा हुआ है।६१।

इस प्रकार 'प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' इसका जवाब देकर पुनः यदि ईश्वर ही सम्पूर्ण भूतों के कर्मों को करने की जैसी प्रेरणा देता है वैसा वैसा कर्म प्राणी करता है। तब विधि एवं निषेध करनेवाले शास्त्रों की क्या स्थिति होगी। भाग्य और पुरुषार्थ के विवाद सब व्यर्थ हो जायेंगे। इस शंका का समाधान करते हैं कि हे भारत! तुम इस तरह के शंका एवं समाधान के फेर में मत पड़ो। तुम सर्वतो भावेन हर प्रकार से हर हालत में उसी को शरण रक्षक गच्छ समझो उसी के शरण में घर में गच्छ जाओ। वैसा समझने पर वहां जाने पर जैसे सूर्य के उदय होने पर सूर्य की किरणों के साथ सम्पर्क होते ही कमल की पाँखुड़िया पत्तियाँ खिल उठती हैं उसी प्रकार शंका आदि अन्धकारों के नष्ट हो जाने पर तुम्हारे हृदय में ज्ञान की किरणों के सम्पर्क से हृदय कमल की कलियाँ खिल उठेगी कर्तव्य का निर्देश हो जायेगा। जिससे तुम उत्तम शान्ति एवं शाश्वत स्थान को प्राप्त करोगे।६२।

इस तरह समझाने के बाद भगवान् अर्जुन को कहते हैं कि मैंने इस प्रकार तेरे को गुह्य से भी गुह्य ज्ञान को कहा अब तुम मेरे इस कथन का पूर्णरूप से विमर्श करके जैसा चाहो वैसा करो।६३।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

सर्वं गुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥६४॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजो मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥६५॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

बालक्रीड़ा

फिर भगवान् कहते हैं कि एक ज्ञान गुह्य होता है और एक गुह्यतर होता है इसके सिवाय इनसे भी बढकर एक गुह्यतम ज्ञान भी होता है उनमें गुह्यतम ज्ञान के प्रतिपादक गुह्यतम श्रेष्ठ मेरे वचन को फिर एक वार सुनो। क्यो कि तुम मेरे दृढ इष्ट हो प्रिय हो अतः दृढ़ अकाट्य हित कारी वचन को तुमसे कहता हूं।६०।

तुम मेरे में मन को लगावो भाव कुभाव हित अनहित की भावना नही करते हुए जिस किसी तरह मेरा ही मनन चिन्तन करो। प्रेम से करो तब तो बहुत अच्छा है अतः मेरे भक्त हो जाओ। अर्थात् मेरे में प्रेम करो। प्रेम करने के लिए मेरा यजन करो समय समय पर पर्वों में स्थान स्थान पर तीर्थों में देवालयों में देवताओं का पूजन करो। ऋषि महर्षि और सन्त महात्माओं की संगति करो और पात्रों में दान करो। यदि यह नही कर सकते हो तो मुझे नमस्कार करो। मैं तुम से प्रतिज्ञा पूर्वक सत्य वचन कहता हूं धोखा घडी की या झूठ की कभी शंका नही करना तुम मेरे प्रिय मित्र हो। मित्रं स्वच्छतया मित्र के साथ स्वच्छता से निश्छलभाव से व्यवहार करना चाहिए अतः मैं तुमसे कहता हूं कि इस तरह मनन भजन यजन एवं नमस्करण करने से तुम मेरे में समा जाओगे मद्रूप हो जावोगे मुझे प्राप्त कर लोगे। ६५।

इस पर अर्जुन ने भगवान् से कहा कि हे भगवन्! आपने मुझे सब कुछ समझाया;
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धः
लोकान् समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः इत्यादि कहकर डराया भी और
अथ चेत्त्वमहंकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि कहकर डांटा डपटा भी किन्तु जो प्रार्थना मैंने युद्ध के आरम्भ करनें के पूर्व में की थी उसका उत्तर तो

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥

बालक्रीड़ा

आपने नही दिया या दिया हो तो मैं समझा नही क्यों कि मेरे दो प्रश्न थे। उनमें एक था कि (पृच्छामित्वां धर्मसम्मूढचेताः यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे) मेरा चित्त धर्म के वारे में मूढ हो गया विवेक शून्य हो गया है कि जिसके करने से बन्धु बान्धव एवं मित्र सब स्वजन मारे जायँगे। जिनके साथ रहकर राज्य के उपभोग करने में आनन्द है वे ही जब नही रहेंगे तब ऐसे युद्ध के करने से क्या फायदा है। कुछ लाभ नही है। और यदि युद्ध नही करूंगा तो शासन की वाग्डोर हाथ में नही रहेगी तब प्रजा का पालन एवं पृथ्वी का उपभोग यानी खाना पीना रहना सहना ओढना विछौना कुछ भी नही मिलेगा तब शरीर यात्रा भी चलनी मुश्किल हो जायगी और यदि शरीर यात्रा के लिए बाबा जी बनकर भिक्षा वृत्ति का आश्रयण करूंगा तो लोग निन्दा करेंगे अवाच्य शब्दों का प्रयोग करेंगे कि अर्जुन बड़ा गांडू निकला युद्ध के ऐन मौके पर भाग खड़ा हुआ। अतः कल्याण किसमें है उसका निश्चय करके मुझे बताइये कि युद्ध करना धर्म है या अधर्म है या भिक्षा मांग कर पेट पालना धर्म है या अधर्म है।

दूसरा प्रश्न है कि युद्ध करने से बन्धु मारे जायँगे तो पितृ कुल नष्ट हो जायगा, बान्धव मारे जायंगे तो मातृ कुल नष्ट हो जायगा और मित्र मारे जायँगे तो मित्र कुल नष्ट हो जायगा इस तरह कुलों के नष्ट हो जाने से कुल स्त्रियाँ निराश्रय हो जायँगी। जब निराश्रय होने पर गौरवशाली राज्य ही नष्ट हो जाते हैं तब स्त्रियां विचारी कौन हैं। अतः अपने लोगों के नही रहने पर वे स्त्रियां दूसरों का आश्रयण करेगी और जब वे दूसरों का आश्रयण करेंगी तो वे दूषित कर दी जायँगी। उनके दुष्ट हो जाने से प्रजा वर्ण संकर हो जायगी। इस परिस्थिति को जब २ मैं सोचता हूं कि हाय ! मैंने युद्ध करके वर्ण संकरता फैला दी भारत को गारत कर दिया इस तरह मुझे शोक होता है तब हे भगवन् दूसरा प्रश्न खडा हो जाता है कि नहि प्रपश्यामि ममापनुद्यात्द् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कि इन बन्धु बान्धवों के मरने का या इनके द्वारा मारे जाने का शोक मुझे त्रस्त कर रहा है क्योंकि इनके मरने के कारण स्त्रियों के दूषित हो जाने से वर्ण साङ्कर्य हो जायगा। अतः मैं उस महापुरुष को नही देख रहा हूं जो मेरी इन्द्रियों को सुखा देनेवाले इस शोक का अपनोदन करदें दूर कर दें।

इस पर भगवान् कहते हैं कि सर्व धर्मों को छोडकर यानी वस्तुस्थिति को नही समझने से उत्पन्न मोह के कारण यह धर्म है या यह धर्म है अथवा यह अधर्म है इत्यादि धर्म के विषय में उठने वाले प्रश्नों का परित्याग करके एक केवल मां मुझको शरण रक्षक व्रज जानो। पुनः अर्जुन कहता है कि हां यह ठीक है मैं आपको रक्षक समझूं। समझूं क्या आपतो रक्षक हैं ही किन्तु वर्णसांकर्य के फैलाने का जो पाप दोष मुझे लगेगा इस कारण से हो रहे शोक का अपनोदन तो नही हुआ। इस पर भगवान् कहते हैं कि इसके लिए तुम शोक मत करो क्यों कि मैं तुमको सब पापों से छुडा दूंगा। फिर अर्जुन व्यामुग्ध होकर कहता है कि हे भगवन्

मैं उस महापुरुष को नहीं देख रहा हूं जो मेरी इन्द्रियों को सुखा देने वाले इस शोक का अपनोदन कर सके इसको दूर कर सके। क्योंकि इनके मर जाने के विचार से होने वाला शोक मुझें त्रस्त कर रहा है।

इस पर भगवान् कहते हैं कि सर्व धर्मों का परित्याग करो यानी मोह के कारण वस्तु स्थिति के नहीं समझ पाने से किंकर्त्तव्य विमूढ हो जाने के कारण उठने वाले क्षत्रिय वर्ण के गृहस्थाश्रमी होने से हिंसामय भी युद्ध धर्म है या हिंसा रहित भिक्षा वृत्ति धर्म है अथवा हिंसामय अत एव वर्णसांकर्य फैलाने वाला युद्ध क्षत्रियके लिएभी अनुचित है अतएव अधर्म है यह भिक्षावृत्ति उचित है। इत्यादि धर्म विषयक प्रश्नों का परित्याग करो, क्योंकि दोनों तरफ सेनाएं खड़ी है यह युध्दस्थल है अतः इन प्रश्नोंके इन विषयोंके पूछने की जगह भी यह नही है। दूसरी बात यह है कि तुम क्षत्रिय हो अतः तुम्हारी प्रकृति तुम को जबरन् युद्ध करने में प्रवृत्त करेगी (मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति) क्योंकि (प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति। प्राणीमात्र प्रकृति के अधीन है अतः विवश होकर प्रकृति का अनुगमन सबको करना पड़ता है इसका निग्रह कोई कुछ भी नही कर सकता है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतः प्रश्न करना व्यर्थ है। इस पर फिर अर्जुन कहता है कि अच्छा अब मैं कुछ पूछ ताछ नहीं करूंगा किन्तु···बीच में ही रोककर भगवान् कहते हैं कि किन्तु किन्तु क्या करते हो सब परिस्थितियों से बचाने वाला मैं हूं। अतः मां मुझको एकम् केवल शरण रक्षक व्रज समझो जानो (व्याकरण का एक नियम है कि जो शब्द गमन अर्थवाली धातुओं से बनते हैउन शब्दों का जानना भी अर्थ होता है) पुनः अर्जुन कहता है कि हां यह ठीक है मैं आपको रक्षक समझूं ' समझूं क्या ? आप तो रक्षक हैं ही किन्तु वर्णसंकरता के फैलाने का जो पाप दोष मुझे लगेगा इसके स्मरण करने से हो रहे शोक का दूरीकरण तो नहीं हुआ। इस पर भगवान कहते हैं कि इसके लिए तुम शोक मत करो क्योंकि मैं तुमको सब पापों से छुड़ा दूंगा।

तुमको पहले अभी २ बतलाया है कि शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः। अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथिग्-वधम् विविधाश्च तथा चेष्ठा दैवञ्चैव पञ्चमम्।

मनुष्य शरीर से वाणी से और मन से जो भी उचित या अनुचित कर्म करता है उसके अधिष्ठान देश काल, कर्त्ता, भिन्न भिन्न साधन, विविध क्रिया एवं दैव ये पांच हेतु हैं। यहाँ ऐसी स्थिति में तुम अपने को कर्ता मानते हो। वह मूर्खता है दुर्बुद्धि है। क्योंकि सबका नियामक दैव मैं तुम्हारी सहायता के लिए तैयार हूँ अतः तब तुमको चिन्ता नहीं करना चाहिए। सिद्धान्त भी है कि 'उरप्रेरक रघुवंश विभूषण'

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।

यह जन्तु अज्ञ है और अपने सुख एवं दुःख के विषय में असमर्थ है। अतः ईश्वर की प्रेरणा के अनुसार स्वर्ग में या नरक में कभी भी जाता है।

यहां दो विचार उपस्थित हो रहे हैं। इनमें पहला है कि 'सर्वधर्मान् परि-त्यज्य' इस वाक्य का कतिपय आचार्य यह अर्थ करते हैं कि 'सब धर्मों को छोड़कर किन्तु यह अशुद्ध है क्योंकि जो भगवान्

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे

इसमें धर्मग्लानि एवं अधर्माभ्युत्थान की निवृत्ति तथा साधुओं के परित्राण तथा दुष्कृत करने वालों का नाश एवं धर्मसंस्थापन करने के लिए मैं प्रत्येक युग में उत्पन्न होता हूं।

ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं तथा (श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः। स्वधर्मे निधनं श्रेयः) विगुण भी अपना धर्म श्रेष्ठ है अपने धर्म के लिए मरना भी अच्छा है ऐसा उपदेश देते हैं वही फिर कहें कि धर्म को छोड़ दो यह कैसे सम्भव है असम्भव है। दूसरा है कि कुछ महात्माओं ने सर्वधर्मान् परित्यज्य का अर्थ किया कि सभी कर्मों का परित्याग करो। यह तो केवल महातमस्त्व है गप्प है। क्यों कि आप महात्माओं ने आरम्भ में गीता के उपोद्घात में लिखा है कि प्राणियों के साक्षात् अभ्युदय का हेतु प्रवृत्ति लक्षण धर्म है जिसका विधान चारों वर्णों के लिए चारों आश्रमों के लिए एवं वर्णाश्रमोभय के लिए भगवान् ने किया है और फलाभिसन्धि के विना ईश्वरार्पण बुद्धि से यदि उसका अनुष्ठान किया जाय तो वह चित्त शुद्धि कारक हो जाता है और फिर ज्ञाननिष्ठा की योग्यता की प्राप्ति कराकर ज्ञानोत्पत्ति का हेतु होने से निः श्रेयस का भी हेतु हो जाता है। इसीलिए यह धर्म ब्रह्मके स्वरूप के लाभ के लिए पर्याप्त है। भला जो धर्म इस तरह ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति कराने में समर्थ है उसका त्याग करने के लिए आपने कैसे लिख दिया। अपना ही लेख अपने लेख का बाधक हो रहा है।

न जातु कामान्न भयाद् धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः।

कामना से यानी किसी कामना विशेष की पूर्ति के लिए और भय से धर्म को नही छोड़ना चाहिए। यह तो ठीक ही हैं किन्तु प्राणों को बचाने के लिए भी धर्म को नही छोड़े क्योंकि धर्म रहित जीवित व्यर्थ है। प्राणों की बाजी लगाकर भी धर्म की रक्षा करनी चाहिए। अतः धर्म प्रत्येक अवस्था में सुरक्षणीय है। धर्मो रक्षति रक्षतः।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥

बालक्रीड़ा

युधिष्ठिर कहते हैं कि हे मित्रो ! (नाहं कामान्न संरम्भान्न द्वेषान्नार्थ कारणात् । न हेतुवादाल्लोभाद्वा धर्मं जह्यां कथञ्चनन) न मैं कामवासना में पड़कर न घवड़ाकर न न ईर्ष्या द्वेष से न किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए न तर्कों के युक्तियों के व्यासङ्ग में पड़कर धर्म को छोड़ सकता हूं। फिर कहते हैं कि—

मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां वृणे धर्ममममृताज्जीविताच्च।
राज्यं च पुत्राश्च यशो धनञ्च सर्वे न धर्मस्य तुलामुपैति।
तं सन्धिमास्थाय सतां सकाशे को नाम जह्यादिह राज्यहेतोः।

मेरी इस प्रतिज्ञा को सत्य समझो कि मैं अमरत्व एवं जीवित की अपेक्षा धर्म का वरण करता हूं। क्योंकि राज्य पुत्र यश धन अमरत्व और जीवनादि सम्पूर्ण विश्व धर्म की तुलता में बराबर नही हो सकते हैं। वह कौन होगा जिसने सन्तों के बीच में सज्जनों के समक्ष में इस तरह की सन्धि कर ली है वह राज्य के वास्ते धर्म को छोड़ देगा।

भला जिसके वारे में ऐसा सिद्धान्त है उस धर्म को छोड़ने के लिए भगवान् ने कहा है ऐसी व्याख्या करना क्या संगत है वह तो असंगत है।६६।

इस तरह गीता के तत्व को बतलाकर अब विद्या के विषय में जो सम्प्रदाय है उसके नियम को बतलाते हैं कि हे अर्जुन ! इस गीता को मैंने तुम्हारे लिये कहा है। बड़ी सावधानी से इसकी रक्षा करना तुम्हारा कर्त्तव्य है अतः जो तपस्वी नही हैं।

अर्थात् जो अपने धर्म का अनुष्ठान नही करता है और जिसकी ईश्वर में और गुरु में भक्ति नही है उसको कभी भी इसे नही बतलाना। जो स्वधर्मानुष्ठान भी करता है और भक्त भी है किन्तु जो मेरी शूश्रूषा सेवा नही करता है और जो भगवान् से मुझ से असूया ईर्ष्या करता है उसको भी नही कहना।६७।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥६८॥

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥६९॥

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ ! त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ! ॥७२॥

बालक्रीड़ा

और जो इस परम गुह्य गीताशास्त्र को मेरे भक्तों को कहेगा वह निः संशय ही मेरी उत्कृष्ट भक्ति करके मुझे प्राप्त कर लेगा इसमें कोई संशय नहीं है ।६८।

इसलिए मेरे भक्तों में गीता शास्त्र के प्रवचन करने वाले के अतिरिक्त कोई भी मनुष्य मेरा अत्यन्त प्रिय नही है । इतना ही नही है उस प्रवचन कर्त्ता से अन्य मेरा अतीव प्रिय मनुष्य इस पृथ्वी पर कालान्तर में भी नही होगा ।६९।

और जो मनुष्य हम लोगो के इस धर्म्य संवाद का अध्ययन करेगा उसने ज्ञानरूपी यज्ञ से मेरा यजन किया ऐसी मेरी मति है ऐसा मैं मानता हूं ।७०।

और जो मनुष्य श्रद्धा के साथ ईर्ष्या द्वेष से रहित होकर गीता शास्त्र को सुनेगा वह भी जीवन्मुक्त होकर पुण्यकर्म करने वालों के शुभ लोकों को प्राप्त कर लेगा ।७१।

अतः हे पार्थ ! क्या तुमने एकाग्रचित्त से इस गीता शास्त्र को सुना । और हे धनञ्जय ! क्या तुम्हारा अज्ञान जनित मोह नष्ट हुआ ।७२।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ! ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

राजन् ! संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥७६॥

बालक्रीड़ा

इस पर अर्जुन कहता है कि हाँ महाराज मेरा मोह अविवेक नष्ट हो गया और हे अच्युत ! आप की प्रसन्नता से मुझे अब याद पड़ गया कि मैं युध्द करने के लिए युध्दभूमि में आया हूं । अतः नि सन्देह आप के वचन का युध्द करने के लिए दिये हुए आदेश का पालन करूंगा । अर्थात् युध्द करूंगा ।७३।

सञ्जय कहते हैं कि इस प्रकार महातमा वासुदेव और महामना अर्जुन के इस रोमञ्चकारी और आश्चर्य जनक सम्वाद को मैंने सुना ।७४।

प्रश्न—युद्ध कुरुक्षेत्र में हो रहा है और हे सञ्जय तुम यहां इन्द्रप्रस्थ में बैठे हो अतः समीप में नही होने पर भी इतनी दूर से तुमने उन दोनों के सम्वाद को कैसे सुना– उत्तर—व्यासजी के प्रसाद से व्यासजी ने प्रसन्न होकर अपने तपोबल से मेरे को दिव्यचक्षु दी जिससे मैंने इस परम गुह्ययोग को साक्षात् कहते हुए स्वयं योगेश्वर कृष्ण से सुना ।७५।

मैं नही जानता हूं कि मैंनें कौन सा पुण्य किया, क्या तप किया, क्या दिया, कैसे हवन किया या जप किया या किस सन्त महात्मा या देवता का दर्शन किया जिसके प्रभाव से केशव और अर्जुन के इस अद्भुत सम्वाद को मैंने सुना । हे राजन् ! इस सम्वाद को याद कर २ बार २ हृष्ट होता हूं । अहो मेरा भाग्य अहो मेरे ऊपर गुरु की अहैतुकी कृपा इस प्रकार बार बार अनुभव करके तृप्त होता हूं ।७६।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् ! हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥
यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

बालक्रीड़ा

फिर सञ्जय कहते हैं कि सम्वाद को याद करके तो मुझे पुलक हो ही रहा है और भी जिस रूप को भगवान् ने अर्जुन को दिखाया था भगवान् के उस अद्भुत रूप को यादकर कर मुझे महान् विस्मय हो रहा है और पुनः पुनः पुलक हो रहा है ।७९।

इस लिए मेरा मत है कि जहां योगेश्वर कृष्ण हैं और जहां पृथा कुन्ती का यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः कहने वाली का पुत्र अर्जुन है वहाँ ध्रुव स्थिरा राज्य लक्ष्मी है वहां विजय ध्रुव है शत्रु का विनाश निश्चित है शत्रु को परास्त कर देने से उत्कर्ष अवश्य होगा वहां उत्तरोत्तर की भूति राज्य लक्ष्मी की सम्पत्ति की ऐश्वर्य की ध्रुवता अवश्यं भाविनी है और वहां ही नीति है न्याय है ऐसी मेरी मति है मान्यता है ।७८।

इति श्रीमधुसूदनशास्त्री की कृति वालक्रीड़ा हिन्दी टीकामें श्रीमद्भगवद्गीता का अठारहवां अध्याय समाप्त हुआ। हरिः ॐ तत् सत्। ब्रह्मणेऽर्पणमस्तु। हे पूज्यपाद परमराध्य पिताजी श्रीरामजीलालजीशास्त्री महाराज आप प्रसन्न होवें। आप की आरम्भ की हुई किन्तु अधूरी भगवद्गीता की टीका को आपके इस नासमझ पुत्र मधुसूदन ने समाप्त करदी है जिसको पढ़ाने के लिए वार बार प्रयत्न करते थे और जिसकी नासमझी पर नादानी पर रोने लग जाते थे उसी इस पुत्र मधुसूदन ने आप के प्रसाद से दिव्य दृष्टि प्राप्त करके गीता शास्त्र को पूर्ण कर दिया है। ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते। इति शम्)

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

समीक्षा

अथ अट्ठारह अध्यायों की समीक्षा का आरम्भ करते हैं।

अच्छेद्योऽयं मे आत्मा की तरह छाया भी सर्वगता है। इस पर किसी ने कहा कि सूर्य में छाया नहीं है। किन्तु ठीक नहीं है क्योंकि सूर्य में भी छाया है माने अप्रकाश है अन्धकार है जैसे १०० पावर के बल्ब के सामने ऊपर या बगल में कहीं भी १००० के पावर वाले बल्ब के लगानें पर और अधिक प्रकाश हो जाता है। यहां अधिक प्रकाश होने का मतलव है कि सौ पावर वाले बल्ब के समय अन्धकार था जो हजार पावर वाले बल्ब के प्रकाश से हट गया। अतः यह सिद्धान्त है कि छाया सर्वत्र है। वैसे ही सहस्र कोटि सूर्य का प्रकाश कोटि सूर्य के सामने फीका मन्द पड़ जाता है। इसीलिए भगवान् के वर्णन में कहा जाता है कि कोटि सूर्य सम प्रभु आप हैं।

छाया सर्वव्यापिनी है इसमें प्रमाण भी है या देवी सर्वभूतेषु छाया रूपेण संस्थिता। यह सप्तशती की देवी स्तुति का पाठ है।

सम्पूर्ण गीता में स्वभात्र शब्द का प्रयोग १० वार किया गया है। उसका अर्थ भी भिन्न २ किया है आचार्यों ने। जैसे

(१) कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः २।७

इस पर शांकर भाष्य नही है। ३

रामानुजभाष्य, अमृततरंगिणी, मधुसूदन, सदानन्द, श्रीधर, राघवेन्द्र, नीलकण्ठ नें शौर्य क्षात्रधर्मरूप अर्थ स्वभाव शब्द का किया है।

आनन्दगिरि परमार्थप्रथा, भाष्योत्कर्ष में चित्त अन्तःकरण लिखा है।

तत्त्वदीपिकामें विवेक लिखा है। शंकरानन्द ने आत्मस्वरूप किया है।

(२) न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ५।१४

शांकर स्वो भावः स्वभावः। स्वभाव अविद्या प्रकृतिः माया। देवी हि एषा गुणमयी मम माया दुरत्यया इति वक्ष्यमाणा। यही मधु का लेख है। सदानन्द का भी यही लेख है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

रामा. स्वभाव प्रकृति अनादि काल से चली आ रही, पूर्व जन्म के सकर्मों से पैदा हुई, देवस्वरूप प्रकृति के संसर्ग से उत्पन्न भिन्न २ अभिमान से प्ररूढ वासना।

अमृ. ईश्वर के द्वारा उत्पादन नही करने पर भी जीव का प्रकृत्यात्मक स्वभाव प्रवर्त्तक है। नील. जैसे सूर्य के उदित होने पर कमल स्वतः खिल जाते हैं कुमुद स्वतः संकुचित हो जाते हैं वैसे ही प्रकाशमान आत्मा के सम्पर्क होने पर मनुष्यादि प्राणी स्वतः प्रवृत्ति करते है। तत्व. स्वभाव पूर्व जन्म के कर्मों से उत्पन्न होने वाली प्रकृति।

शंकरी० स्वभाव जो स्वयमेव होती या होने की प्रेरणा देती है वह वासनामयी कर्मरूपिणी प्रकृति।

श्रीधर भाष्योत्कर्षकार. स्वभाव अविद्या। कहते हैं कि अनादि अविद्या जनित कामनाओं के वश में पड़ा हुआ जीव स्वतः प्रवृत्त होता है। ईश्वर प्रेरणा नही करता है। सत्य आत्मा का असत्य अनात्मा के साथ कोई भी सम्बन्ध नही है। दूसरे कहते हैं कि ईश्वर जिसको उन्नत करना चाहता है उससे साधु कर्म कराता है एष एव साधु कर्म कारयति तम्, यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष एवासाधु कर्म कारयति तम्, यमेभ्यो लोकेभ्योऽधो।

निनीषते। यह श्रुति है।

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।

यह जन्तु प्राणी अज्ञ है अपने सुख एवं दुःख के विषय में असमर्थ है। अतः ईश्वर प्रेरणा से चाहे स्वर्ग में जाय या नरक में। यह स्मृति है। उर प्रेरक रघुवंशविभूषण यह सन्त की उक्ति है। इसमें जो ठीक हो वही सबको ग्राह्य है।

प. प्रण। अनादि अविद्या के गुणों से उत्पन्न होने वाले अच्छे बुरे संस्कार स्वभाव है।

राघव. स्वभाव स्व स्वयं भाव होता है यानी दूसरे की अपेक्षा विना किये ही सत्तावान् है। तथा स्वयमेव जगत् को उत्पन्न करता है। ये कहते हैं कि स्व पद के साथ रहने वाली भू धातु से णिच् प्रत्यय और कप्रत्यय करने पर

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वभाव शब्द बनता है। इस तरह बने हुए इस स्वभाव शब्द का वाच्य भगवान् है। जो अपनी सत्ता के विषय में दूसरे की अपेक्षा नही रखने वाला है अत एव स्वतन्त्र है।

(३) स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ८।३

शां. भा. जो अक्षर ब्रह्म है ऐसा कहा है उसी परब्रह्म का प्रतिदेह में जो भाव स्वस्वरूप प्रत्यक् चैतन्य है वही स्वभाव शब्द का अर्थ है। यहां स्वो भावः यह प्रथमा समास है स्वस्य भावः यह षष्ठी समास नही है। यदि षष्ठी समास करेंगे तो लक्षणा करनी पड़ेगी। इस लिए स्व का ब्रह्म का भाव यह स्वभाव शब्द का अर्थ नही है किन्तु ब्रह्म स्वरूप यह उसका अर्थ है अतः आत्मा देह में प्रत्यगात्मरूप से प्रवृत्त ब्रह्मस्वरूप वस्तु स्वभाव है इसी स्वभाव को आदयात्म शब्द से कहते हैं।

मधु. सदा.=आत्मा देह में भोक्ता के रूप में रहने वाले ब्रह्म स्वरूप को अध्यात्म शब्द से कहते है। प्रश्न स्वभाव शब्द के रूढ प्रसिद्ध अर्थ को छोड़ कर अप्रसिद्ध योगलभ्य अर्थ को क्यों लेते है इसमें क्या प्रमाण है। प्रत्युत योग से रूढि बलवती मानी गई है। उत्तर यद्यपि श्रुतिलिङ्गादि छ प्रमाणों में श्रुति सबसे बलवती है तद्यपि अनन्यथासिद्ध लिङ्ग से श्रुति का भी बाध हो जाता है वह दुर्बल हो जाती है ऐसा निर्णय 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' इस आकाशाधिकरण में किया है। अतः जहां योग लभ्य अर्थ मुख्य होता है वहां रूढि को छोडकर योग को ही लिया जाता है। जैसे आकाश शब्द का आसमन्तात् काशते स आकाशः ब्रह्म ऐसा योगलभ्य अर्थ ही लिया गया है भूताकाश या शब्द का समवायी कारण आकाश रूप रूढ अर्थ को छोड़ दिया है। तत्त्व० स्वभाव प्रकृति है। ये ही शब्द रामा. के हैं। शंकरा. जो स्वयमेव होता है वह स्वभाव है अतः स्वभाव माने परब्रह्म है। जैसे घटादि में रहने वाला आकाश महाकाशस्वभाव है वैसे ही ब्रह्मादि स्तम्बपर्यन्तशरीरों में रहने वाला चैतन्य महाचैतन्यस्वभाव है।

श्रीधर. प. प्रपाकार—स्वका माने ब्रह्म का अंशतः जीवरूप से होना स्वभाव कहलाता है।

मा. षं. में इसकी व्याख्या छूट गई है या छोड दी गई है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

राघ. स्वभाव शब्द के अन्तर्गत 'स्वशब्द ते विदुः' इस गीतोक्ति के अनुसार प्रकृत जीवका वाचक है। और भव का अर्थ है उपकारी इस तरह स्व का जीव का भाव उपकारी देह इन्द्रिय एवं अन्तः करण है अतः स्वभाव पद का अर्थ है देह इन्द्रिय एवं अन्तः करण। अथवा स्व माने जीव और भाव माने सदा एकरूप से रहने वाला। अतः जो स्व भी हो और भाव भी हो वह स्वभाव शब्द का अर्थ जीव है क्यों कि सदा एक प्रकार से रहने वाला जीव ही होता है देहादि नही। यहां प्रश्न होता है कि जब स्व शब्द से जीव का ग्रहण हो जाता है तब भाव शब्द के उपादान की क्या आवश्यकता है बस केवल स्वः अध्यात्ममुच्यते कहना पर्याप्त होगा। उत्तर—स्व शब्द के दो अर्थ हैं एक आत्मा दूसरा आत्मीय। जब आत्मीय अर्थ लेंगे तब जीव के आत्मीय अन्तः करण मन आदि का ग्रहण स्वशब्द से हो जायगा। अतः उसके व्यावर्त्तन करने के लिए भाव शब्द को कहा। क्यों कि भाव शब्द का अर्थ है सदा एक प्रकार से रहने वाला और मन आदि सदा एक प्रकार से रहते नही है। वे अन्न के विकारी है। विकारी बदलता रहता है। पुनः प्रश्न तब भावोऽध्यात्ममुच्यते ऐसा ही कहिए। उत्तर—यदि स्वको नही कहेंगे तो ईश्वर का भी ग्रहण हो सकता है क्यों कि वह भी सदा एक रस रहता है। अतः ईश्वर के व्यावर्त्तन के लिए स्वशब्द का उपादान किया है।

आनन्द० अपना भाव

श्रोत्रेन्द्रियादि समुदाय स्वभाव शब्द का अर्थ है। आत्मा देह में श्रोत्रा-दीन्द्रिय ही अहं प्रत्यय से जाने जाते हैं ऐसी किसी की भ्रांति को निवारण करते हैं कि स्व स्वरूप प्रत्यक् चैतन्य ही स्वभाव शब्द का अर्थ है।

स्वभाव मात्ते अन्तःकरणः से लेकर देह पर्यन्त जो जीवसम्बन्धी पदार्थ है इस तरह ते ब्रह्म तद्विदुः के आधार पर अपना भाव स्वभाव होता है। अथवा स्व स्वरूप जीव ही स्वभाव है। यहाँ भाव का अर्थ है जो सर्वदा एक प्रकार से रहता है। ऐसा जीव ही है। अन्तःकरणादि देह पर्यन्त पदार्थं विकारी होने से सर्वदा एक प्रकार से नहीं रहते हैं। अतः वे स्वभाव नहीं है। ईश्वर भी सर्वदा एक प्रकार से रहता है अतः ईश्वर नहीं लिया जा सके इसलिए स्वशब्द का उपन्यास किया। यही शब्द जयतीर्थ के भी हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अतः स्वभाव के माने है अपनी दास्यादि सेवा की सिद्धि के लिए स्व का भगवान् का जीवरूप से होना। अतः जीवभाव को अध्यात्मशब्द से कहते हैं।

नील० स्व माने अनागन्तुक भाव माने स्वरूप। इस तरह स्वभाव माने शुद्ध त्वंपदार्थ है।

(४) स्वभाव प्रभवैर्गुणैः। १८।४१

स्वभाव ईश्वर की प्रकृति माया अथवा जन्मान्तर संस्कार ही स्वभाव है शां. भा. मधु. सदा. श्रीघर. भा.ष., प.प्र., स्वभाव सात्विकादि भी लिखा है। नील.।

रामा० स्वभाव ब्राह्मणादि जन्म का हेतु प्राचीन कर्म। अतः स्वभाव स्व माने मेरा जो भाव स्वात्विकादि भेद से विचित्र दर्शनेच्छा।

शंकरानन्दी, भव ही भाव है स्व स्वकीय जो भाव है वह स्वभाव है। यहाँ अपना भाव स्वभाव।

(५) ब्राह्मं कर्म स्वभावजम् १८।४२।४३।४४।

(६) क्षात्रं (७) वैश्यं (८) शौद्रं

यहाँ स्वभाव शब्दों का किसी भी टीकाकार ने कुछ भी अर्थ नहीं लिखा है। सिर्फ आनन्दगिरि ने लिखा है कि स्वभावस्तु पूर्ववत्।

(९) स्वभावनियतं कर्म १८।४७।

शंकरानन्दी, स्वभाव। तत्तज्जाति के धर्म। अतः स्वभाव भगवद्भाव, बस, और किसीने कुछ भी नहीं लिखा।

(१) स्वभावजेन १८।६०

अभृतः मत्क्रीडोत्पन्नेन। स्वभाव भगवत्क्रीडा। तत्त्वः स्वभाव पूर्वजन्मकृतकर्म-निबन्धनसत्त्वादिगुणवृत्तिरूप। शंकः जन्मान्तरीयपुण्यापुण्यजनककर्मसंस्कार जो वर्तमान जन्म में प्रवृत्ति निवृत्ति सुख दुःखादि का हेतु है वह स्वभाव है।

श्रीधरी, स्वभाव पूर्वजन्मकृतकर्मों से बने हुए संस्कार। प.प्र. स्वभाव ब्राह्मणत्वादिप्रापक पूर्वजन्मकृतकर्मसंस्कार, राघ, स्वभाव संस्कार।

सम्पूर्ण गीता में आरम्भ शब्द का उपन्यास ८ बार किया है। टीकाकारों ने उसका भिन्न-२ अर्थ किया है जैसे—

(१) अनारम्भात् ३।४—नहीं करना अर्थ इसका सबने लिखा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(२) आरभते ३।८—करता है सबने लिखा है।

(३) समारम्भाः ४।१९—कर्म अर्थ सबने लिखा है।

(४) सर्वारम्भः परित्यागी १२।१६—आरम्भ कर्म।

(५) आरम्भः १८।१२—उद्योग उपक्रम उद्यम।

(६) सर्वारम्भ परित्यागी १४।२४—क्रियाएं, कर्म, उद्यम।

(७) प्रारभते नरः १८।१४—करता है।

(८) मोहादारभ्यते कर्म १८।२५—करता है।

सम्पूर्ण गीता के १८ अध्यायों में परमात्मा शब्द ४ वार आया है जैसे—

परमात्मा समाहितः ६।७, परमात्मेति चाप्युक्तः १३।२२

परमात्मायमव्ययः १३।३१, परमात्मेत्युदाहृतः १५।१७

अध्यात्म शब्द ८ वार आया है जैसे—

अध्यात्मचेतसा ३।३०, अध्यात्मम् ७।२९, किमध्यात्मम् ।८।१

स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ८।३, अध्यात्मविद्या विद्यानाम् १०।३२

अध्यात्मसञ्ज्ञितम् ११।१, अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम् १३।११

अध्यात्मनित्याः १५।५

महात्मा शब्द ४ वार आया है जैसे—

स महात्मा सुदुर्लभः ७।१९, महात्मानः ८।१५, महात्मानः ९।१३,

माहात्म्यम् ११।२,

समाधि शब्द ३ वार आया है जैसे—

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते २।४४

समाधावचला बुद्धिः २।५३, समाधिस्थस्य केशव! २।५४

इनमें पहले में समाधीयते आत्मतत्त्वमस्मिन् जिसमें आत्मरूप तत्त्व को समाहित किया जाय वह चित्त की एकाग्रता या जिसमें वासना के अनुरूप भोगोपयोगी सांसारिक वस्तुएं समाहित इकट्ठी की जाय वह अन्तःकरण है उस अन्तः करण में व्यवसायात्मिका बुद्धि होती है।

समाधौ अचला बुद्धिः। समाधि में बुद्धि को लगाना है किन्तु भागवत के गजेन्द्रमोक्ष प्रकरण में (बुद्धया हृदि मनो निरुध्य) बुद्धि के द्वारा हृदय में

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मन का निरोध करते है यहां पहले गीता में बुद्धि कर्त्री है दूसरे भाग में बुद्धि करण पद है।

समाधीयते चित्तमस्मिन् जिसमें चित्त को एकाग्र किया जाय वह समाधि परमात्मा है उसमें बुद्धि को अन्तः करण को स्थिर किया जाता है। यह समाधौ अचला बुद्धि का अर्थ है।

कूट शब्द ३ वार आया है जैसे—

कूटस्थो विजितेन्द्रियः ६।८, कूटस्थमचलं ध्रुवम् १२।३,

कूटस्थोऽक्षर उच्यते १५।१६

कूट का एक अर्थ है यथार्थ वस्तुको छिपाकर अयथार्थ वस्तु का प्रकाशन करना यही वंचना ठगना है यहां देखने में बाहरी आडम्बर में जो बड़ी बढिया है। किन्तु आन्तरिक स्थिति दोष पूर्ण होती है। इसके और अर्थ पहले समीक्षा में दिखा दिये हैं।

सम्पूर्ण गीता में २४ वार त्याग शब्द का प्रयोग किया है। और जहां जहां इस शब्द का प्रयोग है वहां वहां उसके साथ फल शब्द लगा है। जैसे—

(१) सङ्गं फलाभिसन्धिं त्यक्त्वा २। ८ (२) बुद्धियुक्तो जहातीह + उभे (यहां सन्ध्यभाव आर्ष है) सुकृतदुष्कृते (कर्मफले) २।५० (३) फलं त्यक्त्वा २।५१ (४) मुक्तसङ्गः (त्यक्तफलाभिलाषः) ३।९ (५) त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम् ४।२० (६) त्यक्तसर्वपरिग्रहः ४।२१। (७) गतसङ्गस्य (त्यक्तफलेच्छस्य) ४।१३ (८) संगं (फलेच्छां) त्यक्त्वा ५।१०। (९) सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ५।११ (१०) युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा ५।१२ (११) न कर्मफलसंयोगम् ५।१४ (१२) संकल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा ५।२४ (१३) मद्भक्तः सङ्गवर्जितः (त्यक्तफलाभिसन्धिः) ११।५५ (१४) सर्वकर्मफलत्यागम् १२।११ (१५) कर्मफलत्यागः १२।१२ (१६) सर्वारम्भपरित्यागी १२।१६ (सर्वकर्मजन्यैहिकामुष्मिकफलत्यागी) (१७) शुभाशुभपरित्यागी १२।१७ (शुभाशुभकर्मफलत्यागी) (१८) सङ्गविवर्जितः १२।१८ (१९) सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च १८।६ (२० संगं त्यक्त्वा फलं चैव १८।९ (२१) यस्तु कर्मफलत्यागी १८।११ (२२) त्रिविधं कर्मणः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

फलम्। मन्त्यत्यागिनाम् १८।१२ (२३) शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे ९।२८ (२४) मुक्तसङ्गोऽनहंवादी १८।२६ सङ्गः फलाभिसंधिलक्षणः कामः।

इसी तरह संन्यास शब्द भी स्पष्ट एवं अस्पष्ट रूप से कर्म शब्द के साथ जुटा हुआ है। वह सम्पूर्ण गीता में २१ वार आया जैसे—

(१) न च संन्यसनादेव ३।४ (२) संन्यस्याध्यात्मचेतसा ३।३० (३) योगसंन्यस्तकर्माणम् ४।४१ (४) संन्यासं कर्मणां कृष्ण ५।१ (५) संन्यासः कर्मयोगश्च ५।२ (६) कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ५।२ (७) ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी ५।३ (८) संन्यासस्तु महाबाहो ५।६ (९) सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते। (१०) स संन्यासी च योगी च ६।१ (११) यं संन्यासमिति प्राहुः ६।२ (१२) न ह्यसंन्यस्तसंकल्पः ६।२। (१३) सर्वसंकल्पसंन्यासी ६।४ (१४) संन्यासयोगयुक्तात्मा ९।२८ (१५) ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः १२।६ (१६) संन्यासस्य महाबाहो १८।१ (१७) संन्यासं कवयो विदुः १८।२ (१८) नियतस्य तु संन्यासः १८।७ (१९) न तु संन्यासिनां क्वचित् १८।१२ (२०) संन्यासेनाधिगच्छति १८।४९ (२१) चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः १८।५७

सम्पूर्ण गीता में बुद्धि शब्द ५० वार आया है। जैसे—

१. एषातेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु २. बुद्धया युक्तो यया पार्थ २।६६ ३. व्यवसायात्मिका बुद्धिः २।४१ ४. बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयः २।४१ ५. व्यवसायित्मिका बुद्धिः २।४४ ६ बुद्धियुक्तो जहातीह २।५० ७. बुद्धियोगाद् धनञ्जय! २।४९ ८. बुद्धौ शरणमन्विच्छ २।४९ ९. कर्मजं बुद्धियुक्ता हि २।५१ १०. यदा ते मोहकलिलं बुद्धिः २।५२ ११।१२. स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् २।६३ १३. प्रसन्नचेतसो बुद्धिः २।६५ १४. नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य २।६६ १५. मता बुद्धिर्जनार्दन! ३।१ १६. बुद्धि मोहयसीव मे ३।२ १७. न बुद्धिभेदं जनयेत् ३।२६ १८।१९. मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ३।४२ २०. कायेन मनसा बुद्धया ५।११ २१. तद्बुद्धयस्तदात्मानः ५।१९ २२. स्थिरबुद्धिसंमूढः ५।२० २३. इन्द्रियाणि मनोबुद्धिः ५।४८ २४. एव बुद्धेः परं बुध्वा २५. स बुद्धिमान् मनुष्येषु ४।१८ २६. साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ६।९ २७. सुखमात्यन्तिकं यत्स्याद् बुद्धिग्राह्य-

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मतीन्द्रियम् ६।२१ २८. बुद्ध्या धृतिगृहीतया ६।२५ २९. तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ६।४३ ३०. खं मनो बुद्धिरेव च ७।४ ३१।३२. बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि ७।१० ३३. मन्यन्ते मामबुद्धयः ७।२४ ३४. मय्यर्पितमनोबुद्धिः ८।७ ३५. बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः १०।४ ३६. ददामि बुद्धियोगं तम् १०।१० ३७. सर्वत्र समबुद्धयः १२।४ ३८. मयि बुद्धिं निवेशय १२।१८ ३९. मय्यर्पित मनोबुद्धिः १२।१४, ४०. बुद्धिरव्यक्तमेव च १३।५, ४१. बुद्धिमान् १५।२०, ४२. बुद्धेर्भेदम् १८।२९, ४३. बुद्धि र्यस्य न लिप्यते १८।१७, ४४. बुद्धिः सा पार्थ ! सात्त्विकी १८।३०, ४५. बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी १८।३१, ४६. तामसी १८।३२, ४७. बुद्धया विशुद्धया युक्तः १८।४१, ४८. बुद्धियोगमुपाश्रित्य १८।५७, ४९. आत्मबुद्धि प्रसादजम् १८।३७. ५०. असक्तबुद्धिः १८।४९।

संग शब्द गीता में २१ बार प्रयुक्त हुआ है—

(१) मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि २।४७ (२) सङ्गं त्यक्त्वा २।४८ (३) संगस्तेषूपजायते २।६२ (४) संगात् संजायते कामः २।६२ (५) मुक्तसंगः ३।९ (६) कर्म संगिनाम् ३।२६ (७) त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम् ४।२० (८) गतसङ्गस्य ४।२३ (९) संगं करोति यः ५।१० (१०) संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ५।११ (१) मद्भक्तः संगवर्जितः ११।५५ (१२) समः सङ्गविवर्जितः १२।१८ (१३) गुण-संगः १३।२१ (१४-१५) सुखसंगः ज्ञानसंगः १४।६ (१६) कर्मसंगः १४।७ (१७) कर्म संगिषु १४।१५ (१८) असंगशस्त्रेण १५।३ (१९) जितसंग-दोषाः (२०) संगं त्यक्त्वा फलानि च १८।६ (२१) संगं त्यक्त्वा फलं चैव १८।९ (२२) मुक्तसंगोऽनहंवादी १८।२६।

(१) सर्व कर्मों का न्यास (कर्ममात्र का न्यास) (२) यत्किञ्चित् कर्म का न्यास, (३) काम्य कर्मों का न्यास, (४) निषिद्ध कर्मों का न्यास

कर्मों के अनुष्ठान के साधन अग्नि का आत्मा में समारोप करने से अग्नि के अभाव में कर्मों का भी अभाव हो गया। वह चार प्रकार का है।

(१) सव कर्मों के फलों का त्याग (कर्मफल मात्र का त्याग) (२) यत् किञ्चित् कर्मफलत्याग, (३) काम्यकर्म फलत्याग, (४) निषिद्ध कर्म फलत्याग

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

देह को धारण करने वाला व्यक्ति अशेष कर्मों का त्याग नही कर सकता है। क्यों कि कोई भी क्षण भर भी विना कर्म के नही ठहर सकता है। इसका कारण है कि कर्मों के किये विना शरीर का भी चलना कठिन है यानी शरीर यात्रा की भी सिद्धि नही हो सकती है।

अतः कर्म करने आवश्यक हैं हां उनके फल का त्याग किया जा सकता है। यदि आस्तिक है तो ईश्वर को अर्पण करदे या फिर उनकी इच्छा ही नही करे। क्यों कि सकल पदारथ हैं जगमाही कर्मयुक्त नर पावत ताही।

अध्यात्मचेतसा ३।३०

यहां चेतसा माने ज्ञानेन है। अर्थात् सन्तुष्ट ईश्वर के अनुग्रह से ही मुक्ति होती है अन्यथा नही इस ज्ञान को चेत यहां कहा है।

अभ्यासयोग युक्तेन चेतसा ८।८

यहां चेत माने चित है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः १८।५६

यहां चेत का अर्थ है जीवों में कर्त्तृत्व मेरे तन्त्रों में हैं ईश्वर के अधीन है ऐसा विचार यानी विवेक बुद्धि। मत्तन्त्रकर्त्तृत्वविचारः।

(१) श्रुतितः शास्त्रतः, (२) स्मृतितः आचार्यतः (३) युक्तितः बुद्धितः (४) अनुभूतितः सिद्धान्ततः

श्रुति स्मृति युक्ति एवं अनुभूति इन चारों का समन्वय सम्प्रदाय है परम्परा है। इसी के अन्तर्गत स्वानुभूति ही प्रमाण है स्वानुभूत्येकमानाय भी आ जाता है।

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्धय च ८।७

तस्मात् सर्वेषु कालेषु योग युक्तो भवार्जुन ! ८।२७

प्रतिक्षण हरसमय मुझे स्मरण करो याद रखो और युद्ध करो यह कर्मभूमि है कर्म क्षेत्र है अतः कर्म करना अत्यावश्य है किन्तु मुझे मत भूलो मुझे याद रखो।

पहले कभी यह बात थी भारतं कर्मणो भूमिरन्यास्तु भोगभूमयः भारत कर्म की भूमि है वाकी सब भोग भूमियां है। इसी लिए कि भारत कर्मभूमि है अर्जुन को भगवान् कहते हैं कि योग में युक्त रहो कर्म में लगे रहो। अब समय वदल गया है दुःसंगति यवनों की म्लेच्छों की संगति का प्रभाव पड गया है अतः सन्ध्यावन्दन अग्नि होत्र वेदाध्ययन जप पूजन वगैरह सब जगहों से लुप्त

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हो गये हैं। कुछ भी संस्कार नही रह गये है। गोत्र प्रवर अनुशासन प्रभृति की अब कोई आवश्यकता नही है अतः किसी को भी वह मालूम नही है। अब भारत कर्म भूमि नही है अब भारत भी भोग भूमि हो गया है। जब भारत कर्म भूमि था तब देवता भी यहां रहने के लिए तरसते रहते थे। अब सब राक्षस दानवों की यह भूमि है अतः मानव भी उसी रूप में कर्म धर्म रहित हो गये हैं।

प्रसक्ताः कामभोगेषु १६।१७

कामना प्रधान भोगों में प्रसक्ता हो गये हैं। सिद्धान्त है या था कि असक्त रहना। अत एव गीता में सिद्धान्त है जो असक्त है वेलगाव है वही सबका प्राणिमात्र का भरण षोषण करने वाला है।

गीता में असक्त शब्द ८ वार आया है और सक्त शब्द ३ वार

१. असक्तः स विशिष्यते ३।७, २ तस्माऽदसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार ३।१९ ३. असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुषम् ३।१९, ४. सक्ताः कर्मण्य अविद्वासः ३।२०, ५ तथाऽसक्तः विद्वान् ३।२०, ६. फले सक्तो निबद्धयते ५।१२, ७. मय्यासक्तमनाः ७।१, ८. असक्तिरनभिष्वङ्गः १३।९, ९. असक्तः सर्वभृच्चैव १३।१४ १०. प्रसक्ताः कामभोगेषु १६।१७, ११. असक्तबुद्धिः सर्वत्र १८।१९

गीता में उपासना शब्द ८ बार आया है

१. नित्ययुक्ता उपासते ९।१४, २. यजन्तो मामुपासते ९।१५, ३. ये जनाः पर्युपासते ९।२२, ४. भक्तास्त्वां पर्युपासते १२।१, ५. नित्ययुक्ता उपासते १२।२, ६. अव्यक्तं पर्युपासते १२।३, ७. मां ध्यायन्त उपासते १२।६, ८. यथोक्तं पर्युपासते १२।२०

शास्त्र के अनुसार श्रवण एवं मनन के बाद उपास्य अर्थं को मन में ग्रहण करके ऐसी भावना करे कि मैं उपास्य के समीप जा रहा हूं तब विजातीय प्रत्यय (विरुद्धज्ञान) से अनन्तरित (अतिरकृत) और तैल धारा की तरह अविछिन्न (अटूट) समान प्रत्यय के सजातीय एकाकार ज्ञान के प्रवाह के साथ जो आसना है बैठना है वह उपासना है यही निदिध्यासना है।

अचिन्त्योऽयम् २।२४

इधर कहते हैं कि यह अचिन्त्य हैं इनका चिन्तन नही किया जा सकता है। उधर कहते हैं।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ९।२२

अनन्यभाव से चिन्तन करते हुए जो मेरी उपासना करते हैं। और—

कथं विद्यामहं योगिन् ! त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् ! मया १०।१७

हे योगिन् ! आपको सदा चिन्तन करता हुआ कैसे जानूं कि किन किन भावों में किन किन परिस्थितियों में आप चिन्तनीय हैं।

इस तरह अचिन्तनीय हैं और चिन्तनीय भी है।

तस्याराधनमीहते ७।२२

यह राधन शब्द एक ही वार आया हैं। भक्तियोगेन सेवते १४।२६

सेवते पराक् चित्ततां विना सर्वदानुसन्दधाति। पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः। ब्रह्माजी ने इन्द्रियों को ब्रह्म से पराङ्मुख बनाया है अतः [तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्] अन्तर्यामी पराङ्मुख नही देखता है इसके अनुसार पराङ्मुखत्व को छोड़कर सर्वदा जिसका अनुसन्धान करता है यह सेवते का अर्थ है ऐसा आनन्द गिरि का मत है।

ध्यान करता है नी. क. विचिन्तन करता है म. सू.

विषयों की चिन्ता को छोड़कर सदा भगवान् का अनुसन्धान करता है भा. र्प, यही शंकरानन्द जी भी कहते हैं। सेवते पद एक ही वार गीता में आया है। प्रपद्यते तीन वार आया है।

प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ७।२० ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ७।१९ प्रपद्यन्ते नराधमाः।

यहां भजते अर्थ है। शाधि मां त्वां प्रपन्नः २।७

यहां प्रपन्न का अर्थ है शरणागत हूं ऐसा सभी का लेख है।

गीता में काम शब्द का प्रयोग २८ वार हुआ है।

(१) हत्वार्थकामान् २।४ (२) कामात्मानः स्वर्गपराः २।४३ (३) प्रजहाति यदा कामान् २।५५ (४) संगात् संजायते कामः २।६२ (५) कामात् क्रोधोऽभि जायते २।६२ (६) तद्वत् कामाः २।७० (७) कामकामी २।७० (८) विहाय कामान् २।७१ (९) काम एष क्रोध एषः ३।३७ (१०) कामरूपेण कौन्तेय ! ३।३९ (११) कामसंकल्पवर्जिताः ४।१९ (१२) कामक्रोधोद्भवं वेगं ५।२३ (१३) काम क्रोध वियुक्तानां ५।२६ (१४) निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः ६।१८ (१५) संकल्पप्रभवान्

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कामान् ६।२४ (१६) कामराग विवर्जितम् ७।११ (१७) कामोऽस्मि भरतर्षभ ७।११ (१८) कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः ७।२० (१९) गतागतं कामकामा लभन्ते ९।२१ (२०) वक्ष्यामि हितकाम्यया १०।१ (२१) किमन्यत् कामहैतुकं १६।८ (२२) काममाश्रित्य दुष्पूरम् १६।१० (२३) कामोपभोगपरमाः १६।११ कामक्रोध परायणाः (२४) ईहन्ते कामभोगार्थं १६।१३ प्रसक्ताः कामभोगेषु १६।१६ (२५) कामं क्रोधश्च संश्रिताः १६।१६ (२६) कामः क्रोधस्तथा लोभः १६।२१ (२७) कामराग बलान्विताः १७।५ (२८) कामं क्रोधं परिग्रहम् १८'५३

क्रोध शब्द का प्रयोग १४ बार हुआ है।

१. वीतराग भय क्रोधा २।५६ २. कामात् क्रोधोऽभि जायते २।६२ ३. क्रोधाद्भवति सम्मोहः २।६३ ४. काम एष क्रोध एष ३।३७ ५. वीतरागभयक्रोधाः ४।१० ६. कामक्रोधोद्भवं वेगं ५।२३ ७. काम क्रोधवियुक्तानां ५।२६ ८. विगतेच्छाभय क्रोध ९. अहिंसा सत्यमक्रोधः १६।२ १० क्रोधः पारुष्यमेव च १६।४ ११. काम क्रोधपरायणाः १६।१२ १२. कामं क्रोधं च संश्रिताः १६।१८ १३. कामः क्रोधस्तथा लोभः १६।१२ १४. कामं क्रोधं परिग्रहम् १८।४३।

दम्भ शब्द का ६ वार प्रयोग हुआ है।

१. दम्भो दर्पोऽभिमानश्च १६।४ २. दम्भ मानमदान्विताः १६।१० ३. दम्भेना विधिपूर्वकम् १६।१७ ४. दम्भाहंकारसंयुक्ताः १७।५ ५. अभिसन्धाय तु फलम् दम्भार्थ मपि चैव यत् १७।१२ ६. तपोदम्भेन चैव यत् १७।१८।

अहंकार शब्द का १२ वार प्रयोग हुआ है।

१. निर्ममो निरहंकारः २।७१ २. अहंकार विमूढात्मा ३।२१ ३. अहंकार इतीयं मे ७।४ ३. निर्ममो निरहंकार १२।१३ ५. महाभूतान्यहंकारः १३।५ ६. वैराग्यमनहंकार एव च १३।८ ७. अहंकारं वलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः १६।१८ ८. दम्भाहंकारसंयुक्ताः १७।५ ९. यस्य नाहंकृतो भावः १८।१७ १०. मुक्तसंगोऽनहंवादी १८।२६ ११. अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् १८।५३ १२. यदहंकार माश्रित्य १७।५९।

सिद्धि शब्द का २२ वार प्रयोग किया गया है।

१. सिद्धय सिद्धयोः समः २।४८ २. सिद्धिं समधिगच्छति ३।४ ३. कर्मणैव हि

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संसिद्धिम् ३।२० ४. कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिम् ४।१२ ५. सिद्धिर्भवति कर्मजा ४।१२ ६. समः सिद्धावसिद्धौ च ४।२२ ७. तत्स्वयं योगसंसिद्धः ४।३८ ८. अप्राप्ययोगसंसिद्धिम् ६।३८ ९. संसिद्धौ कुरुनन्दनः ६।४३ १०. संसिद्धिं परमां गताः ८।१४ ११. कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि १२।१० १२. परां सिद्धिमितो गताः १४।१ १३. न स सिद्धिमवाप्नोति १६।२३ १४. सिद्धयसिद्धयोर्निर्विकारः १८।२६ १५. ससिद्धिं लभते नरः १८।४५ १६. स्वकर्मनिरतः सिद्धिम् १८।४५ १७. सिद्धिं विन्दति १८।४६ १८. नैष्कर्म्यसिद्धिम् १८।४९ १९. सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म १८।५० २०.२१. सिद्धये ७।३-१८।१३

अक्षर शब्द का उपन्यास १३ वार किया गया है— अक्षर समुद्भवम् ३।१५

(१) अक्षरं ब्रह्म परमम् ८।३ (२) यदक्षरं वेदविदः ८।११

(३) ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ८।१३ (४) अव्यक्तोऽक्षर ८।२१ अक्षरं १०।२५

(५) त्वक्षरं परमम् ११।१८ (६) त्वमक्षरं मदसत् ११।३७

(७) ये चाप्यक्षरमव्यक्तम् १२।१ (८) येत्वक्षर मनिर्देश्यम् १२।३

(९) कूटस्थोऽक्षर उच्यते १५।१६ (१०) अक्षरादपि चोत्तमः १५।१८

अक्षराणां १०।३३

नित्य शब्द का प्रयोग २६ वार हुआ है

(१) इमे देहा नित्यस्योक्ताः २।१८ (२) अजो नित्यः शाश्वतोऽयम् २।४०

(३) वेदा विनाशितं नित्यम् २।२१ (४) नित्यः सर्वगतः स्थाणुः २।२४

(५) नित्य जातं, नित्यं वामृतम् २।२६ (६) देही नित्य मवध्योऽयम् २।३०

(७) नित्यसत्त्वस्थ २।४५ (८) नित्यं यज्ञे ३।१५

(९) ये मे मतमिदं नित्यम् ३।३१ (१०) नित्यवैरिणा ३।३९

(११) नित्यतृप्तः ४।२० (१२) नित्यसंन्यासी ५।३ (१३) नित्ययुक्तः ७।१७

(१४) नित्ययुक्तस्य योगिनः ८।१४ (१५) यथाकाशस्थितो नित्यम् ९।१

(१६) नित्ययुक्ता उपासते ९।१४ (१७) नित्याभियुक्तानाम् ९।२२

(१८) अनित्यसुखम् ९।३३ (१९) कथयन्तश्च मां नित्यम् १०।१

(२०) नित्यं दर्शनकांक्षिणः ११।५२ (२१) नित्ययुक्ता उपासते १२।२

(२२) नित्यञ्च समचित्तत्वम् १३।९ (२३) अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम् १३।११

(२४) अध्यात्मनित्या १५।५ (२५) ध्यानयोगपरो नित्यम् १८।५२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यहां नित्यः सर्वगतः में नित्य शब्द का अर्थ त्रिकालाबाधितस्वरूप नित्यत्व है। अध्यात्म ज्ञान नित्यत्वं में नित्यशब्द का निरत अर्थ है। बाकी सब जगहों में नित्य शब्द का सर्वदा प्रतिक्षण अर्थ है।

श्रेयः शब्द का १३ प्रयोग है।

(१) न च श्रेयोऽनुपश्यामि १।७१ (२)श्रेयो भोक्तुम् २।५ (३) यच्छ्रेय.स्यात् २।७ (४)धर्म्याद्धि युद्धाच् श्रेयोऽन्यात् २।३१ (५)येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ३।२ (६) श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः ३।३५ (७)स्वधर्मे निधनं श्रेयः ३।३५ (८)श्रेयान् द्रव्यमयाद् ४।३३ (९)यच्छ्रेय एतयोः ५।१ (१०)निः श्रेयस करो ५।२ (११)श्रेयो हि ज्ञानम् १२।१२ (१२)आचरत्यात्मनः श्रेयः १६।२२ (१३)श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः १८।४७

इसके बारे में द्वितीय षट्क की समीक्षा में देखें।

नियत शब्द का १० वार पाठ है।

(१) नरके नियतं वासः १।४४ (२) नियतं कुरु कर्म त्वम् ३।३८ (३) योगी नियत मानसः ६।१५ (४)यदा विनियतं चित्तम् ६।१८ (५)प्रकृत्या नियताः स्वया ७।२० (६) नियतात्मभिः ८।२ (७) नियतस्य तु संन्यासः १८।७ (८) नियतं क्रियतेऽर्जुन १८।९ (९)नियतं सङ्गरहितम् १८।२३ (१०)स्वभाव नियतम् १८।४७

इसके बारे में द्वितीय षट्क की समीक्षा में देखें।

मोह शब्द ४ वार प्रयुक्त हुआ।

(१)पृच्छामित्वां धर्मसम्मूढ चेताः २।७ (२) धीरस्तत्र न मुह्यति २।१३ (३)यदा ते मोहकलिलम् २।५२ मोहयसि ३।२ (४) अहंकारविमूढात्मा ३।२७ (५) प्रकृतेर्गुण-सम्मूढाः ३।२९ (६) मोहमेवं यास्यमि ४।३५ (७) मोहोऽयं विगतो मम ११।१ (८) कच्चिदज्ञान संमोहः १८।७२ (९)नष्टो मोहःस्मृतिर्लब्धा १८।७३ १० मोहजाल १६।१६ ११. मोहः १६।१० १२-१३-१४ मोहनम् १४।८-१८।३९-१८।७३

समशब्द का प्रयोग १४ वार किया है।

(१)समः सिद्धौ च ४।२२ (२)पण्डिताः समदर्शिनः ५।१८ (३)येषां साम्ये स्थितं मनः ५।१९ (४) निर्दोषं हि समं ब्रह्म ५।१९ (५) समबुद्धि विशिष्यते ६।९ (६)सर्वत्र समदर्शनः ६।२९ (७)योगः साम्येन मधुसूदन ६।३३ (८)सर्वत्र समं पश्यति ६।३२ (९) समोऽहं सर्वभूतेषु ९।२९ (१०) सर्वत्र समबुद्धयः १२।४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

(११)नित्यं च समचित्तत्वम् १३।१ (१२)समं सर्वेषु भूतेषु १३।२७ (१३)समं पश्यन् हि १३।२८ (१४)समः सर्वेषु भूतेषु १८।५४

इस तरह प्रयुक्त समशब्दों का अर्थ ब्रह्म है। इस अर्थ के पोषक ये वाक्य हैं। यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ८।२२ सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ६।२९ यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। ६।३० सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ६।३४ ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् १३।१७ सर्वत्राऽवस्थितो देहे १३।२२ यः स सर्वेषु भूतेषु ८।१६० सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः १५।१५ यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः १५।१७

न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः। न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ५ १४

भगवान् न तो किसी के कर्त्तृत्व को न कर्मों को और न कर्मों के फलों के संयोग को करता है किन्तु प्रकृति प्रवर्तन करती है।

कार्य कारण कर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते १३। कार्य के कर्त्तृत्व में और कारण के कर्तृत्व में प्रकृति को हेतु कहा है।

•प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति १८।५९

अगर तुम युद्ध नही करोगे तो प्रकृति तुम्हारा नियोग करेगी।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः। सबको विवश होकर प्रकृति के गुणों के अधीन कर्म करना पड़ता है।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ३।३३

ज्ञानवान् भी ज्ञानी भी प्रकृति के सदृश ही कर्म करता है। प्राणी को प्रकृति का अनुगमन करना पड़ता है प्राणी अपने स्वभाव के अनुसार कार्य करता है 'स्वभावस्तु प्रवर्त्तते' स्वभाव ही प्रवृत्त करता है। 'स्वभावो दुरतिक्रमः। मम माया दुरत्यया' अपने स्वभाव का अपनी प्रकृति का अतिक्रमण करना मुश्किल हैं। मेरा माया दुरत्यय है 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' ३।२७

हर हालत में प्रकृति के गुण ही कर्मों को करते हैं

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः १३।२८

प्रकृति ही कर्मों को करती है यह बात सर्वशः माने सब प्रकार से मानी हुई हैं। नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टाऽनु पश्यति १४।१६

गुणों के सिवाय दूसरा कोई करता नहीं हैं। 'सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः' १८।१४

ऐसा कोई भी प्राणी तीनों लोकों में नहीं हैं जो इन तीन गुणों से मुक्त हो। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ४९

मैं अपनी प्रकृति का अधिष्ठान करके माने सहारा लेकर अपनी माया से पैदा होता हूं। 'सर्वभूतानि कौन्तेय ! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्' ९।७ हे कौन्तेय ! सभी प्राणी मेरी प्रकृति को प्राप्त करते हैं।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः। भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ९।८ प्रकृति के वश से सामर्थ्य से अवश हुए असमर्थ हुए इन सम्पूर्ण प्राणियों को मैं प्रकृति के सहारे पर प्रकृति के बल पर पुनः पुनः पैदा करता हूं।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्त्तते ९।१० मेरी देख रेख में प्रकृति चराचर जगत् को पैदा करती हैं। यही हेतु है कि जगत् का इतना परिवर्त्तन होता रहता है।

कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः १८।४० स्वभावोत्पन्न गुणों के द्वारा प्राणियों के कर्म भिन्न भिन्न हैं।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् १३।२१ गुण एवं गुणों के विकार माने कार्यों को प्रकृति से उत्पन्न हुए समझो। 'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्' पुरुष प्रकृति में अधिष्ठित होकर प्रकृति जन्य गुणों को भोगता है।

'स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्मणा' हे कौन्तेय ! स्वभावोत्पन्न अपने कर्म से प्राणी निबद्ध हैं नितरां अत्यन्त बंधा हुआ हैं।

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्रों के कर्म स्वभावज हैं प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं इस तरह इधर प्रकृति से चराचर जगत् और उनके कर्म भी पैदा हुए हैं ऐसा कहते हैं और उधर कहते हैं कि—अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणञ्च पृथग्विधम्। विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवञ्चैवात्र पञ्चमम् १८।२४

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

शरीरवाङ् मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः। न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः।१८।१५

शरीर से वाणी से एवं मन से मनुष्य जो भी या जैसे भी न्याय्य उचित या विपरीत अनुचित कर्मों का आरम्भ करता है उन सभी कर्मों के आरम्भ करने में अधिष्ठान १ कर्त्ता २ पृथक् पृथक् प्रकार के भिन्न २ स्वरूप वाले करण ३ विविध नाना प्रकार की पृथक् पृथक् चेष्टाएं ४ और ५ पांचवां दैव ये हेतु हैं। जब स्पष्टं स्पष्टं लिखा है कि (नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारम्) गुणों के सिवाय अन्य कोई कर्त्ता नही है गुण ही कर्त्ता है तब मनुष्य जो भी जैसे भी कर्मों को करता है यह कथन कैसा। मनुष्य कर्त्ता कैसे हुआ। यह एक बात है।

अधिष्ठान शब्द का अर्थ करते हुए भाष्यकार एवं तदनुयायी मधुसूदन सरस्वती आदि ने कहा है कि अधिष्ठान माने इच्छा द्वेष सुख दुःख एवं ज्ञान चेतना की अभिव्यक्तिका आश्रय शरीर है परन्तु तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः इस २ अ. ३ पाद २८ सूत्रमें इच्छा द्वेष सुख-दुःख ये सब बुद्धिके गुण है अतः उनकी अभिव्यक्ति नैयायिक के मत से (बुद्धयादिषट्कं संख्यादि पचकं भावना। तथा धर्माधर्मौ गुणा ह्येते आत्मनःस्युश्चतुर्दश) जीवात्मा में होती है।

बुद्धि सुख-दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न ये ६, संख्या परिमाण पृथक्त्व संयोग विभाग ये पांच तथा भावना, धर्म और अधर्म ये १४ गुण आत्मा में रहते हैं।

इस विषय में अधिक जिज्ञासा करने वालों को हमारा हिन्दूविश्वविद्यालय महाकाव्य देखना चाहिए और उसकी स्वोपज्ञ व्याख्या मधुसूदनी भी देखना आवश्यक है। नैयायिक कहता हैं कि सुखादि की अभिव्यक्ति का साधन तो मन इन्द्रिय है। और आश्रय अधिष्ठान आत्मा है। नैयायिक मन को इन्द्रिय मानता है। वेदान्ती मनको इन्द्रिय नही मानता है। सांख्य वाला मनको उभयात्मक मानता है। इस तरह भिन्न भिन्न कथाएं है। यह दूसरी बात है।

तथा कर्त्ता में तथा शब्द की व्याख्या में मधुसूदन सरस्वती वगैरह आचार्य कहते हैं कि जैसे स्वप्न में न रथ हैं न रथों का योग है सम्बन्ध है न गृह हैं तब भी रथ हैं रथों का सम्बन्ध है गृह हैं ऐसी माया से प्रतीति होती है वैसे ही जीव कर्त्ता है ऐसी प्रतीति भी माया से होती है। प्रतीति का

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

स्वरूप है कि मैं कर रहा हूं ऐसे अभिमान वाला ज्ञानशक्ति प्रधान और अपञ्चीकृत पंचमहाभूतों का कार्य अहंकार जो अन्तःकरण बुद्धि एवं विज्ञान शब्द का वाच्य हैं। अभेदाध्यास के बदौलत जिसमें कर्तृत्व भोक्तृत्व एवं ज्ञातृत्व धर्मों का आरोप होता है वस्तुतः वह कर्त्ता नही है। इधर ऐसा लेख है। उधर ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य में लिखा हैं कि जीव कर्त्ता हैं क्योंकि जीव को कर्त्ता मानने पर ही 'यजेत' 'जुहुयात्' 'दद्यात्' इत्यादि विधिशास्त्र सार्थक हो सकते हैं। अन्यथा अनर्थक हो जायेंगे। जब कोई कर्त्ता होता हैं तभी उसको कर्त्तव्य विशेष का उपदेश दिया जाता है जब कोई कर्त्ता ही नहीं रहेगा तब वह उपदेश अनुपपन्न ही हैं व्यर्थ ही हैं। इस उपदेश विधिशास्त्र की तरह ये द्रष्टा श्रोता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता" सब शास्त्र भी सार्थक हो सकते है। कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात्। यह सूत्र एवं विहारोपदेशात् उपादानात् व्यपदेशाच्च क्रियायां (विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपिच) न चेत, निर्देश-विपर्ययः (विज्ञानेन यज्ञं तनुते) इत्येवं निरदेक्ष्यत् शक्तिविपर्ययात् समाध्यभावा च्च ये सूत्र भी सार्थक हो जाने हैं। तब किसको मधुसूदन सरस्वतीजी वगैरह को या ब्रह्मसूत्र एवं शांकर भाष्य को सही कहा जाय। गीता कहती है प्रकृति करती है, किन्तु अहंकार विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते अहंकारी अपने को कर्त्ता कहता है। शरीर वाणी और मन से मनुष्य कर्म करता है इसके समर्थन में मधुसूदन सरस्वतीजी ने न्यायसूत्र "प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धि शरीरारम्भः का उपन्यास किया और व्याख्या में बुद्धि को मन कहा। परन्तु कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि योगिनः कर्म कुर्वन्ति ५।१४

इसमें बुद्धि की व्याख्या नही कर सके तथा पहले शरीर वाङ्मनोभिः श्लोक में वाणी पृथक् उपात्त है परन्तु इस कायेन में वाणी का उपादान ही नही किया कैसे संगति होगी और भी तमाशा यहां है कि मन के संम्बन्ध के विना केवल इन्द्रियां भी कर्म करती है ऐसा लिखा है। परन्तु यह कैसे संभव है क्योंकि (मनसा ह्येव पश्यति-मनसा शृणोति चेतसा वेदितव्यः) अन्यत्रमना अभूवं नादर्शय-मन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम्। कामादयश्चास्य मनसो वृत्तयः। कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भी रित्येतत्सर्वं मन एव। बृ. १।५।३

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मन से देखता है मन से सुनता है मन से समझता है। इसलिए कहा जाता है कि मेरा मन दूसरी जगह रहा इससे सुना नहीं, मेरा मन दूसरी बात में फंसा रहा अतः देख नहीं सका। अतः सिद्धान्त है कि इच्छा, संकल्प, विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा, घृति, अधृति लज्जा बुद्धि भय यह सब मन ही है।

इसके सिवाय भी लिखा है मनः परं कारणमामनन्ति। मनो हि हेतुः सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तने। मनुष्य के कर्म करने में मन प्रधान कारण है। सम्पूर्ण इन्द्रियों को प्रवृत्ति देने में मन ही हेतु है। ऐसी स्थिति में केवल इन्द्रियां कैसे कर्म कर सकती है। बिल कुल नही कर सकती है। सर्वत्रैवं राजते राजधर्मः।

एक बात और भी है कि शरीर से कौन सा कर्म किया जाता है। समूचे शरीर से तो जन्मग्रहण और स्नान किया जाता है। बाकी सब क्रियायें या यावत् कर्म मनः सहकृत भिन्न भिन्न इन्द्रियों से एवं अन्यों से किये जाते हैं। रूप का दर्शन चक्षुरिन्द्रिय से १ शब्द का श्रवण सुनना श्रोत्रेन्द्रिय से २ स्पर्शन वस्तुओं का छूना त्वगिन्द्रिय से ३ गन्ध का घ्राणन सूंघना नासिका घ्राणेन्द्रिय से ४ रस का आस्वादनादि जिह्वेन्द्रिय से ५ मन की सहायता से होता है ये ज्ञानेन्द्रियां है। गति गमन चलना फिरना पैरो से १ प्रलपन बोलना अध्यापन करना वाणी से २ विसर्ग मलत्याग पायु से गुदा से ३ मूत्र त्याग एवं आनन्दन उपस्थ से ४ ग्रहण आदान हाथों से ५ जो होता है वह मनकी सहायता से होता है ये कर्मेन्द्रियां हैं। जहां स्मृतियों में कायिक त्रिविध पाप कर्म लिखे हैं जैसे अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवावि-धानतः, परदारोपसेवा च त्रिविधं कायिकं स्मृतम्। चोरी, हिंसन, परदारोपसेवा ये भी हाथों से एवं उपस्थ से किये जाते है।

गीता में शारीर तप लिखा है जैसे— देव द्विज गुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।

यह पूजन रूप तप भी हाथों से एवं ब्रह्मचर्य उपस्थ से होता है। यहां सभी व्याख्याकारों ने शौचमार्जवम् पाठ मानकर शौच मृत्ति का से जल से होता है और लिखा है आर्जव का अर्थ अकुटिलता सरलता लिखा है। वस्तुतः यहाँ मार्जन पाठ है जिसका अर्थ है। शुचि पुरुष का भाव कर्म शौच मार्जन रूप है। मार्जन मृजू शुद्दौ से बनता है और आर्जव ऋजु से बनता है जो मानस धर्म है शारीर धर्म नही है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इन कर्मेन्द्रियों एवं ज्ञानेन्द्रियों से किये जानेवाले कर्मों से अतिरिक्त श्वास प्रश्वास उद्गार पर्दनादि भी कर्म वायु के हैं। स्वाप या सुषुप्ति एवं स्वप्न वृद्धि के कर्म है, उन्मेष निमेष नागकूर्म वायु के है। मरण हृदय की गति बन्द होना है।

अतः कायिक कर्मों में सब कर्म आ जाते हैं वाचिक और मानसिक पृथक् कर्म नहीं है क्योंकि जीवित शरीर के साथ ही ये सब कर्म हैं।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अत्र देहिनः इति पाठेन भाव्यम्, तथा सत्येव देहा देहिनः इत्येकप्रसरताख्यो गुणः स्यात् तदकरणे एकप्रसरताखण्डनात्मकः प्रक्रमभंगो दोषो भवति।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ! २।३० अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ! ८।४ अनयोः पद्ययोः स गुणो वर्तते।

अत्र देहिनो नित्यत्वं मुक्त्यवधिकत्वरूपं यथाकाशादीनां प्रलयावधिकत्वरूपं नित्यत्वम्। मुक्तौ सत्यां तु जीवत्वं चिज्जड़ग्रन्थित्वरूपमपहस्तितं भवति। मुक्तिर्नाम चिज्जड़ग्रन्थिविमोकः। अन्यच्च इतः कथ्यते शरीरी शरीरवान् देही देहवान्। अमुतः कथ्यते अव्यक्तोऽयमिति शरीरी शरीरेण व्यक्तस्तदाऽव्यक्तः कथं।

न कर्मणामनारम्भान् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते। कर्मणामनारम्भात् अकरणात् पुरुषो नैष्कर्म्यं नाश्नुते अर्थात् कर्मकरणादेव नैष्कर्म्यं माप्नोति। संन्यासः कर्मयोगश्चोभौ उक्तौ तयोः कर्मयोगो विशिष्यते। न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति। अत्रैवमुच्यते परतस्तु संन्यासेन सिद्धिः। यथोच्यते। नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति। इत्येवं परस्परविरुद्धम्।

अचिन्त्योऽयमुच्यते।२।२४ इत्येवमचिन्त्य उक्त इतः। अमुतः 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम् इति। कथं विद्यामहं योगिन् त्वां सदा परिचिन्तयन्। इति। केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् ! मया।१०।१७ इति। इति। ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति। अत्र ध्यै चिन्तायामिति धातोर्निष्पन्नं ध्यानं चिन्तनमेव, मामनुस्मर युद्ध्य च इत्यत्र स्मरणं चिन्तनमेव। स्मृ चिन्तायामिति धातोः स्मरणस्य निष्पन्नत्वात्। परस्पर विरुद्धम्।

सिध्यसिध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।
योगः कर्मसु कौशलम्।
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन !

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् इति ।

एवमेकत्रारं साम्यं योगः । पुनः कर्मकौशलं योगः । पर्यन्ते च दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् इति । एवं दुःखानां संयोगाद् वियोगस्य योगसंज्ञा । इत्युच्यते । अन्यत्र दर्शने योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः इत्युच्यते । तत्रात्र किं बोध्यम् । योगः समाधिर्वा ईश्वरेण साकं चेतसः सम्बन्धो वा । अथवा तेषां कारणम् वा इतस्ततो द्रुतानां चित्तवृत्तीनां निरोधो व्यावर्त्तनम् वा सुखदुःखवियोगो वा एकत्र । समाहरणम् एकस्थत्वकरणम् वा । इति ।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ।

इत्येवं ज्ञाने कर्मणः समाप्तिरवसायः कथ्यते । परं प्राग् जानाति ततः इच्छति अनन्तरं यतते इति सिद्धान्तात् ज्ञाने सति इच्छा भवति तदुत्तरं कर्म प्रवर्तते । यर्हि ज्ञाने कर्मणोऽवसानं तर्हि कथं तस्य सिद्धान्तस्य रक्षा । तस्मात् ज्ञाने सत्येव कर्मणः सम्यक् आप्तिः व्याप्तिः प्रवृत्तिर्जायते इत्यर्थः करणीयः । आप्लृ व्याप्तौ इति धातो राप्यतेशब्दस्य निष्पन्नत्वात् । इति ।

माञ्चैवान्तः शरीरस्थं कर्षति इति । शरीरस्थितं मामविनाशिनमव्ययं कर्षति । इत्युच्यते । योऽविनाशी अव्ययः अविकार्यः तस्य कर्षणं कथं । सर्वत्रैवं राजते राजधर्मः ।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः । तदर्थं कर्म कौन्तेय! मुक्तसंगः समाचर ।

अत्र यज्ञो वै विष्णुरिति श्रुतेः तदर्थं विष्णुप्रीत्यर्थं कर्म समाचर इत्यादिश्यते यर्हि । तर्हि मुक्तसङ्गः कर्मफलसम्बन्धवर्जितः सन् कुरु इति किम्वुक्तम् । यतः तस्य कर्मणः फलम् विष्णुप्रीतिः । तदर्थं कर्म समाचरितुमादेशः इत्येवमत्र परस्परासमञ्जसं न प्रतिभाति किम् ।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न सम्भवः । यज्ञाद् भवति पर्जन्यः यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।

अत्रेयमाशंका जागर्त्ति यत् 'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र इत्यत्र पूर्वं यज्ञः अर्थः प्रयोजनं हेतुर्यस्य कर्मणः तत्कर्म यज्ञार्थम् यज्ञप्रयोजनकं यज्ञहेतुकम् यज्ञसमुद्भवमित्यर्थः । इति प्रोक्तम् । पुनरत्र यज्ञः कर्मसमुद्भव इत्युच्यते । तत्किम् ।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति। सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते।

अत्र यः सर्वथा सर्वप्रकारेण देशेन कालेन वस्तुना अवस्थया भावनया स्वरूपेण च भगवति वर्त्तमानः अस्ति वर्त्तति एव पुनः स मयि वर्त्तते इत्युक्तिः का।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।

अत्र यथा शुनि, अथ च श्वानं पक्त्वा खादके चाण्डाले च पण्डितः समदर्शी भवति तथैव विद्या विनयाभ्याम् अथवा विद्याजनितविनयेन सम्पन्ने ब्राह्मणे, अथ च तेन ताभ्यां वा असम्पन्ने मूर्खे ब्राह्मणे तादृशोभयविधब्राह्मणहन्तरि अपि किं पण्डितः समदर्शी स्यात्, न वा। समदर्शी इत्यत्र समशब्दस्यार्थः निर्दोषं सर्वोपाधिरहितं ब्रह्मेति निर्दोषं हि समं ब्रह्मेति समनन्तर श्लोकोक्तेः। अतः समं ब्रह्म पश्यति अर्थात् समं ब्रह्म द्रष्टुं शीलं यस्येत्येवं शीलार्थे णिनिः। सर्वं खलु इदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चनेति श्रुतेः ब्रह्मैवेदं सर्वमिति श्रुतेश्च, अन्यथा इदमर्थाभावे साम्यदर्शी इति पाठ्यं स्यात्। सर्वत्र साम्यं तुल्यत्वं पश्यति इति।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।

इत्यत्र यर्हि आत्मनो रतये तृप्तये सन्तुष्टये एव कार्यं भवति कर्त्तव्यं सर्वैः क्रियते इदमुच्यते। तथा आत्मनः कामाय सर्वं प्रियं भवति न वाऽरे तस्य तस्य कामाय तत् तत् प्रियं भवतीति श्रुतेरपि करणं पचनं भोजनादि च सर्वं स्वात्मनः कामाय भवति; तर्हि भुञ्जते ते त्वघं पापाः ये पचन्त्यात्मकारणात् इत्येवमात्म कारणात्पचनं अघभोजनं कथमुच्यते।

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥

यर्हि हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं मरणोत्तरं स्वर्गः इति श्रुत्वा आः कष्टं मृत्युमाप्य स्वर्गः प्राप्स्यामि इत्येवं शोकसन्तापज्वरयुक्ताय जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् जयं लभस्वेति महीं भुंग्धि इति आशिषः। अहहा जयोत्तरं महीश्वरत्वं मम स्यात्। भोगाश्च मम स्युरित्येवं ममतायाश्च सद्भावस्तर्हि निराशिष्ट्वं निर्ममत्वं तथा विगतज्वरत्वं कथं स्यात्।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अन्यच्च महीं भोक्ष्यसे इत्यत्र अन्नस्याभ्यवहारे भुज धातोरात्मने पदित्वम् अन्यस्मिन् महीप्रभृतिभोगरूपार्थे तु परस्मैपदित्वमेवोचितं तर्हि कथमत्रात्मने पदित्वं धातोः। अत्रायं समाधिः भुजोऽनवने इत्यत्र अवनम् पालनम् अनवनम् अपालनम्। एवमुक्तम्, परमत्र भोजने इति वक्तव्ये अनवने इति पर्युदासस्य प्रयोजनद्वयम्। संयोगवद् वियोगस्यापि विशेषावधारणहेतुत्वाद् रौधादिकस्यैव भुजेर्ग्रहणं न तु तौदादिकस्य भुजेरित्येकम्। अदनार्थादर्थान्तरेऽप्युपभोगादौ आत्मनेपदं भवतीति द्वितीयम्। तेन महीं भोक्ष्यसे मह्या उपभोगं करिष्यसे। उपभोग इति उपलक्षणमात्मसात् करणस्य ततश्च स्वाधीनां महीं करिष्यसे इत्येतमर्थं बोधत।

दृष्टः श्रुतः किं भवतैष लोके परस्परं कारणकार्यभावः। दृष्टः श्रुतो हन्त मया तु लोके साधारणो भूषणभूष्यभावः।

कर्मणोऽपि माहात्म्यम् कर्मकरणस्यापि माहात्म्यम् तथा कर्मणो ज्ञानस्यापि माहात्म्यम् तद् यथा—मयि भगवति कर्मलेपः इति तु कथैव का अर्थात् मयि कर्मलेपस्य सम्भावना इति स्वप्नं वस्तु अस्त्येव परं कर्मजन्यफलविषयकस्पृहाभाववति मयि कर्मलेपो नास्तीति ज्ञातुरपि कर्मणा लेपो नास्ति कर्मणो बन्धनजकत्वं न वर्त्तति ४।१४ तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज् ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ४।१६ मुमुक्षुभिरपि कर्म कृतम्। क्रियते मोक्षकांक्षिभिः।

ये शुकदेवस्यापि उपदेशका जनकादयस्तेऽपि कर्मणा एव न तु भक्त्या योगेन ज्ञानेन च सम्यक् सिद्धि मोक्षमास्थिताः। यतः क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा। स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः। इति। १८।१९ योगिनः कर्म कुर्वन्ति। योगस्थः कर्माणि कुरु इत्युपदेशः।

स्वकर्मनिरतः सिद्धि विन्दति १८।४५ स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानवः १८।४३ संन्यासी अपि कर्म करोति। वस्तुतः यः कर्म करोति स एव संन्यासी स एव योगी। अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः,

स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।

यस्तु अक्रियः कर्म न करोति स न संन्यासी न च योगी। यः अग्नीनात्मनि समारोप्य गृहात् प्रव्रजते स अग्नि विना कर्मकरणेऽशक्तो भवति तद्विषयेऽपि कथ्यते यो निरग्निः सोऽपि संन्यासी नास्ति। अपि तु यः कर्म करोति स एव। यतः नियतस्य

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

तु संन्यासः कर्मण्गे नोपपद्यते। इत्युक्तेः। यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् १८।५ एतान्यपि तु कर्माणि संगं त्यक्त्वा फलानि च कर्त्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् इत्युक्तेश्च कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन १८।६ १८।६

योगिनः कर्म कुर्वन्ति योगी लोग कर्म करते हैं। और योगसंन्यस्त कर्मणाम् योग के द्वारा कर्मों का संन्यास होता है। इधर यह लिखते हैं कि न कर्मणा-मनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते कर्मों के बिना किये पुरुष नैष्कर्म्य सिद्धि को प्राप्त नही कर सकता है उधर लिखते हैं कि "नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधि गच्छति। चेतसा सर्वकर्माणि संन्यस्यास्ते १८।५७ उत्तम नैष्कर्म्य सिद्धि संन्यास से प्राप्त करता है। चित्त से सब कर्मों का संन्यास होता है। सर्वत्रैवं राजते राज धर्मः।

मुमुक्षुलोग भी मोक्षचाहने वाले भी कर्मों को करते हैं। जैसे

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः। तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञ तपः क्रियाः। दान क्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः। जो मुझको ऐसा जान लेता है उसको कर्म बन्धन नहीं होता है। इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ४।१४ तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज् ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्। वह कर्म तुम को बतलाता हूं जिसको जान लेने से मनुष्य पपों से छूट जाता है।

यहां इस लेख से मालूम पड़ता है कि विना कर्म किये केवल 'ये कर्म हैं' ऐसा जान लेने मात्र से पापों से छुटकारा मिल जाता है।

उधर कहते हैं। जनकादि ने कर्म हीसे न कि भक्ति से या ज्ञान से सिद्धियां पाई उधर कहते हैं दूरेण अवरं कर्म वुद्धि योगात् बुद्धियोग की अपेक्षा कर्म अत्यन्त ही अवर है तुच्छ है। वुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः। इधर कहते हैं कि जो किया जाता है वह सब अनित्य है यत्कृतकं तदनित्यं यत्साध्यं तदनित्यम्। कर्म योग से साध्य ज्ञानयोग है ज्ञानयोग से साध्य मोक्ष है। अतः ज्ञान और मोक्ष अनित्य है। इधर श्रुति कहती हैं कि न स पुनरावर्त्तते न स पुनरावर्त्तते। किसको सही कहा जाय। अतः एक मात्र भगवान् की शरण में जाना ही गीता का मुख्यप्रतिपाद्य है। इसीलिए भगवान ने वार वार कहा है।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अनन्याश्चिन्तयन्तो माम् । मन्मना भव मद्भक्तः । मां हि योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । लिप्यते न स पापेन ।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्वतः । त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति ४।९। अतः सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज यही सिद्धान्त ठीक है ।

गीता में ज्ञान का माहात्म्य

बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ४।१०

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहु पण्डितं बुधाः ४।१९

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।

आत्मसयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ४।२७

श्रेयान् द्रव्यमयाद् यज्ञाज् ज्ञानयज्ञः परन्तप !

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ४।३३

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणोमुखे ।

कर्मजान् विद्धि तान् सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ।४।३२।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ४।३४

यज् ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ! ४।३५

सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ४।३६

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ! ४।३७

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ४।३८

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः !

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ४।३९

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।४।४१

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।४।४२

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।५।१५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेषामादित्यवज् ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।५।१६
तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ।५।१७
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा ।६।८ –
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज् ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते ७।२
माययापहृत ज्ञानाः ७।१५
ज्ञानी च भरतर्षभः ७।१६ तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः ७।१७
प्रियो हि ज्ञानिनोऽहम् !
ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ७।१८
बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते ७।१९
ज्ञानैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः ७।२०
इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज् ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ९।१.
ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ९।१४.
तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता १०।११
अध्यात्मविद्या विद्यानाम् १०।३२
ज्ञानं ज्ञानवतामहम् १०।३८
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाद् ज्ञानाद् ध्यानं विशिष्यते १२।१२
अमानित्वादि धृत्यन्तं त्रयोविंशतिसंख्यात्मकं
ज्ञानम् अतोऽन्यथा अज्ञानम् १३।७।८।९।१०।११
ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज् ज्ञात्वामृतमश्नुते १३।१२
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं १३।१४
भूतभर्तृ च तज् ज्ञेयम् १३।१५
परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज् ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः १४।१

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च
ज्ञानसंगेन चानघ ! १४।६
ज्ञानमावृत्य तमः १४।९
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।
इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः १३।१७।१८
ज्ञानं यदा तदा विद्याविवृद्धं सत्त्वमित्युत १४।११
सत्त्वात्संजायते ज्ञानम् १४।१७
ज्ञानयोगव्यवस्थिति· दैवीसम्पदमभिजातस्य भवति १६।१
ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्म चोदना १८।१८
ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः १८।१९
समासेनैव कौन्तेयः निष्ठा ज्ञानस्य या परा १८।४०
इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया १८।६३
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं सम्वादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाऽहमिष्टः स्यामिति मे मतिः १८।७०
यह ज्ञान का माहात्म्य है।

प्रश्नोत्तर--

श्री भगवान् ने अर्जुन से कहा कि हे अर्जुन ! इस अव्यय योग को मैंने सूर्य से कहा, सूर्य ने मनु से, मनु ने इक्ष्वाकु से कहा। इस पर अर्जुन ने प्रश्न किया कि आपका जन्म आज हुआ है और सूर्य का जन्म तो बहुत पहले हो चुका है तब कैसे मैं जानूं कि आपने इस योग को सूर्य को बतलाया है। इसके उत्तर में भगवान् ने कहा कि हे परन्तप ! अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं उन सबको मैं जानता हूं तुम नहीं जानते हो।

यहां कुछ स्थूल शंका हो सकती है कि एक वार नर नारायण के रूप में एवं दूसरी वार कृष्ण अर्जुन के रूप में दो ही वार जन्म हुआ है किन्तु यहां तो बहूनि पद दिया है जिसका अर्थ है बहुत से जन्म।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

इसका उत्तर है कि भागवत के १० स्क. के ३१ अध्याय में भगवान् ने देवकी को वतलाया कि स्वायम्भुव मनु के समय में तुम पृश्नि थी और यह सुतपा नामक प्रजापति थे। तव मै तुह्मारे यहां पृश्निगर्भ नाम से विश्रुत पुत्र हुआ। उसके वाद तुम अदिति थी यह कश्यप थे उस समय मैं तुह्मारे यहां उपेन्द्रनाम से तथा वामन होने के हेतु वामन नाम से विख्यात हुआ। इसके बाद अव मैं तुम देवकी हो यह वसुदेव हैं तुह्मारे यहां तेनैव वपुषा उसी शरीर से (भूयो जातः) पुनः पैदा हुआ हूं। इस तरह त्रित्वसंख्या के वदौलत जन्मों में वहुत्व आ गया। और नारायण के रूप में चौथी संख्या जन्म की हो गई।

इसके सिवाय महाभारत शान्ति३३४-२पर्व ३३८-८।६ में लिखा है कि-

नारायणो हि विश्वात्मा चतुर्मूर्तिः सनातनः

धर्मात्मजः सम्बभूव पितैवं समभाषत।

सनातन एवं विश्वमूर्ति भगवान् नारायण, धर्म के यहां पुत्र रूप में चार प्रकार से पैदा हुए ऐसा पिताजी ने मुझे कहा था।

यदर्थमात्मप्रभवेण जन्म कृतं त्वया धर्म गृहे चतुर्धा।

आत्म प्रभव स्वयम्भू होते हुए भी जिस लिए तुम धर्म के घर में चार प्रकार से पैदा हुए। इस तरह भी जन्मों की चार संख्या के कारण उनमें वहुत्व आ गया। अतः यह स्थूल शंका निवृत्त होनी चाहिए। अर्जुन के तो विविध अनन्त जन्म हुए हैं उनकी गणना करना व्यर्थ है। यह भी कहीं नहीं लिखा है कि तुम्हारे हमारे जन्म साथ २ हुए। अतः साथ होने की कल्पना केवल कपोल कल्पना ही है।

यहां का रहस्य यह है कि तीन ज्योतियां वैदिक प्रक्रिया की आधार हैं। जिनके आश्रय से तीन तरह के पदार्थ प्रकट होते हैं। पहला पदार्थ अध्यात्म से प्रकट होता है जो एक ही स्वरूप वाला है। दूसरा अधिदैव भाव से प्रकट होता हैं जो किसी निमित्त से पैदा होता है और निमित्त के पूरे होने पर लीन हो जाता है। तीसरा अधिभूत भाव से प्रकट होता है जो स्वाभाविक और शास्त्रीय दो प्रकार के कर्मों से अवप्लुत है। उन कर्मो की प्रेरणा से आविर्भाव एवं तिरोभाव के प्रवाह में जीव पड़ा रहता है यह अपने वर्त्तमान जन्म एवं मरण को जानता है। देव भाव में दो विभाग हैं। एक चित्प्रधान है जिसका देव शब्द से व्यवहार होता है दूसरा है सत् प्रधान

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

जो देवी शब्द से व्यवहार्य है ये दोनों ही अपने आविर्भाव एवं तिराभाव को जानते हैं इनका जीवों की तरह जन्म एवं मरण नहीं होता है किन्तु विराट् शक्ति के वश से निमित्त से आविर्भाव जन्म एवं तिरोभाव मरण कहा जाता है। इसी अपने आविर्भाव एनं तिरोभाव को समस्त देव एवं देवियों की शक्तियों के विराट् आश्रय भगवान् श्री कृष्ण स्मरण करते हैं अतएव कहते हैं कि मैं उन सबको जानता हूं। किन्तु इन कर्मों की प्रेरणा से जन्म तथा मरण के प्रवाह में पड़े हुए तुम हे अर्जुन! इनको नहीं जानते हो। इस तरह भगवत्कृपाप्राप्त दिव्य दृष्टि के सहारे समझने में गीतार्थ का प्रकाश होता है। अन्यथा षष्ठी पंचमी के अर्थ के अपने तुच्छ ज्ञान के द्वारा नहीं समझ सकता है यह सत्य कथा प्रथा है।

'पुरुषार्थ प्रधान है या दैव'

यहां तीन प्रकार के वक्ता हैं उनमें पहला दल है—दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या। दैव प्रारब्धका नितरां हनन करके त्याग करके अपनी शक्ति के अनुसार पौरुष करो दृढ़ता से अपनी भावना जागरित करो कि देहं वा पातयेयं कार्यं वा साधयेयम्। देह का भी भले ही पात हो जाय मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः। क्यों कि मरण तो शरीरियों की प्रकृति है स्वभाव है जीना विकार है ऐसा बुध लोग कहते हैं। अतः या तो देह को नष्ट कर दूंगा या फिर कार्य को सिद्ध करूंगा। मैं अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करूंगा। क्योंकि

अङ्गनवेदी वसुधा, कुल्या जलधिः, स्थली च पातालम्। वल्मीकश्च सुमेरुः कृतप्रतिज्ञस्य धीरस्य।

कहा है जिस कि धीर वीर ने कार्य के सिद्ध करनेके लिए प्रतिज्ञा कर ली है कि उसके लिए पृथु माने बड़ी महती पृथ्वी वसुधा आँगनकी वेदी हैं यानी वेदी के समान अत्यन्त छोटी है और जलधि समुद्र कुल्या कृत्रिम सरित् है। पाताल भी ओर छोर शून्य सर्वत्र जल व्याप्त जलमय प्रदेश भी स्थली है छोटी सी भूमि है। सुमेरु विशाल पर्वत भी वल्मीक है पिपीलिकाओं का निवास स्थान है। इस तरह अपने को दूसरों से अनभिभूत समझकर उद्योगेन हि सिध्यन्ति कार्याणि न मनोरथैः। कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। सिद्धिर्भवति कर्मजा।

उद्योग से ही कार्य सिद्ध होते है मानसिक भावनाओं से कार्य सिद्ध नही होते

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हैं जनकादि महान् पुरुषों को भी कर्म से ही न कि अन्य किसी प्रकार से सिद्धि मिली हैं क्योंकि

इस मनुष्य लोक में कर्म से ही शीघ्र सिद्धि होती है। अतः पुरुष को कर्मठ होना चाहिये देव दैव आलसी पुकारते हैं।

दूसरा दल है—हतप्रभ, दुर्दैवं विताडित, जीर्ण शीर्ण काय, स्वभावसे जन्म से कुल परम्परा से महान् होते हुए भी हीन दीन दशा में पड़कर भाग्य को प्रारब्ध को प्रधान मानकर कहते हैं कि देखो भाई वही अर्जुन है वही गाण्डीव धनुष है वे ही बाण हैं जिनके विषय में भीष्म पितामह जैसे शूर वीर महाभिमानी जिसके धनुष्टंकार को सुनकर बड़े २ गर्वीले धनुर्धारी भयभीत हो जाते थे वह भीष्म युद्धमें कहते थे कि-

अर्जुनस्य इमे बाणा नेमे बाणाः शिखण्डिनः। सीदन्ति मम गात्राणि माघमा सेगवा इव। शिखण्डी के ये बाण नहीं है ये तो अर्जुन के बाण है जिनसे मेरे गात्र विंध जा हैं अर्थात् जिनका मैं भी प्रतीकार नहीं कर सकता हूं। जैसे मधम नामक म्लेच्छ देश में पैदा होने गव कीड़ों से होता है।

आज उन्ही बाणों के रहते उसी धनुष के रहते उसी अर्जुन के सामने बल पूर्वक ग्वाले लोग कृष्ण की पटरानियों को लूट रहे हैं। अतः होनहार होकर ही रहता है उसका प्रतीकार नही होता है। यदि होता तो अवश्यंभावी भावानां प्रतीकारो भवेद्यदि। तदा दुःखैनं लिप्येरन्नल रामः युधिष्ठिराः। नल मर्यादापुरुषोत्तम राम एवं धर्मप्राण युधिष्ठिर वगैरह दुःखों से लिप्त नही होते। अतः पुरुषार्थ सब कुछ नही है। यदि वही सब कुछ होता तो-

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या कहने वाले लोग यह नही कहते कि यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः। यहां लिप्येरन् गलत पाठ है।

यदि यत्न करने पर भी कार्य सिद्ध नही हुआ तो इसमें हमारा क्या दोष हैं ऐसा रोदन नही करते अतः प्रारब्ध भाग्य बलवान् है।

तीसरा—परिपक्व विचार धाराओं से सम्पन्न कर्ममार्ग के निष्कर्ष को निचोड़ को तत्वतः जानने वाला और ज्ञान की महिमा से ओत प्रोत अधिकारी दल है वह कहता है कि (पूर्वजन्म कृतं कर्म तद्दैवमिति कथ्यते) दैव भाग्य या प्रारब्ध कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं है। पूर्वजन्म में किया हुआ कर्म ही प्रारब्ध है। पुरुषार्थ

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

कर्म ही है। भेद है केवल जन्म का, पुरुषार्थ इस जन्म का कर्म है और दैव पूर्वजन्म का है। अतः इन दोनों कर्मों से कुछ भी नही हो सकता है जब तक ईश्वरानुग्रह नही होता है।

अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमहेतुः सुखदुःखयोः
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् श्वभ्रं वा स्वर्गमेव वा।

यह जन्तु है तुच्छ जीव है अज्ञ है असमर्थ है। अतः सुख का या दुःख का कारण नही हो सकता है। ईश्वर की प्रेरणा के अधीन गढे में गिर जाय स्वर्ग में चला जाय। सन्त तुलसीदास जी नें कहा है कि—

उर प्रेरक रघुवंश विभूषण। क्योंकि श्रुति कहती है कि एष हि एव साधु कर्म कारयति यमुन्निनीषते। एष एव असाधु कर्म कारयति यमधो निनीषते। यह भगवान् ही प्रेरक हैं जिसको उन्नत वनाना चाहते हैं उससे साधु कर्म कराते हैं और जिसका अधःपात करना चाहते है उससे असाधु गन्दे नीच कर्म कराते हैं।

भगवान् स्वयं कहते हैं यं कामये तं तमुग्रं करोमि तं ब्रह्माणं तं सुमेधाम्। जिसको मैं चाहूं उसको रुद्र उग्र बना दूं शिव शंकर बना दूं ब्रह्मा बना दूं। बड़ा भारी बुद्धिमान् बना दूं। 'यमेव वृणुते तस्मै विवृणुते तनुं स्वाम्' जिसको मैं वरण करूं उस के लिए मैं अपनी शरीर हाजिर कर देता हूं। इसीलिए भगवान् ने वार वार कहा है कि--

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु
मयि भक्ति परां कृत्वा मामेवैष्यस्यसंशयम्।
सर्व कर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः,
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ॥

यः सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत। इत्यादि। अन्त में कहते हैं कि-

सब धर्मो को यानी कर्मो को छोड़ो। मुझे शरण रक्षक व्रज समझो। इस पर अर्जुन कहता है कि आप के कहने के अनुसार युद्ध करके युद्धमें यदि मैं इन कुटुम्बियों को मार दूंगा तो इनके नहीं रहने से स्त्रियां दूषित कर दी जायेंगी। यह सब पाप मुझे लगेगा क्योंकि यह सब पाप मेरे ही कारण किया हुआ है यही शोक मुझे सता रहा है इस पर भगवान् कहते हैं कि--

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः मैं तुमको सब पापों से दुःखो से छुडा दूंगा तुम शोक मत करो। अतः पुरुषार्थ जो भी किसी का सिद्ध हुआ है या होगा वह सब इन्हीकी कृपा से हुआ समझो। क्योंकि भावी हि मेंट सकें त्रिपुरारि। मार्कण्डेय ने त्रिपुरारि को शरण बनाया, सती सावित्री ने इन्ही का आश्रय लिया। द्रौपदी गज गीध अजामिल एवं पाण्डव जिस किसी ने भी जो भी किया उसने इन्हीं को शरण लिया और सिद्ध हुआ।

प्रकृति तो विचारी पुरुषाधीन हैं प्रकृति तो इसकी महान् योनि है इसमें ये महात्मा सदा गर्भाधान करते है। उसका निग्रह यही करते हैं कराते हैं इसके विषय में राग द्वेष की कौन चिकारी है। एक इन्द्रिय अपने विषय के लिए दूसरी इन्द्रियसे कुछ भी चूं चपड नही कर सकती है। रंगस्य दर्शयित्वा निवर्त्तते नर्तकी यथा नृत्यात्। पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिर्वर्तते प्रकृतिः। जैसे नर्त्तकी रंगमञ्चपर अपने नृत्य को दिखाकर लौट जाती है उसी तरह प्रकृति भी पुरुष को अपना स्वरूप दिखाकर निवृत्त हो जाती है। इसलिए ज्ञानवान् भी संसार की हर एक पहलुओं का जानकार भी मानव अपनी प्रकृति पूर्वजन्म में किये हुए कर्मों से प्राप्त अपने भाव माने भावनाख्य संस्कारों के अनुरूप ही कर्म करता है तब जो शास्त्र आचार्य गुरु माता एवं पिता के उपदेशों को (नादत्ते इति कर्त्तरि ल्युः) नही ग्रहण करने वाले नादान हैं उनकी तो क्या कथा है अतः सभी प्राणी भगवान् का अनुगमन करते हैं वह प्रकृति भगवान् की चेरी है चेरीके निग्रह की जरूरत नही है।

"तेनैव रूपेण त्वं भव"

यहां का सन्दर्भ यह है कि भगवान् ने जब अर्जुन को द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ! हे पुरुषोत्तम ! मैं आपके ऐश्वर रूपके देखनेकी इच्छा करता हूं इस प्रार्थना पर भगवान् ने अपना ऐश्वर रूप ऐश्वर योग दिखाया। तब देखने के बाद अर्जुन कहता है कि हे भगवन् ! आपके इस पहले कभी नहीं देखे हुए रूप कोदेख कर मेरे रोएं खडे हो गये हैं और भय से मेरा मन अत्यन्त व्यथित हो गया है। अतः उसी प्रकार पहले की तरह शिर पर मोर मुकुट धारण करके हाथों में गदा और सुदर्शन लिए हुए उसी रूप वाले तुम हो जावो क्यों कि हे जगन्निवास।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

हे चतुर्भुज ! हे इन ! प्रभो ! हे विश्वमूर्ते ! हे सहस्रबाहो ! मैं तुमको उसी प्रकारसे देखना चाहता हूं। तथैव द्रष्टुमिच्छामि।

यहां जो नादान है यानी शास्त्र आचार्य एवं गुरु के उपदेश का आदान नही करता हैं ग्रहण नही करता है वह तेन और रूपेण इन तृतीयान्त रूपों को प्रयोगों देख कर चतुर्भुजेन को भी तृतीयान्त रूप प्रयोग समझता है। यह नही समझता है कि जैसे सहस्रबाहो ! विश्वमूर्ते। सम्बोधन हैं वैसे ही चतुर्भुज ! और इन ! भी सम्बोधन हैं। जिसको सहस्रबाहो कह सकते हैं तो उसको चतुर्भुज भी कहहीं सकते हैं।

भागवत महापुराण में लिखा है कि आचार्यों और गुरुओं ने बालकृष्ण की लीलाओं का गान किया है अतः बाल वृद्ध एवं वनिताएं सभी जानती हैं कि कृष्ण चार भुजाओं वाले पैदा हुये थे इसे अर्जुन भी जानता है और भववान् के प्रभुत्व को सामर्थ्य को अर्जुन अभी देख ही रहा है। फलतः हे चतुर्भुज ! और हे इन! कहना भी अर्जुनके लिए प्राप्त ही है समझा हुआ ही है अतः कहने में भी कोई अड़चन नही हैं। इसलिए चतुर्भुजेन यह एक तृतीयान्त पद नही है चतुर्भुज और इन ये दो सम्बोधन हैं। भाग० १० स्क.३ अध्या. में कहा है कि उस अद्भुत कमलनेत्र चतुर्भुज कृष्ण को वसुदेव ने और देवकी ने देखा। उसके बाद देवकी ने कहा कि हे भगवन् ! इस रूप का संहार करिये और सौम्य रूप में हो जाइये। चतुर्भुज की यह बात हुई।

इनका अर्थ है (इनः प्रभौ नृपे सूर्ये) इत्यादि अमर, मेदिनी, विश्व, कोश के अनुसार प्रभु नृप और सूर्य। प्रयोग भी मिलते हैं सह इनेन नृपेण वर्तते सा सेना। इन के साथ नृप के साथ रहने वाला जो बल है वह सेना है। रघु. ६ स ५ श्लोक में भी

तमधिगम्य तथैव पुनर्बभौ
न न महीनमहीनपराक्रमम्।

मही इनम् महीनम्। मही पृथिवी तस्या इनं नृपं तं उस अहीनपराक्रमवाले इन नृप दशरथको अधिगत कर उसी तरह दिलीप और अजकी तरह पुनः फिर न बभौ सुशोभित नहीं हुई यह न नही है अर्थात् सुशोभित ही हुई। यहां भी इनके माने राजा है। अतः प्रकृत में हे इन ! यह सम्बोधन है तेन और रूपेण ये दोनों तृतीया विभक्तियां

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

धान्येन की तरह अभेदार्थक हैं तथा भव क्रिया के कर्त्ता त्वं के साथ अन्वित है अतः तद्रूपाभिन्न तुम हो जाओ। अर्थात् पहले की तरह उस द्विभुज रूप वाले हो जाओ। अतः यहां हे चतुर्भुज ! हे इन ! हे सहस्रबाहो ! हे विश्वमूर्त्तेः! इस पद्य का अर्थ है। दूसरा जो कोई भी अर्थ है वह असंगत ही होगा। या है ही नही। हरिः ओम् तत् सत्।

वासांसि पद्य में पूर्वार्ध में अपराणि पद लिखा है। उसके दो अर्थ हैं एक अर्थ है न पर अपर जो पर के नही है दूसरे के नही है अर्थात् अपने हैं। दूसरा अर्थ है नास्ति परः उत्कृष्टो येभ्यस्तानि अपराणि जिनसे पर उत्कृष्ट कोई नहीं है अर्थात् सर्वोत्कृष्ट हैं। वस्त्रों का धारण करना मनुष्य के अधीन है अतः अपने पास जो सर्वोत्कृष्ट वस्त्र होंगे उनको वह धारण कर सकता है। मरने के बाद देही उत्कृष्ट ही देह को धारण करेगा इसमें कोई नियम नही है क्योंकि शरीर धारण करने में प्राणी स्वाधीन नहीं है अतः शूकर कूकर कीट पतङ्ग किसी का भी शरीर धारण कर सकता है। इसी अशय से पूर्वार्ध में अपराणि शब्द तथा गृह्णाति शब्द लिखा है और उत्तरार्द्ध में अन्यानि शब्द और संयाति शब्द लिखा है। वहां स्वयं ग्रहण करता है और यहां अदृष्ट का दिया हुआ पाता है।

ध्रुवं जन्म मृतस्य च। जो मर गया है उसका जन्म लेना ध्रुव है निश्चित है। यह भी मत गड़बड़ है। क्योंकि काशी में मरने वाले की मुक्ति हो जाती है तब वह पुनर्जन्म कैसे लेगा। हां अयोध्या मथुरा माया (हरिद्वार) काशी काञ्ची अवन्ती एवं द्वारका इन सात पुरियों मे मरनेवालों को छोड़कर बाकी जगहों में मरने वालों का पुनर्जन्म होता है। वहां के लिए ध्रुवं जन्म मृतस्य की संगति लग जाती है। जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः जो पैदा होता है वह अवश्य मरता है यह भी अश्वत्थामा बलि व्यास हनुमान् विभीषण कृप और परशु इन सात ऋषियों और आठवें मार्कण्डेय को छोड़कर अन्यों के विषय में संगत होता है।

अजोऽपि सन्। अज भी पैदा नही होनें वाला भी सन् माने है। यहां अपि विरोध का द्योतक है। जो पैदा नही हुआ है वह है ऐसा कैसे कहलायेगा। क्योंकि क्रम है जो जायते पैदा होता है। उसका अस्ति है ऐसा व्यवहार होता है। जो हुआ है वह वर्द्धते बढ़ता है वह विपरिणमते विभिन्नरूपों में परिणत होता है। जो विभिन्न रूपों में परिणत होता है वह अपक्षीयते अपक्षीण होता है

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

किन्तु यह तो अव्ययात्मा है अव्यय स्वरूप है। अर्थात् इसका स्वरूप व्यय नष्ट होने वाला नही है। क्योंकि ईश्वर है समर्थ है अर्थात् अपने वश में हैं। इसमें शंका होती हैं कि जो पैदा होता है वह तो अन्त में नष्ट होता है यह तो नष्ट नहीं होता है यदि नष्ट होता है तब यह अव्ययात्मा कैसे हो सकता है। उत्तर—वस्तुतः वह पैदा नहीं होता है। वह तो अपनी प्रकृति का अधिष्ठान करके सहारा लेकर अपनी योग माया से संभूत होता है। यानी प्रकृति की ही संभावना से आविर्भूत होता है। जैसे इन्धन के सहारे अग्नि प्राण के सहारे जीवात्मा।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वम् अत्र शोचितुमावश्यकाः शोच्याः न शोच्या अशोच्या इति विग्रहः साधुः। अत्र आवश्यकेऽर्थे कृत्याश्चेति सूत्रेण ण्यत्। यत्तु केचित् शोचितुमर्हाः शोच्याः न शोच्या अशोच्या इति व्याचक्षते तदसत्। अर्हे कृत्यतृचश्च इति ण्यति सति चजोः कुरिति कुत्त्वप्रसङ्गात्। आवश्यके ण्यति तु ण्य आवश्यक इति कुत्त्वनिषेधान्न तत्प्रसङ्गः।

यहां जिसके विषय में शोक करना आवश्यक है वह शोच्य है और जिसके विषय में शोक करना आवश्यक नहीं है वह अशोच्य है इस अर्थ में कृत्याश्च इस सूत्र से ण्यत् प्रत्यय होता है। जो तो कोई (शोचितुमर्हाः) शोक करने के योग्य हैं वे शोच्य है और जो इसके योग्य नही है वे अशोच्य हैं ऐसा विग्रह करते हैं वह असाधु है। क्योंकि अर्ह अर्थ में अर्हे कृत्यतृचश्च इस सूत्र से ण्यत् करने पर चजोः कुः इस सूत्र से कुत्व हो जायगा और यदि आवश्यक अर्थ में ण्यत् करते है तब ण्य आवश्यके इस सूत्र से कुत्त्व का निषेध हो जायगा। अतः उक्त विग्रह ही साधु है।

शम या शान्ति का अर्थ है अन्तकरण की सभी तरह के कर्मों के करने से निवृत्ति। यही अर्थ प्रायः सभी ने लिखा है। किन्तु तत्वप्रकाशिकाकार ने शम को बाह्येन्द्रियसंयम और दम को अन्तरिन्द्रिय संयम लिखा है। अमृत तरंगिणीकार ने केवल भगवान् में चित्त को लगाना लिखा है। राघवेन्द्र ने भगवन्निष्ठा और किसी ने भगवन्निष्ठताबुद्धि भी लिखा है।

चतुर्विध पुरुषार्थों में मोक्ष भी एक पुरुषार्थ है यानी पुरुषों के द्वारा अर्थनीय पदार्थ है इस शब्द का अर्थ है चित् और अचित् (जड) की ग्रन्थि का छूटना।

'नैनं छिन्दन्ति' इति। अस्यैव श्लोकस्य स्फुटीकरणाय अच्छेद्योऽयमित्यत्रस्य सर्वगतः इत्यस्योपरि विचारः। छाया सर्वगता इत्यत्र प्रमाणम्" या देवी सर्वभूतेषु छायारूपेण

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

संस्थिता" इति दुर्गासप्तशती। एतत्प्रतिपादनानुसारं छायाऽपि सर्वगता। अत्र कश्चिदाह सूर्ये छाया नास्ति सर्वान्तर्गतस्तु सूर्योऽपि। यतः छाया नाम अप्रकाशः। सूर्यस्तु प्रकाशस्वरूपः। तदसत्। यथा शतपावरयुतवल्वस्य समक्षम्, उपरिष्ठात्, अधस्तात् पार्श्वतो वा चेत्सहस्रपावरयुतवल्वस्य योजनं क्रियते तर्हि अधिकः प्रकाशो जायते। अस्य मतलवः शतपावरयुतवल्वसमये अप्रकाशः प्रकाशस्य न्यूनता आसीत् या सहस्रपावरयुतवल्वस्य प्रकाशेन अपहस्तिता। अतः भगवान् कोटिसूर्यसमप्रभ उच्यते नकिः सहस्रसूर्यसमप्रभ यतो हि कोटि सूर्य समप्रभसमक्षम् सहस्र सूर्यस्य प्रकाशो मन्दो भवति। स्पष्टम्।

"या देवी सर्वभूतेषु छायारूपेण संस्थिता" इस दुर्गा सप्तशती के अनुसार छाया भी सर्वगत है। इस पर जो कोई कहता है कि सूर्य में छाया नहीं है किन्तु सर्वान्तर्गत तो सूर्य भी है। क्यों कि छाया अप्रकाशस्वरूप है और सूर्य प्रकाश स्वरूप है। यह कहना ठीक नहीं है। क्यों कि जैसे १०० पावर के वल्व के सामने ऊपर नीचे अगल बगल कहीं पर १००० पावर के वल्व को लगा देते हैं तो प्रकाश अधिक हो जाता है। इसका मतलब है कि सो पावर वाले वल्व के समय में हजार पावर वाले बल्व की अपेक्षा प्रकाश कम था यानी अप्रकाश था जो हजार पावर के के वल्व के लगा देने से हट गया। इसी लिए भगवान् को सहस्र सूर्यसमप्रभः नहीं कहकर कोटि सूर्यसमप्रभः कहते हैं। क्योंकि कोटि सूर्य के सामने हजार सूर्योंका प्रकाश मन्द रहता है। अतः किसीका सूर्य में छाया नहीं है कहना असत् है। और भी है। महतां खलु विप्रर्षे! उत्तमश्लोकपादयोः। छाया निर्वृतचित्तानां न कुटुम्बे स्पृहामतिः भा० ५ स्क० १ अ० ३ श्लोक में लिखा है कि जिसका चित्त उत्तम श्लोक भगवान् के पैरों की छाया में लग गया है उनकी कुटुम्ब में स्पृहामयी मति नहीं होती है। यहां भी भगवान् के पैरों में छाया है तथा छाया सूर्य की भार्या है जिसका पुत्र सावर्णि मनु है। सब पितर छाया से पैदा हुए हैं भा० ८ स्क० ५ अ० ४० श्लोक। छायातपौ छाया अविद्या आतप विद्या। स्पष्टं स्पष्टम्। यावद् बुद्धिबलोदय से। इस प्रकार समीक्षा समाप्त हुई।

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

अथ द्वितीयषट्कस्य अकारादिवर्णानां क्रमेण प्रत्यायक्रम्

प्रतीक	अ०	श्लोक	प्रतीक	अ०	श्लो०
अक्षरं ब्रह्म परमं	८	३	अभ्यासेप्यसमर्थोऽसि	१२	१०
अक्षराणामकारोऽस्मि	१०	३३	अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य	११	२६
अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः	८	२४	अमी हि त्वां सुरसंघा	११	२१
अन्तकाले च मामेव	८	५	अवजानन्ति मां मूढा	९	११
अन्तवत्तु फलं तेषां	७	२३	अव्यक्ताद् व्यक्तयः	८	१८
अथ चित्तं समाधातुं	१२	९	अव्यक्तोऽक्षर इति	८	२१
अथवा बहुनैतेन	१०	४२	अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं	७	२४
अथैतदप्यशक्तोऽसि	१२	११	अश्रद्दधानाः पुरुषा	९	३
अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि	११	४५	अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां	१०	२६
			अहं क्रतुरहं यज्ञः	९	१६
अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्	१२	१३	अहमात्मा गुडाकेश	१०	२०
अनन्तश्चास्मि नागानाम्	१०	२९	अहं सर्वस्य प्रभवः	१०	८
अनन्यचेताः सततम्	८	१४	अहं हि सर्वयज्ञानाम्	९	२४
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां	९	२२	अहिंसा समता तुष्टिः	१०	५
अनपेक्षः शुचिर्दक्षः	१२	१६	आ		
अनादिमध्यान्तमनन्त	११	१९	आख्याहि मे को भवान्	११	३१
अनेकबाहूदरवक्त्र	११	१६	आदित्यानामहं विष्णुः	१०	२१
अनेक वक्त्रनयनं	११	१०	आब्रह्मभुवनाल्लोका	८	१६
अपि चेत्सुदुराचारो	९	३०	आयुधानामहं	१०	२८
अभ्यासयोगयुक्तेन	८	८	आहुस्त्वामृषयः	१०	१३
इ					
इच्छाद्वेष समुत्थेन	७	२७	इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथा	११	५०
इहैकस्थं जगत्	११	७			

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

उ

उच्चैःश्रवसमश्वानां	१०	२७	उदाराः सर्व एवैते	७	१८

ए

एतच्छ्रुत्वा वचनं	११	३५	एतद्योनीनि भूतानि	७	६
एतां विभूतिं योगञ्च	१०	७	एवमुक्त्वा ततो राजन्	११	९
एवमेतद्यथा त्वं	११	३	एवं सततयुक्ता ये	१२	१

ओ

ओमित्येकाक्षरं	८	१३

क

कथं विद्यामहं	१०	१०	कविंपुराणमनु	८	९
कस्माच्च ते न नमेरन्	११	३७	कालोऽस्मि लोक	११	३२
किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं	८	१	किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः	९	३३
किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च	११	४६	क्लेशोऽधिकतरस्तेषां	१२	५
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा	९	३१			

ग / च

गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी	९	१८	चतुर्विधा भजन्ते मां	७	१६

ज

जरामरणमोक्षाय	७	२९	ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये	९	१५
ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानं	७	२			

त

तस्मात्त्वामुत्तिष्ठ	११	३३	तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी	१२	१९
ते तं भुक्त्वा मर्त्यलोकं	९	२१	तेषामहं समुद्धर्त्ता	१२	७
तेषामेवानुकम्पार्थं	१०	११	तेषां सततयुक्तानां	१०	१०
तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त	७	१७	त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः	७	१३
त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं	११	१८	त्वमादिदेवः पुरुषः	११	३८
ततः स विस्मयाविष्टः	११	१४	तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं	११	१३
तस्मात्प्रणम्य	११	४४			

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द

दण्डो दमयतामस्मि १० ३८ | दंष्ट्रा करालांनि च ११ २५
दिवि सूर्यसहस्रस्य ११ १२ | दिव्याम्बरधरं ११ ११
दृष्ट्वेवेदं मानुषं रूपम् ११ ५१ | दैवी ह्येषा गुणमयी ७ १४
द्यावापृथिव्योरिदम् ११ २० | द्यूतं छलयतामस्मि १० ३६
द्रोणश्च भीष्मश्च ११ ३४

ध

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः ८ २५

न

न वेद यज्ञाध्ययनैः ११ ४८
न च मत्स्थानि भूतानि ९ ५ | नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां १० ४०
न च मां तानि कर्माणि ९ ९ | नाहं वेदैर्न तपसा ११ ५३
न तु मां शक्यसे द्रष्टुं ११ ८ | नाहं प्रकाशः सर्वस्य ७ २५
नभस्पृशं दीप्त मनेक ११ २४ | न मां दुष्कृतिनो मूढाः ७ १५
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतः ११ ४० | न मे विदुः सुरगणा १० २

प

पत्रं पुष्पं फलं तोयं ९ २६ | परस्तस्यानुभावो ८ २०
परं ब्रह्म परं धाम १० १२ | पवनः पवतामस्मि १० ३१
पश्य मे पार्थ ! रूपाणि ११ ५ | पश्यादित्यान् वसून् ११ ६
पश्यामि देवांस्तव देव ११ १५ | पिताऽसि लोकस्य ११ ४३
पितामहमस्य जगतो ९ १७ | पुण्यो गन्धः पृथिव्यां ७ ९
पुरुषः स परः पार्थः ८ २२ | पुरोधसांच मुख्य मां १० २४
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य ९ ८ | प्रयाणकाले मनसा ८ १०
प्रह्लादश्चास्मि १० ३०

ब

बहूनांजन्मनामन्तो ७ १९ | बलंबलवतामस्मि ७ ११
बीजं मां सर्वभूतानां ७ १० | बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः १० ४
बृहत्साम तथा साम्नां १० ३५

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

भ

भवाप्ययौ हि भूतानां	११	२	भक्त्या त्वनन्यया	११	५४
भूमिरापोऽनलो	७	४	भूतग्रामः स एव	८	१९
भूय एव महाबाहो	१०	१			

म

मत्कर्मकृन्मत्परमो	११	५५	मच्चित्ताः मद्गतप्राणा	१०	९
मत्तः परतरं नान्यत्	७	७	मदनुग्रहाय	११	१
मनुष्याणां सहस्रेषु	७	३	मन्मना भव मद्भक्तो	९	३४
मन्यसे यदि तच्छक्यं	११	४	मया ततमिदं सर्वं	९	४
मयाध्यक्षेण प्रकृतिः	९	१०	मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं	११	४७
मय्यावेश्य मनो ये	१२	२	मय्यासक्तमना	७	१
मय्येव मन आधत्स्व	१२	८	महर्षयः सप्त पूर्वे	१०	६
महर्षीणां भृगुरहं	१०	२५	महात्मानस्तु मां	९	१३
मा ते व्यथा मा च	११	४९	मामुपेत्य पुनर्जन्म	८	१५
मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य	९	३२	मृत्युः सर्वहरः	१०	३४
मोघाशा मोघकर्माणः	९	१२			

य

यच्चापि सर्वभूतानां	१०	३९	यस्मान्नोद्विजते लोको	१२	१५
यच्चावहासार्थम्	११	४२	ये चैव सात्त्विका भावाः	७	१२
यथा नदीनां बहवोः	११	२८	ये तु सर्वाणि कर्माणि	१२	६
यदक्षरं वेदविदो	८	११	ये त्वक्षरमनिर्देश्यं	१२	३
यद्यद्विभूतिमत्	१०	४१	यो न हृष्यति न द्वेष्टि	१२	१७
यं यं वापि स्मरन्	८	६	यो मामजमनादिञ्च	१०	३
यथा प्रदीप्तं ज्वलनं	११	२९	ये तु धर्म्यामृतामिदं	१२	२०

र

राजविद्या राजगुह्यं	९	२	रुद्राणां शङ्करश्चास्मि	१०	२३
रुद्रादित्या वसवो ये च	११	२२	रूपं महत्ते बहुवक्त्रं	११	२३

ल

लेलिह्यसे ग्रसमानः	११	३०

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व

वक्तुमर्हस्यशेषेण	१०	२६	वक्त्राणि ते त्वरमाणा	११	२७
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः	११	३९	विस्तरेणात्मनो योगं	१०	२८
वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि	१०	३७	वेदानां सामवेदोऽस्मि	१०	२२
वेदाहं समतीतानि	७	२६	वेदेषु यज्ञेषु तपःसु	८	२८

श

शुक्लकृष्णे गती ह्येते	८	२६	शुभाशुभफलैरेवं	९	२८
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्	१२	१२			

स

सखेति मत्वा प्रसभं	११	४१	सततं कीर्तयन्तो मां	९	१४
स तया श्रद्धया युक्तो	७	२२	समोऽहं सर्वभूतेषु	९	२९
समः शत्रौ च मित्रे च	१२	१८	सर्गाणामादिरन्तश्च	१०	३२
सर्वद्वाराणि संयम्य	८	१२	सुदुर्दर्शमिदं रूपं	११	५०
संतुष्टः सततं योगी	१२	१४	सन्नियम्येन्द्रियग्रामं	१२	४
स्थाने हृषीकेश तव	११	३६	स्वयमेवात्मनात्मानं	१०	१५

ह

हन्त ते कथयिष्यामि	१०	१९

इति द्वितीय षट्कस्य अकारादिवर्णानां क्रमेण प्रत्यायनम् ।

अथ तृतीयषट्कस्य अकारादिवर्णानां तत्क्रमस्य च प्रत्यायनम्

अ

प्रतीक	अ.	श्लो	प्रतीक	अ.	श्लो.
अदेशकाले यद्दानं	१७	२२	अधर्मं धर्ममिति या	१८	३२
अधश्चोर्ध्वं प्रसृता	१५	२	अधिष्ठानं तथा कर्ता	१८	१४
अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च	१४	१३	अध्येष्यते य इमं	१८	७०
अफलाकांक्षिभिः	१७	११	अनादित्वान्निर्गुणत्वात्	१३	३१
अभयं सत्त्व संशुद्धिः	१६	१	अनिष्टमिष्टं मिश्रं च	१८	१२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतीक	अ०	श्लो०	प्रतीक	अ०	श्लो०
अनुद्वेगकरं वाक्यं	१७	१४	अनुबन्धं क्षयं हिंसां	१८	२४
अनेकचित्तविभ्रान्ताः	१६	१६	अन्ये त्वेवमजानन्तः	१३	२४
अभिसन्धाय तु फलं	१३	७	अमानित्वमदम्भित्वं	१३	७
अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः	१८	१८	अविभक्तं विभक्तेषु	१३	१६
अशास्त्रविहितं घोरं	१७	५	अश्रद्धया हुतं दत्तं	१७	२८
असक्तबुद्धिः सर्वत्र	१८	४९	असक्तिरनभिष्वङ्गः	१३	९
असत्यमप्रतिष्ठं ते	१६	८	असौ मया हतः शत्रुः	१६	१४
अहंकारं बलं दर्पं	१६	१८	अहंकारं बलं दर्पं	१८	४३
अहं वैश्वानरो	१५	१४	अहिंसा सत्यमक्रोधः	१६	२
		आ			
आढ्योऽभिजनवान्	१६	१५	आत्मसंभाविताः	१६	१७
आयुः सत्त्वबलारोग्य	१७	८	आशापाशशतैर्बद्धाः	१६	१२
आसुरीं योनिमापन्ना	१६	२०	आहारस्त्वपि सर्वस्य	१७	७
		इ			
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं	१३	६	इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं	१३	१८
इति गुह्यतमं शास्त्रं	१५	२०	इति ते ज्ञानमाख्यातं	१८	६३
इत्यहं वासुदेवस्य	१८	७४	इदमद्य मया लब्धं	१६	१३
इदं ज्ञानमुपाश्रित्य	१४	२	इदं ते नातपस्काय	१८	६७
इदं शरीरं कौन्तेय	१३	१	इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं	१३	८
		ई			
ईश्वरः सर्वभूतानां	१८	६१			
		उ			
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः	१५	१७	उत्क्रान्तं स्थितं	१५	१०
उपद्रष्टानुमन्तय	१३	२२	उदासीवदासीनः	१४	२३
		ऊ			
ऊर्ध्वं गच्छन्ति	१४	१८	ऊर्ध्वमूलमधः	१५	१
ऋ			ए		
ऋषिभिर्बहुधा	१३	४	एतान्यपि तु कर्माणि	१८	६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

प्रतीक	अ.	श्लो.	प्रतीक	अ०	श्लो०
एतां दृष्टिमवष्टभ्य	१६	९	एतैर्विमुक्तः कौन्तेय	१६	२२
	ओ				
ओं तत्सदिति निर्देशो	१७	२३			
	क		कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ	१८	७२
कट्वम्ललवणात्युष्ण	१७	९	कर्मणः सुकृतस्याहुः	१४	१६
कर्षयन्तः शरीरस्थं	१७	६	काममाश्रित्य दुष्पूरं	१६	१०
काम्यानां कर्मणां न्यासं	१८	२	कार्यकारण कर्तृत्वे	१३	२०
कार्यमित्येव यत्कर्म	१८	९	कृषिगोरक्ष्य	१८	४४
कैर्लिङ्गैस्त्रीन्	१४	२१	क्षेत्र क्षेत्रज्ञयोरेवं	१३	३४
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि	१३	२			
	ग		गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी	९	१८
गामाविश्य च भूतानि	१५	१३	गुणानेतानतीत्य त्रीन्	१४	२०
	च				
चिन्तामपरिमेयां च	१६	११	चेतसा सर्व कर्माणि	१८	५७
	ज				
ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च	१८	१९	ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता	१८	१८
ज्ञान ज्ञेयं ज्ञानगम्यं	१३	१७	ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि	१३	१२
	त				
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं	१५	४	तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य	१८	७७
तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्	१४	६	तत्रैवं सति कर्त्तारं	१८	१६
तत्क्षेत्रं यच्च यादृक् च	१३	३	तदित्यनभिसंधाय	१७	२५
तमस्त्व ज्ञानजं विद्धि	१४	८	तमेव शरणं गच्छ	१८	६२
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं	१६	२४	तस्मादोमित्युदाहृत्य	१७	२४
तानहं द्विषतः क्रूरान्	१६	१९	तेजः क्षमा धृतिः	१६	३
त्याज्यं दोषवत्	१८	३	त्रिविधा भवति	१७	२
त्रिविधं नरकस्य	१६	२३			

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

द			दम्भो दर्पोऽभिमानश्च	१६	४
दातव्यमिति यद्दानं	१७	२०	दुःखमित्येव यत्कर्म	१८	८
देवद्विज गुरुप्राज्ञ	१७	०४	दैवी सम्पद्विमोक्षाय	१६	५
द्वाविमौ पुरुषौ लोके	१५	१६	द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्	१६	६
ध					
धृत्या यया धारयते	१८	३३	ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति	१३	२४
न					
न च तस्मान्मनुष्येषु	१८	६९	न तदस्ति पृथिव्यां	१८	४०
न तद्भासयते सूर्यो	१५	६	न द्वेष्टयकुशलं	१८	११
न रूपमस्येह तथा	१५	३	नष्टो मोहः स्मृतिः	१८	७३
न हि देहभृता	१८	११	नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं	१४	१९
नियतस्य तु संन्यासः	१८	७	नियतं सङ्गरहितम्	१८	२३
निर्मानमोहा जितसङ्ग	१५	५	निश्चयं शृणु मे तत्र	१८	४
प					
पञ्चैतानि महाबाहो	१८	१३	परं भूयः प्रवक्ष्यामि	१४	१
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि	१३	२०	पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं	१८	२१
प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च	१४	२२	प्रकृतिं पुरुषञ्चैव	१३	१९
प्रकृत्यैव च कर्माणि	१३	२९	प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च	१६	७
प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च	१८	३०			
ब					
बहिरन्तश्च भूतानां	१३	१५	बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव	१८	२९
बुद्धया विशुद्धया युक्तः	१८	५१	ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं	१४	२७
ब्रह्मभूतःप्रसन्नाऽत्मा	१८	१४	ब्राह्मणक्षत्रिय विशां	१२	४१
भ					
भक्त्या मामभि	१८	५५			
म					
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि	१८	५८	मनः प्रसादः सौम्यत्वं	१७	१६

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

मन्मना भव मद्भक्तः	१८	६५	मम योनिर्महद्ब्रह्म	१४	३
ममैवांशो जीवलोके	१५	७	मयि चानन्य योगेन	१३	११
महाभूतान्यहंकारो	१३	५	मां च योऽव्यभिचारेण	१४	२६
मानापमानयोस्तुल्यः	१४	२५	मुक्तसङ्गोऽनहं	१८	२६
मूढग्राहेणात्मनो	१७	१९			

य

य इदं परमं	१८	६८	य एवं वेत्ति	१३	२३
यजन्ते सात्विका	१७	४	यज्ञदानतपः	१८	५
यज्ञे तपसि	१७	१७	यतः प्रवृत्ति	१८	४६
यतन्तोयोगिन	१५	११	यत्तदग्रे विष	१८	३७
यस्तु कामेप्सुना	१८	२४	यतु कृत्स्नवत्	१८	२२
यत्तु प्रत्युपकारार्थं	१७	२१	यत्र योगेश्वरः	१८	७८
यथा प्रकाशयति	१३	३३	यथा सर्वगतं	१३	३२
यदग्रे चानुबन्धे च	१८	३९	यदहंकारमाश्रित्य	१८	५९
यदादित्यगतं	१५	१२	यदा भूतपृथग्भावं	१३	३०
यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु	१४	१४	यया तु धर्मकामार्थान्	१८	३४
यया धर्ममधर्मञ्च	१८	३१	यया स्वप्न भयं शोकं	१८	३५
यस्मात्क्षरमतीतोऽहं	१५	१८	यस्य नाहंकृतो भाव	१८	१७
यातयामं गतरसं	१७	१०	यावत्संजायते किंचित्	१३	२६
ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य	१७	१	यो मामेवमसंमूढो	१५	१९
यः शास्त्रविधि	१६	२३			

र

रजस्तमश्चा	१४	१०	रजसि प्रलयं गत्वा	१४	१५
रजो रागात्मकं	१४	७	रागी कर्मफल	१८	२७
राजन् संस्मृत्य	१८	७६			

ल

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः	१४	१२

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

व

विधिहीनमसृष्टान्नं १७ १३

विषयेन्द्रियसंयोगात् १८ ३८

विविक्तसेवी लघ्वाशी १८ १५

व्यास प्रसादाच्छ्रुतवान् १८ ७५

श

शमो दमस्तपः शौचं १८ ४१

शरीरवाङ् मनोभि १८ १५

श्रद्धया परया तप्तं १७ १७

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः १८ ४७

शरीरं यदवाप्नोति १५ ८

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं १८ ४३

श्रद्धावाननसूयश्च १८ ७०

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च १५ ४

स

सत्कारमान पूजार्थं १७ १८

सत्त्वं सुखे संजयति १४ ९

सद्भावे साधुभावे च १७ २६

समं पश्यन् हि १३ २८

सर्वकर्माण्यपि १८ ५६

सर्वतः पाणिपादं १३ १३

सर्वधर्मान् परित्यज्य १८ ६६

सर्वयोनिषु कौन्तेय १४ ४

सर्वेन्द्रियगुणाभासं १३ १४

सिद्धि प्राप्तो यथा १८ ५०

संन्यास्सस्य महाबाहो १८ १

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः १८ ४५

सत्वात्संजायते १४ १७

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य १७ ३

समदुःख सुख १४ २४

समः सर्वेषु १३ २७

स वंगुह्यतमं भूयः १८ ६४

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् १४ ११

सर्वभूतेषु येनैकं १८ २०

सर्वस्य चाहं हृदि १५ १५

सहजं कर्म कौन्तेय १८ ४८

सुखं त्विदानी त्रिविधं १८ ३६

स्वभावजेन कौन्तेय १८ ६०

इत्यष्टादशोऽध्यायः समाप्तः

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0 In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi

CC0.In Public Domain. Digitized by Sarayu Trust/eGangotri

३४२८

Ganesh Varni Digambar Jain Institute, Naria, Varanasi